श्री बोधानन्द कृत
संस्कृत - व्याख्या सहित

कबीर-वाणी

(साखी एवं लघु कृति संग्रह)



कबीर-वाणी

साखी तथा वसन्त, चाचरी, हिण्डोला, वल्लो, विरहुली-रूप-
लघुकृतियों का सङ्ग्रह

स्वामि-श्रीबोधानन्द-विरचित "विज्ञान-बीज-प्रकाशिका"
संस्कृत व्याख्या, हिन्दी भावार्थ एवं मूल पदों के
संस्कृत-रूपान्तर से समन्वित

★

समुद्धारक एवं हिन्दी व्याख्याकार
विद्यावाचस्पति डा० हरिहरत्रिवेदी, डी० लिट्०

प्रधान-सम्पादक
डा० मण्डनमिश्र, प्राचार्य

★

सम्पादक
डॉ० रुद्रदेवत्रिपाठी, आचार्य
'शास्त्र-चूडामणि'-प्राध्यापक

□

प्रकाशन-स्थलम्—
श्रीलालबहादुरशास्त्री-केन्द्रीय-संस्कृत-विद्यापीठम्
नई दिल्ली-११००१६

प्रकाशक —
डा० मण्डनमिश्र, प्राचार्य
श्रीलालबहादुरशास्त्री-केन्द्रीय-संस्कृत-विद्यापीठ
शहीदजीतसिंहमार्ग, कटवारिया सराय, नई दिल्ली-११००१६

प्रकाशन-वर्ष १९८६ ई०

प्रथम संस्करण

६०० पुस्तकें

मूल्य

'अनुसन्धान-प्रकाशन-विभाग के तत्त्वावधान में प्रकाशित।

मुद्रक—पङ्कज प्रिण्टर्स, मौजपुर, दिल्ली-११००५३

विषयानुक्रमणिका

साखी-संग्रह

'कबीर-वाणी' पर स्वामी श्री बोधानन्द-विरचित 'ज्ञानबीज-प्रकाशिका' व्याख्या की पाण्डुलिपि का प्रथम-पत्र

श्री गणेशाय नमः श्री गुरुपरमात्मनेनमः कबीरःकेवलं ब्रह्म शुद्धो बुद्धः सनातनः नित्यमुक्तश्चिद्वान प्रकाशिका
दश्चिद्रूपमजमव्ययं १ कुशाधारः समाख्यात ईशाशब्दः परस्मृतः यस्योभयं रूपमिदं कबीरा
यनमोनमः २ यस्य प्रसादलेशेन बहवो योगिनः परं स्वरूपमगमंस्तस्मै कबीरायनमोनमः ३ श्री कबीर
कृपादृष्टिप्रसादाच्चनदाज्ञया विज्ञानबिजविस्तारो बोधानंदेन वर्ण्यते ४ अथसकलमुमुक्षूणांसमु
द्धारेच्छया श्री कबीराख्यः सद्गुरुः सकलोपनिषत्सारभूतं विज्ञानबीजाख्यं ग्रंथं चिकीर्षुर्लोकशिक्षायै

श्री गुरुवंदे श्री कबीर गोसांईकेदया साधुगुरुकेदया श्रीरामायनमः

प्रथमं वस्तुस्मरणात्मकं मंगलमाचरति श्री कबीरेति नत्र कुशब्द आधारवाची ईशशब्दो वाणीवाचक
कुश्च ईशरूपश्च कबीरः यद्वा कुशब्दे कोरीदृ सर्वाधारं परशब्दरूपं यद्वस्तु तदेव कबीर इत्यर्थः श्रीश
ब्दः षड्गुणैश्वर्यवाचकः श्रीयुक्तः कबीरः सएव परमात्मा बहिरंतर्व्यापिब्रह्मेतिभावः गोसांई गोशब्दे श्रीराम
न पिंडब्रह्मांडयोर्ग्रहणं तयोः प्रवर्तकः सद्रूपः श्रुतिप्रतिपादकः यद्वा हृदि तत्पक्षे गवां इंद्रियाणां स्वा १
मीनियंता प्रकाशक इत्यर्थः तस्मात्कबीरः ब्रह्मजीवेश्वरावपि कबीरौ सर्वे धीराः सर्वाणिनामा

समर्पणम्

जातो रामपुराभिधे पुरवरे श्रीमालवान्तर्गते,
ख्याते वेदविदां कुले सुचरितः श्रीविट्ठलोऽभूद् द्विजः ।
ज्ञानार्कांशुचयेन शिष्यकमलव्रातं विकासं नयन्,
यो ब्रह्मत्वमगात तुरीयवयसि द्वैमातुरं संस्मरन् ॥१॥

●

साध्वाचारपरायणः कुशलधीर्वेदेऽथ पातञ्जले,
साहित्ये च पटुर्गणितविज्ज्योतिर्विदां सम्मतः ।
यावत्कर्मचयं प्रवाहपतितं कुर्वन् विवेकोज्ज्वलो,
जीवन्मुक्तसमो भवाब्धिमतरत् मोहभ्रमैः सङ्कुलम् ॥२॥

●

नारायणस्यात्मजोऽयं पिता मे विट्ठलाभिधः ।
त्रिवेदिवंशसम्भूतो ब्रह्मविद्यात्मतत्त्वविद् ॥३॥

●

अत्रेरिवानुसूया सीता रामस्योर्मिला च सौमित्रेः ।
शुचितमचरिता भार्या तस्यासीत् प्रियतमाथ सावित्री ॥४॥

●

तस्याश्च गर्भजातेन पितुः श्रीविट्ठलाभिधात् ।
मातापित्रोश्चरणयोः कृतिरेषा मयाऽर्प्यते ॥५॥

●

तेन रामस्वरूपं तन्निर्गुणं ब्रह्म चिन्मयम् ।
प्रीयतामस्य जगतो विदधातु च मङ्गलम् ॥६॥

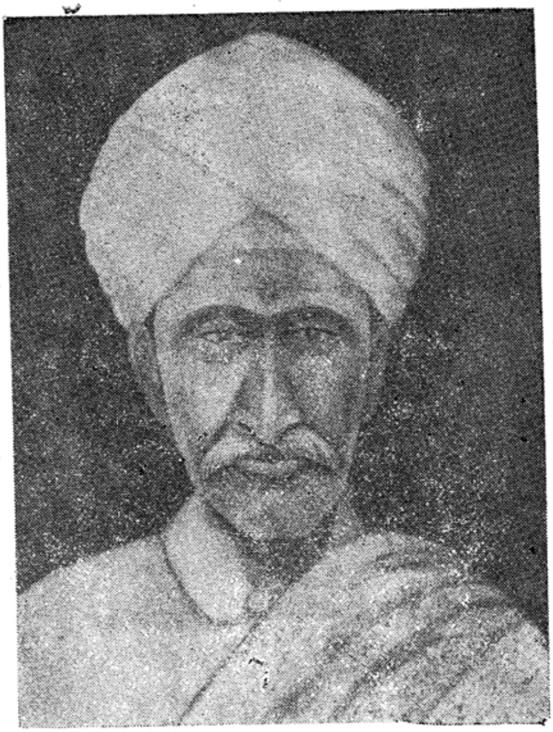
★

शंकर बाग,
…र—६ (म० प्र०)

हरिहर त्रिवेदी

ग्रन्थकर्तुः पितृश्रीः

स्व० पं० विट्ठल नारायण त्रिवेदी



जन्म : सन् १८७४ ई०

निर्वाण : सन् १९४६ ई०

श्री:

हार्दिक बधाई

डा० रामकुमार वर्मा (पद्म भूषण)

दूरभाष : ५२८१६
साकेत—४ प्रयाग स्ट्रीट
इलाहाबाद—२
दिनांक ८-५-१९८५

प्यारे भाई त्रिवेदी जी

सप्रेम आलिंगन,

एक "**शताब्दी**" के बाद आपका पत्र "**कबीर वाणी**" की प्रति के साथ प्राप्त हुआ। ऐसा लगा जैसे मेरे साहित्य के उपवन में एक नया पुष्प प्रस्फुटित हो गया। मैं कबीर साहित्य का विद्यार्थी हूं और आपके मुख से, बोधन (स्वामी बोधानन्द) के द्वारा कही हुई वाणी सुनकर शरीर रोमांचित हो गया।

बोधन को भले ही सिकन्दर लोदी ने फाँसी पर चढ़ा दिया था, किन्तु आपने उसे फाँसी के तख्ते से उतारकर साहित्य के क्षेत्र में पुनः जीवित कर दिया। आप अपने को नवीन प्रजापति मान सकते हैं।

बहुत दिनों तक चलने वाली आपकी यह साधना सफल हुई, इसके लिए आपको हार्दिक बधाई। आप इसी प्रकार से नये क्षेत्रों का अन्वेषण करते हुए साहित्य की अभिवृद्धि में योगदान देते रहें, यही आपसे सविनय प्रार्थना करता हूं।

पता
डा० हरिहर त्रिवेदी विद्या वाचस्पति
३३ शंकर बाग, इन्दौर, मध्यप्रदेश

आपका अभिन्न भाई
ह०
(डा० राम कुमार वर्मा)

प्रधान-सम्पादकीय

भारत के महान् सन्तों की परम्परा में मध्यमणि के समान अत्यन्त प्रभावशाली महात्मा कबीर की वाणी सुदीर्घकाल से भारतीय जनमानस को सन्मार्ग की ओर अग्रसर करने में सदा सक्षम रही है। जन-साधारण उनकी वाणी को लौकिक भाषा में कहीं गई होने के कारण उसके तात्त्विक एवं तार्किक विचारों को सामान्यरूप से ग्रहण करता रहा है किन्तु उस वाणीमें महात्मा कबीर ने ससस्त दर्शनों का सार किस प्रकार समाविष्ट किया है, इसे कतिपय विशिष्ट विद्वान् ही कुछ अंशों में जान पाये हैं।

यह एक तथ्य है कि किसी महान् सन्त की उपदेशधारा से ओतप्रोत वाणी को जब तक गहराई से समझने का प्रयास नहीं किया जाता, उसके वास्तविक रहस्य को समझ पाना नितान्त कठिन ही होता है। समुद्र से मोती प्राप्त करने के लिये जिस प्रकार गहरे पानी में पैठना अत्यावश्यक है, उसी प्रकार सन्तों की वाणी को भी निरन्तर चिन्तन और मनन द्वारा ही समझा जा सकता है।

महात्मा कबीरदासजी ने अपनी विलक्षण साधना द्वारा भगवत्तत्त्व को जानकर तथा उस काल की स्थिति को पहचानकर ही जनभाषा में अपने उदार विचारों को व्यक्त किया, विभिन्न धर्मों की वास्तविकता से दूर थोथे आग्रह को दूर हटाने के लिये तीखे व्यंग्य किये, अच्छाइयों की आड़ में चले—चलाये जा रहे पाखण्ड का खण्डन किया तथा सर्वधर्मसमन्वय का मार्ग प्रशस्त किया। उनकी वाणी में लोक-परलोक को सफल बनाने के लिये जैसा उत्तम, भाववाही, हृदयग्राही एवं मधु मिश्रित कटुकौषधि द्वारा दुःसाध्य रोग-निवारणोचित उपदेशों का प्रवाह है, वैसा अन्यत्र देखने को नहीं मिलता।

महात्मा कबीर की वाणी को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से भिन्न-भिन्न मतावलम्बियों, ने, दार्शनिकों ने, सम्प्रदायवादियों ने तथा तत्तच्छास्त्र के पारंगत विद्वानों ने पर्याप्त देखा और परखा है, किन्तु यह एक अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि उनकी वाणी की व्याख्या के लिये **स्वामी बोधानन्द** ने संस्कृत भाषा को माध्यम बनाया, इतना ही नहीं समग्र व्याख्या में वेद, पुराण, स्मृति, धर्मशास्त्र एवं दर्शनशास्त्रों के प्रमाणों द्वारा कबीर-वाणी के रहस्य को भी स्पष्ट किया। बिना किसी पूर्वाग्रह के स्पष्ट शब्दों में की गई **'विज्ञान-बीज-प्रकाशिका-व्याख्या'** कितनी और कैसी महत्त्वपूर्ण है, यह तो व्याख्या के अनुशीलन से ही ज्ञात हो सकेगा, किन्तु इतना अवश्य है कि यह व्याख्या इससे पूर्व और उत्तरकाल के व्याख्या, टीका आदि प्रयासों की शृङ्खला में सर्वोपरि है।

विगत वर्ष में **'शोध-प्रभा'** का एक विशेषाङ्क **'षष्ठ-विश्व-संस्कृत-सम्मेलन'** के निमित्त प्रकाशित किया गया था, उसमें **'कबीर वाणी'** के नाम से एक लघु-ग्रन्थ स्वामी बोधानन्दकृत टीका सहित प्रकाशित किया गया था। उसी प्रसंग से **'साहित्य वाचस्पति**, डॉ० हरिहर त्रिवेदीजी ने बतलाया था कि **"कबीर-वाणी"** पर ऐसी अद्भुत व्याख्या अब तक अन्य किसी ने

नहीं लिखी है और यह व्याख्या भी अब तक कहीं से प्रकाशित नहीं हुई है।"

यह भी एक मणि-काञ्चन-संयोग ही कहिये कि ऐसी दुर्लभ किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्याख्या को पाण्डुलिपि के रूप में प्राप्त कर आदरणीय त्रिवेदी जी ने अपनी आयु के उत्तरकाल में आर्य पुरुषार्थ करके उसका सम्पादन किया तथा गूढ रहस्यात्मक विवेचन को अत्यन्त सरल भाषा में अनूदित कर यत्र-तत्र भाष्य-पद्धति से विषय के मूल तक पाठक को पहुंचाने का प्रयत्न किया। वयोवृद्ध एवं विद्यावृद्ध, मंजे हुए साहित्यकार, बहुभाषाविद् एवं बहुशास्त्रविद् डॉ० त्रिवेदीजी के सम्पादन से बोधानन्द-कृत व्याख्यारूपी मणि के लिये काञ्चन संयोग मिला है, इस कथन में मैं कोई अतिशयोक्ति नहीं मानता।

'कबीर-वाणी' का पूर्व-भाग जब प्रकाशित होकर पाठकों तक पहुंचा तो सभी को आश्चर्य मिश्रित एक अपूर्व आनन्द हुआ। विशेषतः हिन्दी-जगत् में तो जहां कबीर के पदों का अध्ययन-अध्यापन चिरकाल से चला आ रहा है, और आलोचना के नाम पर पर्याप्त अटकलें लगाकर रहस्यवाद का स्तम्भ खड़ा कर दिया गया है,—एक नवीन दृष्टि का सञ्चार भी हुआ। 'अनेक विद्वानों ने डॉ० त्रिवेदी के प्रयास और विद्यापीठ के द्वारा किये गये प्रकाशन की हृदय से सराहना की। अनेकशः यह भी अनुभव किया गया कि कबीर-वाणी के अवशिष्ट पदों और उन पर रचित अवशिष्ट टीका का भी शीघ्र प्रकाशन हो।

पाठकों की अभिरुचि का सम्मान करते हुए विद्यापीठ की शोध-पत्रिका **'शोध-प्रभा'** के माध्यम से ही 'कबीर-वाणी' का यह शेष अंश यहां प्रकाशित किया गया है। इसमें डॉ० त्रिवेदीजी ने एक और महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, वह है **साखी-भाग का 'कबीर-त्रिशती' के नाम से संस्कृत-भाषात्मक रूपान्तर तथा अन्य लघु कृतियों में समाविष्ट सूक्तियों का संस्कृतरूपान्तर।** यह रूपान्तर भी इतना प्रासादिक है कि एक **'स्वतन्त्र काव्य'** की ही कोटि में गणनीय है।

यह प्रसन्नता का विषय है कि डॉ० हरिहर त्रिवेदीजी ने अपनी ८४-८५ वर्ष की अवस्था में भी दिनरात परिश्रम करके साहित्य-जगत् को एक अपूर्व साहित्यिक उपहार भेंट किया तथा समग्र उत्साह के साथ महात्मा कबीर की अमृतमयी वाणी के आस्वाद का वास्तविक आनन्द प्राप्त करने के पथ को प्रशस्त किया।

इस ग्रन्थ का आत्मीयता एवं तत्परता के साथ सम्पादन, संशोधन, मुद्रण एवं समुचित प्रकाशन करने के लिये **'शोध-प्रभा'** के सम्पादक डॉ० **रुद्रदेव त्रिपाठी** को भी धन्यवाद देता हूं जिन्होंने सेवानिवृत्त होकर भी इसके प्रकाशन में पूरा मनोयोग दिया।

यह सौभाग्य की बात है कि 'कबीर-वाणी' के इस भाग का प्रकाशन माननीया स्व० श्रीमती इन्दिरा गान्धी के प्रथम वार्षिक श्राद्ध पर प्रकाशित शोध-प्रभा के **'श्रीमती-इन्दिरा-गान्धी-श्रद्धाञ्जलि-विशेषाङ्क'** के साथ उनकी सर्वधर्म समभावना के अनुरूप साहित्यिक श्रद्धाञ्जलि के रूप में हुआ है और यही ग्रन्थ स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में भी प्रकाशित किया गया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित यह ग्रन्थ अवश्य ही ज्ञानवर्धक होगा।

—डा० मण्डन मिश्र
प्रधान सम्पादक

कबीर-वाणी : एक बहु आयामी चिन्तन

☐ स्वरूप, उपलब्धरूप और संभावनाएँ

प्रतिभा एवं महिमा से मण्डित् महान् सन्त कबीरदाजी की वाणी परलोक-पथिकों के लिये परम उपादेय पाथेय है। लोकभाषा में अत्यन्त मृदुल पदावली द्वारा समस्त शास्त्रों के सार को संगृहीत कर सहज भाव से समाज के समक्ष प्रस्तुत करने की अद्भुत क्षमता **'कबीर-वाणी'** की अपनी अनुपम विशेषता है। भगवत् कृपा के बिना ऐसी अपूर्व वाणी का प्रकटन कथमपि संभव नहीं कहा जा सकता। कहा तो यही जाता है कि महात्मा कबीरदास जी ने कागज और मसि को छुआ भी नहीं, और मौखिक रूप से ही अपनी वाणी को इतने अधिक विशाल रूप में कह दिया —

जेते पत्र वनसपती औ, गंगा के रैणु।
पंडित विचारा क्या कहे? कबीर कही मुख वैणु॥२५२॥

'कबीर-वाणी' की विशालता का अनुमान इससे भी किया जा सकता है कि —**'छै लाख छानवे सहस, रमैनी एक जीभ पर होम।'** (बीजक पृ० ४२)। ऐसी विशाल साहित्य-सम्पदा की वैज्ञानिक खोज का श्रीगणेश १८वीं शती से आरम्भ हुआ था। १६०३ में **'एच. एच. विल्सन'** ने वैज्ञानिक खोज को बल दिया। तब ८ ग्रन्थ मिले। **'विशप जी. एच. वेस्ट काट'** ने उस गवेषणा को गति दी और ८४ पुस्तकों की एक सूची प्रस्तुत की। भारतीय विद्वानों ने भी इस दिशा में प्रयास आरम्भ किये और श्री **रामदास गौड़** ने 'हिन्दुत्व' में ७१ पुस्तकें गिनाई तो **मिश्रवन्धुओं** ने **'हिन्दी नवरत्न,** में ७५ पुस्तकों की तालिका प्रकाशित की। श्री **हरिऔध जी** ने २१ पुस्तकों पर प्रकाश डाला तो **युगलानन्द जी** ने **'बोधसागर'** में ४० पुस्तकों की स्थिति बतलाई। डा० **रामकुमार वर्मा** ने ६१ कृतियों का ही उल्लेख किया है, जब कि **'नागरी प्रचारिणी सभा** की रिपोर्ट में १४० कृतियों की सूची दी गई है।'[1]

इस प्रकार सन्त कबीर की वाणी का संग्रह आज भी परिपूर्ण रूप से ज्ञात नहीं हो सका है, यह कहा जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। तथापि इतना तो कहा ही जा सकता है कि उन्होंने अपरिमेय साहित्य की सृष्टि की होगी और उसे उनके बिभिन्न शिष्यों ने विभिन्न रूपों में विभिन्न स्थानों पर विभिन्न समयों में सङ्कलित किया होगा। जो सौभाग्य से बचा है, वह भारतीय आध्यात्मिक वाङ्मय की अमूल्य धरोहर है।

जब लेखक में कोई लोकैषणा विद्यमान रहती है तो वह स्वयं अपनी रचना-सम्पदा को सम्हालकर रखता है, उसे सजाना है और संवारता है तथा समय-समय पर उसे प्रख्यापित कर आत्मगौरव का भी आनन्द लेता है। सन्त-परम्परा में जीवन व्यतीत करने वाले अनासक्तभाव से संसार में रहने वाले तथा कमल की भाँति जल में रहकर भी उससे दूर निर्लिप्त महात्मा कबीर ने इस तथ्य को अवश्य ही आत्मसात् कर लिया था कि — **बहुशास्त्र-कथा-कन्था-रोमन्थेन वृथैव किम्।** (अनेक शास्त्रों की ब्यर्थ चर्चाओं के आम्रेडन से क्या लाभ है?) वस्तुतः तो **'उपासितव्यं तन्नित्यं निष्कलं ब्रह्म केवलम्।** (उस नित्य-निरंजन-निराकार ब्रह्म की उपासना

---

१. इन कृतियों में कितनी कबीर की हैं और कितनी शिष्यों की? इसका ऊहापोह अनेक विद्वानों ने किया है जिसे उन्हीं के ग्रन्थों में देखना चाहिये।

करनी चाहिए)। इसका प्रमाण हमें निम्नलिखित घटना से मिलता है कि—

"एक बार **सिकन्दर शाह लोदी** ने कबीर की महिमा सुनकर उन्हें अपना व्याकरण, न्याय आदि साहित्य लिखकर विभिन्न शास्त्रों पर अपना मत भेजने के लिए कहा। उस पर उन्होंने कई गाड़ियों में कोरे कागज भरकर केवल "राम" शब्द लिखा एक पत्र रखकर लोदी के पास भिजवा दिया। जिसका तात्पर्य था राम-स्मरण ही सबसे बड़ा शास्त्र और अभिमत है।

☐ कबीर की वाणी : एक प्रकाश स्तम्भ

महात्मा कबीर की वाणी सर्वजयी चेतना को अभिव्यक्त करने वाली वाणी है, जो अनेक रूपों में प्रस्फुटित हुई है। उनके '**सबद**' ब्रह्म-विचार के आगार हैं। उनकी साधना '**सुरति-शब्द-योग**' कही जाती है। जिसकी साधना से परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार होता है। उनके बीजक 'पन्थ के वेद' हैं। दार्शनिक सिद्धान्तों का सारतत्त्व जानने के लिये '**बीजक**' गुप्त धन प्राप्त कराने की कुञ्जी के समान हैं। जिसमें '**रमैनी**' '**साखी**' आदि परमात्मस्वरूप तक पहुंचाने के लिए प्रकाश-स्तम्भ रूप हैं जिनके दिव्य प्रकाश में नीर-क्षीर विवेक की पात्रता प्राप्त करके तत्त्व की प्राप्ति की जा सकती है। **वसन्त, चाचरी, हिन्दोला बल्ली** विरहुली आदि उस महापथ के लघु विराम-प्रस्तर हैं जो आगे बढ़ने की प्रेरणा के साथ-साथ लक्ष्य तक पहुंचने का सम्बल भी प्रदान करते हैं।

कबीर की वाणी जहां दार्शनिक-सिद्धान्तों से अनुप्राणित हैं वहीं साहित्य के सुन्दर सामञ्जस्य से भी सुरभित है। इसीलिए कबीर-साहित्य पर दोनों प्रकार के कार्य भी होते रहे हैं। कुछ ने टीका, भाष्य, टिप्पणी आदि लिखकर उनके विचारों को स्पष्ट करने का प्रयास किया तो कुछ ने साहित्यिक महत्ता को रेखाङ्कित कर उसकी सौन्दर्याभिव्यक्ति को मुखरित किया। वैसे यह नितान्त स्पष्ट है कि कबीर का साहित्य 'साधक-चित्त की आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति है। अतः वह सीधा-सरल नहीं है। उसमें अनिर्वचनीय परमतत्त्व को वाणी का विषय बनाया गया है, जिसकी अभिव्यक्ति अभिधा द्वारा असम्भव है। उसमें प्रतीकों के सहारे ध्वनि और व्यञ्जना द्वारा परमानन्द का सङ्केत दिया है। इसीलिए वह अर्थवत्ता से भास्वर है तथा परम्परा एवं पृष्ठभूमि के परिज्ञान के बिना दुर्ज्ञेय है।[१]

यह सब होते हुए भी श्री कबीर की वाणी त्याग-भावना, स्पष्टवादिता, सत्यवादिता, पाखण्डरहितता, पाखण्ड-खण्डन और यथार्थतः निर्गुणी निराकार-परता की प्रबल पोषक है। विभिन्न दार्शनिक मतवादों, साधक सम्प्रदायों तथा उपासना-प्रकारों के रहते हुए भी उनमें आसक्त न होकर एकमात्र '**अद्वैतवाद**' के प्रति अगाध निष्ठा कबीर के मत का वास्तविक सार है। उनके ज्ञान की गरिमा ने समस्त वेदादि शास्त्रों और तत्कालीन प्रचलित विचारों का मन्थन करके एकमात्र '**राम**' को ही सर्वोपरि माना जो कि निर्गुण ब्रह्म ही है; यथा—

राम कै नाईं विसान वागा, ताका मरम न जानै कोई।
भूखत्रिषा गुण वाके नाहीं, घट-घट अंतरि लोई॥

---

१. डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी के विचारों का सार।

वेद बिर्वाजित भेद विर्वाजित, बिर्वाजित पाप अरु पुन्यम् ।
ग्यान बिर्वाजित ध्यान बिर्वाजित, विर्वाजित अस्थूल सून्यम् ।।
भेष बिर्वाजित भीख बिर्वाजित, बिर्वाजित ड्यंभकरूपम् ।
कहैं कबीर तिहूं लोक बिर्वाजित, ऐसा तत्त्व अनूपम् ।।

☐ कबीर-वाणी का संक्षिप्त तथा महत्त्वपूर्ण सार

वैसे विहङ्गावलोकन पद्धति से विचार करने पर श्रीकबीर की वाणी का संक्षिप्त किन्तु महत्त्वपूर्ण सार निम्नलिखित माना जा सकता है :—

१. कबीर का मूल-मन्त्र —**'आत्मज्ञान पर आधारित भक्ति है।'** जिससे यह भी व्यक्त है कि 'बिना आत्मज्ञान के परमात्मा से जीवात्मा का सम्बन्ध केवल या सामुदायिक—भक्ति, पूजा अथवा कीर्तन से सम्भव नहीं है। वे, मन्दिरों में जैसे कि आजकल कीर्तन आदि होते हैं, उन्हें निष्फल ही मानते थे।

२. शङ्कराचार्य ने **'ज्ञान'** को महत्त्व दिया और रामानुज ने **'भक्ति** को। किन्तु यामुनाचार्य ने लिखा है कि—"**भक्तिस्तु विशेष एव**'।[1] मूलतः **'प्रपत्ति'** ही है, वह किसी भी रूप में हो। स्वयं को भगवान् के प्रति समर्पित किसी भी रूप में······किया जा सकता है। श्रद्धा ही प्रमुख है। जैसा कि गीता में कहा गया है —**ये यथा मां प्रपद्यन्ते।**

३. **ज्ञान और भक्ति वस्तुतः एक ही हैं।** इस विषय का शास्त्रार्थ जो प्रारम्भ से चला आया है—**केवल 'शब्दचछल'** ही है। यही कबीर ने बतलाया है।

४. **भक्ति में जाति-पांति का भेद नहीं।** जातिभेद, जो वैदिक समय के अन्त में प्रारम्भ हुआ, उपनिषद् काल में शिथिल हो गया था। कबीर ने उषनिषदों का ही विशेषतः आश्रय लिया है। डा० हरिहर त्रिवेदीजी ने अपने विवेचन में साखी के प्रत्येक संदर्भ का प्रारम्भ किसी न किसी **आर्षोक्ति** से किया है, जो कि इस कथन का प्रमाण है। (द्रष्टव्य साखी भाग)।

५. शास्त्रार्थ तो पहले से चला आया है किन्तु कबीर के समय वह बढ़ गया था। अतः सभी शास्त्रों से अच्छी बातें लेकर उन्होंने अपनी ग्रन्थ-रचना की। उदाहरणार्थ—शङ्कराचार्य ने मायावाद कहा है। रामानुज ने उसका विरोध किया है। वह केवल **अद्वैत** और **विशिष्टा-द्वैत** है। कबीर ने भी माया को माना है।

६. जब विद्वान् परस्पर "अद्वैतम्" "द्वैतम्" आदि को लेकर केवल आपस में झगड़ रहे थे, उस परिस्थिति में कबीर ने जनसमुदाय के लिए मार्गदर्शन किया। साथ ही कबीर ने अपने विचारों को हिन्दी भाषा में व्यक्त किया जबकि द्वैताद्वैतादि-विषयक चिन्तन संस्कृत भाषा में होने के कारण संस्कृतज्ञ विद्वानों तक ही सीमित था। कबीर का कथन था कि शास्त्रार्थ छोड़ दो।

७. कबीर-मत विशेषतः **उपनिषदों** और **गीता** पर आधारित है। साथ ही सूफीमत की भी अच्छी बातों को लिया गया है। भक्ति, शुद्धाचरण और गार्हस्थ्य पर भी उन्होंने बल दिया

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद २२०।

है। इस प्रकार मुख्यतः वेदान्त सिद्धान्त और कबीर के सिद्धान्त में समन्वय बना हुआ है। वेदान्त के अनुसार ही कबीर ने भी १. मायास्वरूप और उसके कार्य का स्वरूप, २. जीव-स्वरूप-विमर्श, ३. अध्यास का स्वरूप, ४. प्रपञ्च का मिथ्यात्व, ५. परतत्त्व का स्वरूप एवं ६. चिदात्मरूप ज्ञान के स्वप्रकाशत्व पर शास्त्रानुरूप ही लक्षणादि व्यक्त किए हैं। इतना ही नहीं, मोक्ष के सम्बन्ध भी श्री कबीर का मत अद्वैतवेदान्तानुकूल ही है।

☐ भारतीय दर्शन : : दृष्टि और सृष्टि

'दर्शन' शब्द मुख्यतः **'दर्शन-दृष्टिः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। ज्ञान से ही सर्वविध विचार होते हैं, अतः दर्शन का पर्याय 'विचार' भी माना जाता है। ज्ञान और विचार के शास्त्र **'दर्शनशास्त्र'** अथवा 'विचार शास्त्र' कहलाते हैं। वैसे दर्शनशास्त्र का साक्षात् सम्बन्ध जीवन से है। यद्यपि जीवन और दर्शन एक ही उद्देश्य के दो परिणाम है तथापि दोनों का परमलक्ष्य एक ही है, और वह है—**'परमश्रेय की खोज'**। इसी का सैद्धान्तिक रूप दर्शन है और व्यावहारिक रूप है जीवन। जीवन की सर्वाङ्गीणता का निर्माण करने वाले जो अतिसूक्ष्म सूत्र हैं उनका व्याख्यान करना दर्शन का उद्देश्य है। दार्शनिक दृष्टि से जीवन के विषय में विचार करने की एक स्वतन्त्र पद्धति है और उसके अपने नियम हैं। उन्हीं पद्धति और नियमों के माध्यम से जीवन का वैज्ञानिक अध्ययन करना दर्शन का ध्येय है।

इन दर्शनों की विविधता का मूल कारण है—जगत् की विचित्रता के ज्ञान में उठने वाले प्रश्नों के दृष्टिभेद से अनेक उत्तरों की प्राप्ति। इस विराट ब्रह्माण्ड के असङ्ख्य अनन्त पदार्थों के समक्ष जीवन की स्थिति क्या है? इस प्रकार की जिज्ञासा ही दर्शनशास्त्र की जननी है। दर्शन का उद्देश्य जीवन-मीमांसा होने के कारण जीवन से सम्बद्ध आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक जो भी पदार्थ हैं उनका तात्त्विक विश्लेषण करना दर्शन का कार्य है। तथापि भारतीय दर्शन **आत्मानुसन्धान**, को ही लक्ष्य में रखकर प्रवृत्त हुए हैं, यह नितान्त सत्य है। वस्तुतः दर्शन शब्द 'श्रुति-स्मृति' आदि शब्दों के समान ही एक महान् ज्ञान परम्परा के इतिहास को अपने में संजोये हुए है, जिसमें अनेक सम्प्रदाय और अनेक पद्धतियां समन्वित हैं।

भारतीय-दर्शन के प्रमुख दो सम्प्रदाय हैं—१. **नास्तिक** और २. **आस्तिक**। ये ही पुनः शाखाभेद से छः-छः भेदों में बंटे हुए होने के कारण बारह प्रकार माने जाते हैं। यथा—

१. नास्तिक दर्शन

१. चार्वाक, दर्शन	२. वैभाषिक दर्शन,	३. सौत्रान्तिक दर्शन,
४. योगाचार दर्शन,	५. माध्यमिक दर्शन	६. आर्हत दर्शन।

२. आस्तिक दर्शन

१. न्याय दर्शन,	२. वैशेषिक, दर्शन,	३. साङ्ख्य दर्शन,
४. योगदर्शन,	५. पूर्व मीमांसा दर्शन	६. उत्तरमीमांसा दर्शन।

इन द्वादश दर्शनों की संख्या यहीं समाप्त न होकर आगे भी बढ़ती रही है, वेद में कर्म, उपासना और ज्ञान-रूप तीन काण्ड हैं। उनमें कर्मकाण्ड से सम्बद्ध सृष्टि-चक्र का निरूपण भारद्वाज मुनि-प्रणीत **'कर्ममीमांसादर्शन'** पूर्वार्धरूप और जैमिनिमुनिप्रणीत केवल, यज्ञ भाग का पूरक

'जैमिनि दर्शन' उत्तरार्ध रूप है। ये दोनों मिलकर वैदिक कर्मकाण्ड के पोषक के रूप में **पूर्व-मीमांसा दर्शन** है तथा अङ्गिरा मुनि प्रणीत वैदिक उपासनाकाण्ड भाग का पोषक **'देवमीमांसा-दर्शन'** मध्य मीमांसारूप है, जो कि वेद के उपासनाकाण्ड के रूप में मध्य भाग की पूर्ति करता है। अन्तिम ज्ञान काण्ड महर्षि बादरायण द्वारा साधित वेदान्त-दर्शन है ही, अतः कर्म और देव-मीमांसा दोनों ही एकरूपता को प्राप्त होकर आस्तिक दर्शनों की सङ्ख्या सात हो गई। इसी प्रकार अर्वाचीन आचार्यों में महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा ने **'परमार्थदर्शन'** और पञ्चानन तर्करत्न भट्टाचार्य ने **'शक्तिदर्शन'** का भी प्रवर्तन किया है। इनके अतिरिक्त **'पाणिनि, सोमनाथ, नाकुलीश, रसेश्वर, रामानुज, वल्लभ, श्रीधर, नीलकण्ठ, निम्बार्क** और **माध्व'** के नाम से भी दर्शनों की प्रवृत्ति हुई है, जिनका आस्तिक दर्शनों में ही समावेश होता है। यही स्थिति नास्तिक दर्शनों की भी है जिनमें कुछ दार्शनिकों ने अपने नूतन विचारों को प्रस्तुत कर उनकी संख्या में बृद्धि की है।

उपर्युक्त दोनों ही प्रकार के दर्शनों में दुःख के अस्तित्व को स्वीकार कर उसके अत्यन्त विनाश के लिये अनेक उपायों का प्रतिपादन किया गया है। ज्ञातृ, ज्ञान और ज्ञेय के द्वारा दुःख का ज्ञान एवं तत्सम्बन्धी विचार करने से दुःख से छुटकारा पाया जा सकता है। अतः चार्वाक् आदि ने दुःखनाश के भिन्न-भिन्न उपाय बतलाये हैं जिनका क्रमिक-सूत्र रूप सारांश इस प्रकार है—

१. ममत्व के त्याग से दुखों का नाश होता है।
२. संसार को क्षणिक मानने से दुःखों का नाश होता है।
३. दुःख विज्ञान के स्वरूप ज्ञान से दुःखों का नाश होता है।
४. स्वयं प्रकाशत्व के ज्ञान से दुःखों का नाश होता है।
५. ज्ञानसामान्य के अभावात्मक तत्त्व का ज्ञान होने से दुःख नष्ट होते हैं।
६ जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति रूप तीनों अवस्थाओं के यथार्थबोध से दुःख-नाश होता है।
७. स्वरूप-ज्ञान से दुःख नाश होता है।
८. आत्मज्ञान से दुःख नष्ट होते हैं।
९. साक्षात्कार से दुःख-नाश होता है।
१०. स्वस्वरूप के साक्षात्कार से दुःखनाश होता है।
११. निष्काम कर्माचरण से अदृष्ट का अभाव होने पर दुःखनाश होता है।
१२. सच्चिदानन्दात्मक स्वरूप के दर्शन से दुःखों का नाश होता है।

ये ही ज्ञान तत्त्वज्ञान कहलाते हैं। वैसे तो तत्त्व अनेक हैं किन्तु वे पृथक्-पृथक् होकर भी एक ही लक्ष्य का प्रतिपादन करते हैं इसलिये तत्त्वों का भी एकत्व समझना चाहिए। और इससे यह स्पष्ट होता है कि—मार्ग तो भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु उनका लक्ष्य एक ही है। यही दार्शनिक दृष्टि और सृष्टि का स्वरूप सर्वत्र दर्शनशास्त्रों में चर्चित है। जैसाकि कहा गया है—

यदाभ्युदयिकं चैव, नैःश्रेयसिकमेव च।
सुखं साधयितुं मार्गं, दर्शयेत् तद्धि दर्शनम्॥

महात्मा कबीर ने इन दर्शनों का पूरा आलोडन-विलोडन करके बहुधा देखा-परखा होगा और अन्ततः अपनी निश्चित धारणा बनाकर विचारावली को सरस पदों में गूथकर जनसाधारण के समक्ष प्रस्तुत कर दिया। यह कहना कि वे अन्यान्य दर्शनों और सम्प्रदायों से प्रभावित थे, बात कुछ जचती नहीं, हां इतना अवश्य है कि वे सार्वभौम-दृष्टि सम्पन्न थे, सङ्कुचित पूर्वाग्रह-

दुराग्रह से मुक्त थे और स्वयं स्वयं में एक सुदृढ़ निष्ठा वाले थे। महापुरुषों की वाणी की यही विशेषता होती है कि वह बह्वर्थवती, दीर्घानुभवसम्पन्न, सर्वतोभद्र विचारवाली तथा सर्वग्राही होती है। यही कारण है, जो जैसा सोचता है—समझता है, अर्थतत्त्व ढूंढ ही लेता है। यह बात कबीर की वचनावली पर पूर्णरूपेण सुसङ्गत प्रतीत होती है।

☐ प्रस्तुत 'कबीर-वाणी' ग्रन्थ का महत्त्व

यह बात सुनिश्चित है कि संस्कृत भाषा में लिखित साहित्य अपेक्षाकृत अन्य भाषा के अधिक चिरञ्जीवी होता है। संस्कृत के विद्वान् किसी विशेष तत्त्व पर तब तक आलेखन भी नहीं करते जब तक कि उसमें कोई महत्त्वपूर्ण चर्चा के आधार न हों। इसके अतिरिक्त यह और भी आश्चर्य की बात तब हो जाती है जबकि लोकभाषा में कहे गये विचारों को पुनः संस्कृत में व्याख्या करके उसे समझाने का प्रयास किया जाये। इस दिशा में सर्वप्रथम महत्त्व यदि किसी को मिला है तो सन्त कबीर की बाणी को। कबीर-वाणी पर **स्वामी बोधानन्द** ने **'विज्ञान-बीज-प्रकाशिका'** व्याख्या लिखकर एक अनूठा कार्य किया है। जिस कार्य को अब तक संस्कृत से न्हिदी में अथवा अन्य लोकभाषाओं में किया जाता रहा उसके विपरीत यह प्रयोग अपने आप में महत्त्व रखया है।

संस्कृत-साहित्य के व्याख्याकारों का दायित्व बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा है।' **टीका गुरूणां गुरुः'** की उक्ति ही यह सिद्ध कर देती है कि ग्रन्थ के ज्ञान को और अधिक गुरुत्व प्रदान करने का श्रेय टीका/व्याख्या के द्वारा ही प्राप्त होता है। स्वामी बोधानन्द ने इस परमगुरुत्व की कोटि का ही कार्य विज्ञान-बीज-प्रकाशिका में किया है। वे केवल शब्दों को परिभाषित ही नहीं करते अपि तु प्रमाण, उदाहरण और दृष्टान्त द्वारा उसे सत्यापित भी करते हैं। वेद, उपनिषद्, गीता, महाभारत, नीति एवं कोश के उद्धरण उनकी विशाल ज्ञान-सम्पदा के परिचायक हैं तथा वे सन्त कबीर की वाणी के मूलतत्त्व तक पाठक को पहुंचाने में पूरी तरह सहायक बनते हैं। इसीलिए कबीर-वाणी के अन्य व्याख्याकारों की परम्परा में यह व्याख्या सुमेरुरूप है। प्रस्तुत व्याख्या के प्रकाश में आने से पूर्वापर समालोचकों द्वारा प्रकट की गई अनेक भ्रान्त धारणाएं निर्मूल होकर सत्य के निकट पहुंचाने में उपयोगी बनेंगी।

☐ कबीर-साहित्य और उसके विवेचक ग्रन्थ

कबीर-साहित्य की व्यापकता, उपयोगिता दुरूहता एवं महनीयता को ध्यान में रखकर जब से इसकी खोज आरम्भ हुई और उसक व्यवस्थापन—सम्पादन का कार्य प्रारम्भ हुआ तब से ही उसे सुबोध्य बनाने की ओर भी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ। धीरे-धीरे मनीषी आचार्यों ने एक ओर रचनाओं की वास्तविकता पर अनुशीलन किया और दूसरी उसके रहस्यात्मक विचारों को उजागर करने की प्रक्रिया भी आरम्भ हो गई। यह क्रम आज भी चल रहा है और चलता भी रहेगा। क्योंकि महापुरुषों की वाणी एकाङ्गीन न होकर सर्वाङ्गीण होती है अतः उत्तरकाल के चिन्तक अपनी-अपनी प्रज्ञा के अनुसार उसमें निहित तथ्यों पर प्रकाश डालते ही रहते हैं। इस दृष्टि से आज तक अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं किन्तु उन सबका परिचय देना यहां सम्भव नहीं है और शक्य भी नहीं है। अतः केवल कतिपय मानक

ग्रन्थों की सूची यहां दी जा रही है —

१.	**कबीरजी की परिचयी**	ले० अनन्तदास (हस्तलिखित) नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
२.	**कबीर एण्ड दी कबीरपन्थ**	डॉ० रेवेण्डवेस्टकास्ट, सन् १९५३
३.	**कबीर एण्ड हिज फालोअर्स**	डा० एफ० ई० के० साहब, सन् १९३१
४.	**कबीर हिज बायोग्राफी**	डॉ० मोहन सिंह, कलकत्ता, सन् १९३४
५.	**कबीर चरित बोध**	ले० अज्ञात बम्बई सं० २००७
६.	**कबीर कसौटी**	लहरासिंह उर्फ हरिदास बम्बई सं० २०१३,
७.	**कबीर ग्रन्थावली**	सं० बाबू श्यामसुन्दरदास ना० प्र० सभा, काशी
८.	,, ,,	सं० पारसनाथ तिवारी, हिन्दी परिषद् प्रयाग
९.	,, ,,	डा० भगवत् स्वरूप मिश्र, सन् १९७३
१०.	**कबीर रहस्यवाद**	डा० रामकुमार वर्मा, सं० १९९१ वि०
११.	**कबीर साहब** (उर्दू में)	मनोहरलाल, जुत्सी, सं० १९३९
१२.	**कबीरदास**	प्रो० नरोत्तमदास, ना० प्र० सभा, काशी
१३.	**कबीर की विचारधारा**	डा० गोविन्द त्रिगुणायत,
१४	**कबीर साहित्य और सिद्धान्त**	श्री यज्ञदत्त, शर्मा
१५.	**कबीर : व्यक्तित्व और सिद्धान्त**	डॉ० सरनाम सिंह
१६.	**कबीरवाणी**	सरदार जाफरी, बम्बई सं० २०११
१७.	**कबीर**	डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, सं० २०१५
१८.	**कबीर और कबीरपन्थ**	डॉ० केदारनाथ द्विवेदी, सन् १९६५,
१९.	जन्**मौती** मंगल (हस्तलिखित)	कल्पित नाम 'श्री **कबीर**', जयकर ग्रन्थालय, पूना
२०.	**'बीजक'**	फतुहा आचार्य गद्दी के मूल पाठ सन् १९५०
२१.	**'बीजक' पाखण्ड खण्डनी टीका**,	श्री विश्वनाथ सिंहजी, रीवां नरेश
२२.	,, **शिशुबोधनी टीका तथा 'स्वानुभूति'** (सरल हिन्दी)	टीकाकार—श्री हनुमानदासजी षट्शास्त्री सं० २०१४
२३.	,,	हिन्दी टीकाकार श्री विचारदासजी, सन् १९५५
२४.	,,	सम्पा० डा० शुकदेवसिंह सन् १९७२,
२५.	,,	हिन्दी टीकाकार स्वामी ब्रह्मलीन मुनि सं० २०२३
२६.	,,	अंग्रेजी टीकाकार प्रेमचन्द पादरी, ने० ला० कलकत्ता
२७.	**वैष्णव कबीर**	डॉ० गोवत्स योगीराज, हरिद्वार
२८.	**श्री सद्गुरु-कबीर-चरितम्**	ले० ब्रह्मलीन मुनि बड़ौदा
२९.	**श्री सद्गुरु कबीर-महापुराण**	(हस्तलिखित) ले० महन्त सुकृतदासजी वरशि
३०.	**सन्त कबीर की साखी**	सं० डॉ० युगलानन्द बिहारी सं० २०२९
३१.	**सन्त कबीर**	डॉ० रामकुमार वर्मा, सन् १९५७
३२.	**साखी-ग्रन्थ,**	सारबोधनी टीका, सीया बाग, कबीर प्रेस, बड़ौदा

इन ग्रन्थों में चर्चित कबीर-साहित्य के आलोचनात्मक ग्रन्थ भी अनेक प्रकाशित हुए हैं।

श्री लालबहादुरशास्त्री केन्द्रीय-संस्कृत -विद्यापीठ के प्रकाशनों में गतवर्ष **'कबीर-वाणी'** नाम से एक ग्रन्थ का प्रकाशन किया गया था, जो कि इस ग्रन्थ का पूर्वभाग कहा जा सकता है। उसमें डा० त्रिवेदीजी द्वारा समुद्धारित, स्वामी बोधानन्द जी द्वारा रचित **'विज्ञान-बीज-प्रकाशिका'** व्याख्या के साथ मूलवाणी और उसका हिन्दी भावार्थ भी मुद्रित हुआ था। पाठकों द्वारा उस भाग की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई और अग्रिमभाग में शेष वाणी का भी सव्याख्या प्रकाशन के लिये अनुरोध हुआ। फलतः यह उत्तर भाग प्रकाशित कर पाठकों के करकमलों में प्रस्तुत कर रहे हैं।

इसी प्रसंग में स्वामी बोधानन्द-कृत **'विज्ञान-बीज-प्रकाशिका'** व्याख्या के समुद्धारक, सम्पादक तथा कबीर-वाणी के संस्कृत रूपान्तरकर्ता डॉ. हरिहर त्रिवेदी का संक्षिप्त परिचय देना भी मैं अपना कर्तव्य समझता हूं। अतः यहां संक्षेप में श्रीरामविलास शर्मा द्वारा लिखित 'पुरातत्त्व के कबीर डॉ. हरिहर त्रिवेदी' शीर्षक लेख के माध्यम से संक्षिप्त परिचय दे रहा हूं।

☐ डॉ० हरिहर त्रिवेदी : संक्षिप्त परिचय

मध्य-प्रदेश के मालवाञ्चल में प्राचीन **'दशपुर'** (वर्तमान—**मन्दसौर**) जनपद के परिसर में नैसर्गिक सुषमा से मण्डित **'रामपुरा'** नगर में श्री हरिहर त्रिवेदी का जन्म १९०३ ई० में हुआ। पिता रामपुरा में ही अध्यापक थे। घर में गरीबी का साम्राज्य था। रामपुरा में में उस समय सातवीं कक्षा तक ही अध्ययन की सुविधा थी। इसके उपरान्त इन्दौर अथवा अन्यत्र जाना होता था। पिताजी उन्हें 'नार्मल स्कूल ट्रेनिंग' दिलवाकर अध्यापक बनाना चाहते थे और पितामह पटवारी। ये दोनों प्रस्ताव त्रिवेदी की इच्छा के प्रतिकूल थे। अतः एक दिन एक दरी और एक धोती लेकर घर से पलायन कर इन्दौर आ पहुंचे। मार्ग व्यय की समस्या हल हुई—उन पांच रुपयों से जो पिता की जेब से चुरा लिए थे। रामपुरा में हाहाकार मच गया। खबर-खोजी पितामह तीसरे ही दिन इन्दौर आ टपके और अपने बहनोई के यहां टिके। त्रिवेदी जी को बरामद कर लिया। अंग्रेजी शिक्षा में उनकी रुचि देखकर पितामह ने उनके निवास की व्यवस्था वहीं एक कोठरी में कर दी और पांच रुपए माह का अनुदान भी स्वीकृत कर दिया। कोठरी का किराया उन दिनों मात्र दस आना था और लगभग उतनी ही स्कूल की फीस। १९१८ में महामारी का प्रकोप हुआ। श्री त्रिवेदी उस समय ९ वीं कक्षा में थे। फलतः पढ़ाई छोड़कर रामपुरा में शरण ली।

आप रामपुरा में १९२० से २५ तक शाला-अध्यापक रहे। इसी बीच आगरा विश्वविद्यालय से मेट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की। साथ ही संस्कृत की काव्यतीर्थ परीक्षा भी जिसका संचालन कलकत्ता से होता था।

इससे आत्मविश्वास जागृत हो गया कि अब कहीं भी नौकरी मिल सकती है। यही सोचकर वर्तमान नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। विवाह हो चुका था। पिताजी को यह समाचार मिला तो आग बबूला हो उठे। आगे की कहानी त्रिवेदीजी की जुबानी इस प्रकार है "पिताजी ने घोषणा कर दी—निकल जाओ इस घर से अपनी पत्नी के साथ। मेरा अपराध यही

था कि मैंने जमी-जमाई नौकरी छोड़ दी थी। पिताजी की बात मुझे चुभ गई। दूसरे ही दिन मैं पत्नी को साथ लेकर इन्दौर पहुंच गया और माणकचौक स्थित खुटाल के बाड़े में एक कोठरी में अपना डेरा जमा दिया। नौकरी हेतु कई विभागों में आवेदन पत्र दिए किन्तु परिणाम निष्फल। अन्ततः होल्कर कालेज में अंग्रेजी के प्राध्यापक के परामर्शानुसार कालेज में प्रवेश लेकर अग्रिम पढ़ाई जारी की। पास में पैसा तो था नहीं, पुस्तकों और कापियों के भी लाले। ट्यूशन कर अध्ययन किया। जर्जर धोती कुरते में पिछली बैंच पर बैठता था। सहपाठियों की उपेक्षा सालती रहती किन्तु जब परीक्षा परिणाम आया तो मैं द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण। सभी भौचके।"

श्री त्रिवेदी को लेखन का चाव प्रारम्भ से ही रहा। अभी तक हिन्दी, **अंग्रेजी और संस्कृत में इनके ११ ग्रन्थ** प्रकाशित हो चुके हैं—

(१) **मध्य प्रदेश चतुर्धाम** (हिन्दी) इनमें दशपुर, उज्जैन, माहिष्मती और विदिशा का विवरण हैं।

(१) **चम्बल घाटी का पुरातत्त्व** (हिन्दी)
(३) **केटलाग ऑफ नागा कॉइन्स ऑफ पद्मावती** (अंग्रेजी)
(४) **बिबिलो ग्राफी ऑफ मध्य भारत ऑर्केलॉजी** (अंग्रेजी)
(५) **केटलाग ऑफ कॉइन्स ऑफ द हैदराबाद म्यूजियम** (अंग्रेजी)
(६) **पृथ्वी से पुरातत्त्व** (हिन्दी) सर एम. एच. व्हीलर की पुस्तक 'ऑर्केलाजी फ्राम द अर्थ' का अनुवाद।
(७) **आंग्ल-रोमांचम्** (संस्कृत पद्यानुवाद) अंग्रेजी के विशिष्ट कवियों की चुनी हुई रचनाओं के अनुवाद। इसमें श्री. एल. ओ. जोशी सहायक रहे।
(८) **गणराज्याभ्युदयम्** (पांच अंकों का संस्कृत नाटक)
(९) **नागराज-चरितम्**(संस्कृत एकांकी नाटक)
(१०) **उदयादित्य**(हिन्दी नाटक पांच अंकों का)
(११) **कबीर वाणी** (हिन्दी) बोधानन्द नामक एक अज्ञात विद्वान की हस्तलिखित पांडुलिपि (संस्कृत) का भावानुवाद। (इसका एक भाग प्रकाशित हो चुका है और दूसरा भाग यह प्रस्तुत है) डॉ० त्रिवेदी जी कबीर के पदों के संस्कृत रूपान्तर में जुटे हैं। वे कबीर में इतने रम गए हैं कि अपने कमरे के बाहर, कबीर-कुटी की तख्ती टांग रखी है। उनका कहना है कि उनकी यह रचना एक अच्छी खासी कबीर-गीता ही होगी, जिसमें लगभग एक हजार श्लोक होंगे। उन्होंने इसमें भगवद्गीता की शैली और वाल्मीकि की भाषा अपनाई हैं। वे इन दिनों दार्शनिक दृष्टिकोण से कबीर के अध्ययन में भी रत है और कबीर के पदों का भावार्थ अंग्रेजी में भी तैयार कर रहे है।

इसके अतिरिक्त उनके पांच हिन्दी एकांकी नाटक अप्रकाशित हैं जिनके प्रकाशन का सिलसिला चल रहा है। ये सभी ऐतिहासिक नाटक है। काव्य सृजन में भी त्रिवेदीजी की रुचि है। अपनी इन रचनाओं में से कुछ उन्होंने अल्मारियों के कपाटों पर चस्पा कर रखी हैं। श्री त्रिवेदी को कई अखिल भारतीय अधिवेशनों के सभापतित्व का गौरव प्राप्त हो चुका हैं। स्तरीय पत्रिकाओं के सम्पादन का भी श्रेय उन्हें प्राप्त है।

उनके घर का पूरा प्रबन्ध पत्नी '**सुशीला त्रिवेदी**' सम्हालती हैं और उनकी नैष्ठिक सेवा की ही यह परिणति है कि डॉ० हरिहर त्रिवेदी अपने जीवन के ८३वें वर्ष में भी उत्साह

एवं स्फूर्ति के साथ साहित्य-सर्जना में तन-मन से लगे रहते हैं।

पुरातत्त्व को पूर्णतः समर्पित यह एक ऐसा ही व्यक्तित्व मध्यप्रदेश में है जो श्री हरिहर त्रिवेदी के नाम से विख्यात है। मझौला कद, तीखी नाक पर टिके चश्मे से झांकती अव्यक्त की सतत खोज में बेचैन आंखें और मालवी गेहूं की मिठास से स्वभाववाले त्रिवेदी ८३ शिशिर बर्दाश्त करने के बावजूद, श्रवणेन्द्रिय की असमर्थता के अतिरिक्त आज भी युवकोचित ऊर्जा से ओत-प्रोत हैं।

एक बार श्री त्रिवेदी के पुरातत्त्व सम्बन्धी वृहत्काय ग्रन्थ की चर्चा चलने पर कुछ क्षणों के लिए वे मौन हो गए मानों स्मृतियों के सूत्रों को सहेज रहे हों। अचानक उनकी आंखों में दीप्ति की एक रेखा कौंधी और अधरों पर सहज मुस्कान उभर उठी। वे बताने लगे—"एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल के 'जेम्स प्रिन्सेस' नामक लिपिविशेषज्ञ ने जिन्हें सर्वप्रथम ब्राह्मी लिपि पहचानने का श्रेय है, १८३७ में एक योजना प्रस्तुत की थी जिसके अन्तर्गत भारत के प्राचीन राजवंशों के अभिलेखों का क्रमबद्ध सम्पादन करना था। तय यह हुआ कि प्रत्येक ग्रन्थ में एक या दो राजवंशों के अभिलेखों का समावेश हो। इस ग्रन्थमाला का नामकरण किया गया **'कॉपर्स इन्सक्रीप्टिनियम इंडिकेरम'** अर्थात् **'भारतीय प्राच्य लिपि ग्रन्थमाला'**।

इस योजना के स्वीकृत होने पर जब यह कार्य विशेषज्ञों को सौंपा गया, तब **हुल्श, स्टेनकोनो** और **जान फ्लीट** ने अशोक और अन्य राजवंशों तथा गुप्त नरेशों के अभिलेखों का सम्पादन किया। ये ग्रन्थ क्रमशः १८२५, १८२९ और १८८८ में मुद्रित हुए।

इसके पश्चात् नागपुर के डॉ. **वासुदेव विष्णु मिराशी** ने कलचुरि, वाकाटक और शिलाहर वंशों के तीन ग्रन्थों का सम्पादन किया, जो क्रमशः १९५५, १९६३ और १९७७ में मुद्रित हुए।

ये योजना केन्द्रीय पुरातत्व विभाग के अधीन है और उसने लगभग २०-२५ ग्रन्थों की एक सूची तैयार करवाकर विभिन्न विशेषज्ञों को ग्रन्थ सम्पादित करने का कार्यभार सौंपा है। इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत अभी तक ६ ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। इस प्रकार उनका ग्रन्थ जो मध्यप्रदेश के राजवंशों से सम्बन्धित है उस लेखकलिका का सातवां पुष्प है।

पुरातत्त्व विभाग के अनुरोध पर उन्होंने १९६० में यह कार्य प्रारंभ किया एवं राम के वनवास की भांति, पूरे चौदह वर्ष निरन्तर परिश्रम कर १९७४ में पांडुलिपि विभाग को सौंप दी। इसका मुद्रण कार्य सुदूर कलकत्ता के एक निजी प्रेस को दिया गया है आपके ग्रन्थ के तीन भागों में से अभी तक केवल एक भाग ही प्रकाशित हो सका है। सुना जाता है कि शेष दो भाग मुद्रणाधीन हैं। लेखक के नाते उनकी उत्कंठा स्वाभाविक है और परम अभिलाषा है कि अपने जीवन काल में ही वे उनको मुद्रित देख सकें।"

श्री त्रिवेदी का सम्बन्ध **पुरातत्त्व-विभाग** से १९४७ से १९६०-६१ तक लगभग चौदह वर्ष रहा। इसके पूर्व **शिक्षा विभाग** तथा **सूचना एवं प्रचार विभाग** में भी कुछ वर्षों तक कार्य किया। पुरातत्त्व विभाग के साधारणतः चार प्रमुख कार्य हैं—(१) प्राचीन स्थलों एवं पुरातन वस्तुओं की खोज, (२) उत्खनन, (३) प्राप्त स्थलों एवं वस्तुओं का गहन अध्ययन तथा (४) सभ्यता एवं संस्कृति की उपलब्ध धरोहर का व्यापक प्रचार-प्रसार। डॉ. त्रिवेदी ने अपने कार्य-काल में खोज कार्य झाबुआ से प्रारम्भ किया और सतना तक जा पहुंचे। पूर्वीय जिलों के

महत्वपूर्ण स्थलों की वर्तमान स्थिति का लेखा-जोखा लिया। विशेष रूप से चम्बल घाटी के उन स्थानों का जो गांधी सागर बांध के कारण डूब में आने वाले थे। साथ ही **मनैटी, इन्द्रगढ़ और आवरा** (ये तीनों मन्दसौर जिले में हैं) में उत्खनन कार्य किया, जिसका विववरण प्रकाशित हो चुका है।

इसके अतिरिक्त ग्वालियर संग्रहालय में विद्यमान, पवाया (पद्मावती) से प्राप्त लगभग तीन लाख ताम्र मुद्राओं का अध्ययन कर उनका विवरण ग्रन्थ प्रकाशित किया। प्रादेशिक पुरातत्व विभाग का पुनर्गठन किया। १९४५ से बन्द विभाग के वार्षिक विवरण के पुनः प्रकाशन में रुचि ली।

प्रयाग विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम. ए. उपाधि स्वर्णपदक सहित प्राप्त हरिहर त्रिवेदी अचानक पुरातत्व की ओर कैसे मुड़ गए इसकी भी एक रोचक कहानी है। हुआ यह कि श्री त्रिवेदी जब होल्कर राज्य के प्रकाशन-कार्य हेतु बनारस पहुंचे तो उनके मन में संस्कृत में शोध करने की इच्छा ने अंगड़ाई ली। एक मित्र से इसकी चर्चा की तो उन्होंने **डा० ए० एस० अल्टेकर** से परिचय करवा दिया, जो बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग के प्रमुख थे। वे समझे कि श्री त्रिवेदी प्राचीन भारतीय इतिहास पर शोध करना चाहते हैं। श्री त्रिवेदी समझते रहे कि डा० अल्टेकर संस्कृत के विद्वान् हैं। इस प्रकार दोनों के बीच प्रारम्भ से ही भ्रान्ति पनपती रही। डा० अल्टेकर ने श्री त्रिवेदी को जो विषय सुझाया वह था—'**यादव एन्ड देअर टाइम्स**' श्री त्रिवेदी समझे उनका संकेत श्रीकृष्ण के यादव वंश की ओर है जब कि डा० अल्टेकर का मन्तव्य दक्षिण के देवगिरि के यादवों से था जिन्हें अलाउद्दीन ने परास्त किया था।

कालान्तर में जब श्री त्रिवेदी ने डा० अल्टेकर का एक लेख प्राचीन इतिहास पर पढ़ा तब उन्हें अपनी भूल ज्ञात हुई। इसकी जानकारी डा. अल्टेकर को प्राप्त हुई तब वे भी खिलखिलाकर हँस उठे। तब वे श्री त्रिवेदी की रुचि भारतीय इतिहास के अध्ययन की ओर जागृत हुई और अन्ततः उन्होंने उपर्युक्त विषय पर ही अपना शोध-प्रबन्ध लिखकर डी०लिट्० की उपाधि अर्जित की।

इसी प्रकार की एक घटना है सिक्कों (मुद्राओं) के ज्ञान के बारे में। उन दिनों श्री त्रिवेदी इन्दौर संग्रहालय के अधिकारी थे। इनके एक मित्र थे श्री अडवानी जो 'फारेस्ट कन्जर्वेटर थे, उन्हें सिक्के एकत्रित करने का शौक था। उनके पास सिक्कों का अच्छा खासा संग्रह जमा हो गया था। उन्होंने उनके बारे में त्रिवेदीजी से चर्चा की। श्री त्रिवेदी का ज्ञान सिक्कों के बारे में शून्य। इसी बीच डा० अल्टेकर का आगमन इन्दौर हुआ। उन्होंने यह संग्रह देखा तो उछल पड़े। उन्होंने एक-एक सिक्के की व्याख्या कर समझाया कि यह घोड़े की पूंछ है, यह खरोष्ठी लिपी है, आदि-आदि। श्री त्रिवेदी सिर झुकाए, चुपचाप सुनते रहे। डा. अल्टेकर को आभास हो गया कि श्री त्रिवेदी के लिए यह विषय गूंगे का गुड़ है। प्रस्थान के पूर्व उन्होंने कहा—"त्रिवेदी तुम्हें सिक्कों के बारे में सीखना चाहिए।" त्रिवेदीजी के मन में यह बात फांस की तरह गड़ गई। यह एक ऐसा संकेत था, जिसने उन्हें सिक्कों के अध्ययन की ओर प्रवृत्त किया। गहन अध्ययन अन्ततः रंग लाया और सिक्कों पर उनके आलेख मुद्रा—पत्रिका में

प्रकाशित होने लगे जिसके सम्पादक डा० अल्टेकर स्वयं थे। इसकी पराकाष्ठा तब हुई जब श्री त्रिवेदी ने पद्मावती से प्राप्त तीन लाख ताम्र मुद्राओं का अध्ययन कर उनका विवरण ग्रन्थ प्रकाशित किया और उनको मुद्रा अध्ययन का सर्वोत्कृष्ट पदक प्राप्त हुआ।

उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री त्रिवेदी का व्यक्तित्व निष्ठा, लगन एवं अध्यवसाय ही नहीं अपितु दृढ़ सङ्कल्प शक्ति से भी सम्पन्न है।

डॉ० त्रिवेदीजी मध्यप्रदेश से सेवानिवृत्त होकर कुछ समय श्रीलालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ-दिल्ली के प्रारम्भिक वर्षों में प्राध्यापक के रूप में रहे थे। आपकी प्रतिभा, कवित्व शक्ति, परिहास-प्रियता, बहुशास्त्रज्ञता एवं अध्यापन कुशलता से विद्यापीठ का समस्त परिवार विस्मित, आनन्दित और कृतज्ञ रहा। और जब आपने भी कबीर के समान ही—**'बहुशास्त्र-कथा-कन्था'** को उतार कर अद्वैतोपासना को ही चरम लक्ष्य बनाकर 'कबीर-वाणी' की स्वामी बोधानन्द कृत व्याख्या का समुद्धार का सम्पादन एवं संस्कृत रूपान्तर आदि का आर्ष पुरुषार्थ किया तो उसे प्रकाशित करने में विद्यापीठ ने अपना गौरव माना। फलतः पहले एक भाग प्रकाशित किया और यह दूसरा भाग अब पाठकों के करकमलों में प्रस्तुत है।

प्रकाशन का निर्णय होने पर भी मुद्रण-व्यवस्था एवं मुद्रण कार्य में अनेक व्यवधान आ जाने से इसके प्रकाशन में पर्याप्त समय लग गया। डॉ० त्रिवेदीजी ने जितना श्रम इसके लेखन-सम्पादन में उसके बाद भी उन्हें शीघ्र प्रकाशन की प्रेरणा देने में बहुत कुछ श्रम उठाना पड़ा, उसके लिये मैं (रुद्रदेव त्रिपाठी) क्षमा प्रार्थी हूं क्योंकि विद्यापीठ से मेरी सेवा-निवृत्ति और अन्यान्य प्रकाशन-लेखन सम्बन्धी व्यस्तताएँ बहुत बढ़ गई थीं। डॉ० त्रिवेदी के साथ ही मेरे मित्र **डा० लक्ष्मणनारायण शुक्ल** (एम० ए०, एल०एल० बी० पी-एच० डी०, साहित्याचार्य, प्राध्यापक एवं प्रभारी प्राचार्य-शासकीय संस्कृत महाविद्यालय, इन्दौर) का भी मैं आभारी हूं, जिन्होंने डॉ० त्रिवेदीजी को बोधानन्दकृत व्याख्या की पाण्डुलिपि देने के साथ ही उनके और मेरे सम्पादन-प्रकाशन कार्य में सर्वात्मना सहयोग किया।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन **'शोध-प्रभा'** के **'श्रीमती-इन्दिरा-गान्धी श्रद्धाञ्जलि-विशेषाङ्क'** के साथ भी लघु-ग्रन्थ के रूप में मुद्रित हुआ है, यह भी एक हर्ष तथा गौरव का विषय है। प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन, मुद्रण आदि कार्यों में सदा की भांति प्रधान सम्पादक, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के निदेशक एवं विद्यापीठ के प्राचार्य **डा० मण्डन मिश्रजी** का भी मैं हृदय से आभार मानता हूं कि जिन्होंने सेवानिवृत्ति के बाद भी मुझे सहायता देकर प्रोत्साहित किया। इसी प्रसङ्ग में विद्यापीठ के शोध-विभाग में कार्यरत सहयोगी मित्र एवं पङ्कज प्रिन्टर्स के अध्यक्ष श्री राजेन्द्र तिवारी को भी मैं धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिनका कि अनेक विध कार्यों में सहयोग मिला। इन्हीं शब्दों के साथ मैं कामना करता हूं कि—

अज्ञानिनां हृत्स्थतमो-हरन्ती, प्रज्ञानिनां हृत्सु सुखं स्फुरन्ती।
विज्ञानिनां हृत्स्वपि सञ्चरन्ती, करोतु भद्राणि 'कबीर वाणी'॥

—विदुषामाश्रवः
रुद्रदेव त्रिपाठी (सम्पादक)

प्राक्कथन

बोधानन्द कृत व्याख्या की इस हस्तलिखित पोथी के साखी-भाग के विधिवत् अध्ययन के समय मेरे पास सन्त-कबीर की साखियों के चार मुद्रित संस्करण थे—

(१) संस्कृत बीजक (तृतीय भाग) षट्शास्त्री स्वामी हनुमद्दास द्वारा "स्वानुभूति" नामक व्याख्या के साथ तैयार किया हुआ और बड़ौदा में १९५८ में मुद्रित ;

(२) बाबू बैजनाथ प्रसाद द्वारा बनारस (वाराणसी) में सन् १९६२ में मुद्रित, श्री बीजक विद्यालय के मुख्याध्यापक महाराज राघवदास प्रणीत "सर्वाङ्गप्रकाशिका" टीका सहित मूल बीजक ;

(३) श्री वेंकटेश्वर प्रेस में संवत् २०२५ (सन् १९६७-६८) में मुद्रित महात्मा पूरण साहेब द्वारा सम्पादित 'मूल बीजक' (टीका सहित) ;

(४) क० मुं० हिन्दी तथा भाषा-विज्ञान विद्यापीठ, आगरा के निदेशक श्री माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित और लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद में सन् १९६९ में मुद्रित।

इनमें से अन्तिम ग्रन्थ में ८१० साखियाँ उनके हिन्दी अर्थ के साथ दी गई हैं, किन्तु उनकी अकारानुक्रम सूची का अभाव है। पुस्तक-संख्या १ में ३५८ साखियाँ टीका और अर्थ के साथ हैं, किन्तु उनकी भी अनुक्रम-सूची नहीं है। शेष दोनों ग्रन्थों (संख्या २ और ३) में से प्रत्येक में ३५३ साखियाँ अर्थ-सहित सम्मिलित हैं और उनका अनुक्रम भी दिया गया है।

इन चारों ग्रन्थों में से किसी में भी साखियों के पाठ का मूल आधार नहीं बताया है और उनके पूर्वापर अनुक्रम में भी अन्तर है। इसी प्रकार कहीं कहीं साखियों के अर्थ में भी भिन्नता ही है। ऐसी स्थिति में यही समुचित जान पड़ा कि इस भाग के सम्पादन में बोधानन्द की व्याख्या का ही अनुसरण किया जाय तथा केवल आवश्यकता होने पर ही इन अन्य ग्रन्थों से सहायता ली जाए। तथैव, साखियों के सन्दर्भ और अन्त में दी हुई अनुक्रम-संख्या भी वही रहे जो इस पोथी में दी गई है।

महत्त्वपूर्ण विरले स्थलों पर उपरि-निर्दिष्ट संख्या १-३ ग्रन्थों के पाठ-भेद भी कोष्ठक में आधार-निर्देश पूर्वक दिए हैं। कबीर-वाणी के प्रथम भाग (रमैनी) के सम्पादन में इस विषय पर इतना जोर नहीं दिया गया था। इसके अतिरिक्त, इस भाग में व्याख्या में निर्दिष्ट उद्धरणों के सन्दर्भ भी पाद-टिप्पणियों में बतलाकर ग्रन्थ के अन्त में उनकी सूची भी दी गई है। इससे

ज्ञात होगा की व्याख्याकार ने अपनी व्याख्या किन-किन ग्रन्थों के उद्धरणों से पुष्ट की है और कबीर-वाणी कितनी गहराई में शास्त्र-सम्मत है।

इस भाग का सम्पादन करते समय मेरे मित्र **डा० लक्ष्मण शुक्ल** (जिनकी दी हुई हस्त-लिखित पोथी का यहाँ सम्पादन किया है) ने, अन्य कुछ ग्रन्थों के साथ, एक दुर्लभ पुस्तक, मुझे दी, जिसका नाम है—**'उपनिषद् वाक्य महाकोश'**। यह पुस्तक गुजराती प्रिंटिंग् प्रेस, बम्बई, से ई० सन् १९४० में प्रकाशित हुई है और इसमें २२३ उपनिषदों के उद्धरणों की अकारानुक्रम से सूची दी गई है। इसके आधार पर व्याख्या में आए हुए उपनिषदों के उद्धरणों के सन्दर्भ इस कृति में दिए गए हैं।

इस भाग का सम्पादन करते समय जिन-जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, वे प्रायः उसी प्रकार की हैं जिनका उल्लेख इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में किया गया है। फिर भी, इन सभी व्याघातों को पार करते हुए इस भाग का सम्पादन, जैसा बन पड़ा, उसे विद्वज्जनों के सामने रखते हुए मैं हर्षाभिभूत हो रहा हूँ।

अपनी भौतिक आयु के बयासी वर्ष पार कर लेने के बाद मेरा यह सोचना स्वाभाविक ही है कि **'लोक-क्षयकृत्'** काल द्वारा मेरे ग्रस्त होने के पहले यह परिश्रम सम्भवतः व्यर्थ न हो जाय, अतः मैंने पूर्ववत् ही यह कृति भी **'श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली'** को सौंप दी, और उसके प्राचार्य **डॉ० मण्डन मिश्र जी** ने अपने स्वाभाविक विद्यानुराग से अपनी संस्था से इसे मुद्रित और प्रकाशित करना सहर्ष स्वीकार किया, इस उपकार का प्रदर्शन यहाँ आवश्यक है। इसी प्रकार यह भी कि उसी संस्था के शोध एवं प्रकाशन विभागाध्यक्ष और मेरे सहृदय मित्र प्रोफेसर डा० **रुद्रदेव त्रिपाठी** ने इसके सम्पादन तथा मुद्रण में जो अभिरुचि ली, एतदर्थ मैं उनका भी ऋणी हूँ। हस्तलिखित पोथी के स्वामी डॉ० **लक्ष्मण शुक्ल** ने इस कार्य में मेरी सहायता की और इस बयासी वर्ष की आयु में निरन्तर जिनके सेवा-सौजन्य से मुझ जैसा 'पंगु' व्यक्ति भी इस आर्षपुरुषार्थ में सक्षम हुआ। सहधर्मिणी **श्रीमती सुशीला त्रिवेदी** तथा कुटुम्ब के व्यक्ति और परिजनों ने मुझे उत्साहित किया वे सभी इसके लिए मेरे आशीर्वाद के पात्र हैं। विश्वास है कि कबीर-कृति का यह द्वितीय भाग जिज्ञासुजनों के लिए और भी अधिक उपयोगी होगा।

हरिहर त्रिवेदी

३३, शंकर बाग
इन्दौर-४५२००६ (म० प्र०)

प्रस्तावना

१

कबीर-सहित्य में बीजक का स्थान प्रमुख है, जिसमें रमैनी, साखी और सबद (शब्द) का समावेश होता है। रमैनी और शब्द की इकाइयों की रचना गायन की उपयोगिता की दृष्टि से की गई है, अतः उनमें अनेक बातों का दुहराया जाना स्वाभाविक ही है। इस दृष्टि से साखी भाग का महत्त्व बढ़ जाता है, जिसमें सन्त कवि कबीर की आध्यात्मिक मान्यता के यथार्थ दर्शन होते हैं।

'साखी' शब्द संस्कृत भाषा के **'साक्षी'** शब्द से बना है, जिसका अर्थ **'पर-वाक्य का प्रमाण'** होता है। इन पर-वाक्यों (दूसरों के वचनों) में, जैसा कि हमारे व्याख्याकार ने एक स्थल पर स्पष्ट किया है, वेद, उपनिषद्, स्मृति, इतिहास आदि के साथ, महात्माओं के वचन भी समाविष्ट होते हैं।[१] ये सभी ज्ञान के मूल आधार हैं और इससे ज्ञात होता है कि सन्तकवि कबीर ने अपनी रचना में इन सभी को प्रमाणरूप से माना है, यद्यपि उनकी वाणी प्रधानतः गुरु के वचनों पर ही आधारित थी, जिनके साथ ही, उन्होंने अपने निजी अनुभव भी अपनी रचना में विशेषतः इस भाग में प्रदर्शित किए हैं। वस्तुतः, निजी अनुभव के आधार पर उनकी आत्यात्मिक मान्यताओं के साथ जगत् के व्यवहार पर भी बहुत कुछ कहा जा सकता है।[२]

यही कारण है कि बोधानन्द ने अन्य भागों की अपेक्षा इस भाग की व्याख्या में मूल स्रोतों के सन्दर्भ अधिक संख्या में उद्धृत किए हैं और इस प्रकार कबीर के उद्गारों को वेद, उपनिषद्, पुराण आदि के उद्धरणों से पुष्ट किया है। इसी हेतु इस भाग में उन उद्धरणों के मूल स्रोत को बतलाना अधिक आवश्यक प्रतीत हुआ जिसके हेतु मुझे अथक परिश्रम करना पड़ा और जिससे मेरी स्वयं की ज्ञान-वृद्धि भी हुई।

पुस्तक-परिचय

इस हस्त-लिखित पोथी का स्वरूप और आकार इसके प्रथम भाग के समान ही है—**३२ × १७.५ सेंटीमीटर**। यह भी, उसी की भाँति, हल्के नीले रंग के सफेद, मोटे विदेशी कागज पर लिखी गई है। इस भाग के कुल पत्रों की संख्या ५३ है और अन्तिम पृष्ठ केवल एक ही ओर लिखा गया है। प्रत्येक पृष्ठ का अंकन उसके ऊपर के भाग पर बाईं ओर अंकित है।

---

१. देखिए— साखी संख्या ७१ की व्याख्या।

२. तुलनीय—बड़ौदा से प्रकाशित अपनी बीजक की व्याख्या को 'स्वानुभूति' नाम दिया है।

इस प्रकार कुल पृष्ठ-संख्या १०५ होती है। प्रत्येक पृष्ठ पर दोनों ओर ३.५ सेंटीमीटर हाशिया छोड़कर और ऊपर और नीचे लगभग २ सेंटीमीटर रिक्त स्थान रखकर दस से बारह के बीच पंक्तियां लिखी गई हैं, जिनमें बीच में साखियों की दो या तीन पंक्तियाँ हैं। पुस्तक के भाग की अन्तिम पंक्ति में व्याख्याकार बोधानन्द का नाम तो निर्दिष्ट है किन्तु लिपिकार का नाम नहीं दिया है। तथापि अक्षर-सरणि और लिखावट के प्रकार से निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि इस भाग का लिपिकार भी वही 'विष्णु' था जिसने इस व्याख्या के अन्य भाग लिखे थे और जिसका नाम केवल अन्त में ही दिया गया है।

अक्षर-सरणि आदि

इस भाग में अक्षर-सरणि और लिखावट प्रथम भाग के समान ही है।[1] प्रत्येक साखी और उसकी व्याख्या के बाद भी क्रम-संख्या दी गई है। लिपिकार की हर प्रकार की अशुद्धियां, शब्द-पार्थक्य और विरामादि चिह्नों का पूर्णतया अभाव, कहीं-कहीं काटापीटी और सुधार और बीच-बीच से 'राम' और इसी प्रकार अन्य शब्द लिखने के कारण यह कार्य कष्ट-साध्य होने पर भी ईश्वरानुकम्पा से ही पूर्ण हुआ है। इसका मुझे हर्ष है।

पोथी में, जो पूर्ण है, कुल ३०१ साखियाँ अंकित हैं, किन्तु वास्तविक गणना में वे २९९ ही बैठती हैं क्योंकि लेखक (लिपिकार) ने प्रमाद-वश साखी-संख्या १८४ और २९९ छोड़ दी है। इसके पूर्व के जितने प्रकाशन मुझे उपलब्ध हो सके उन सभी में साखियों की क्रम-संख्या और उनके पूर्वापर क्रम में भी अन्तर पाया जाता है, किन्तु इसका विवेचन यहां निरपेक्ष ही है क्योंकि जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, यहाँ हमारा प्रमुख उद्देश्य केवल इस व्याख्या का सम्पादन ही है।

बोधानन्द कृत व्याख्या की कुछ विशेषताएँ

कबीर-कृति पर स्वामी बोधानन्द कृत व्याख्या की विशेषता की ओर इसके प्रथम भाग में निर्देश किया ही है, फिर भी इस कवि के व्यक्तित्व से सम्बन्धित अनेक तथ्यों को यह व्याख्या आलोकित करती है, जिनका सम्बन्ध व्याख्या में यथा स्थान दिया गया है। तथापि उदाहरण के तौर पर दो महत्त्वपूर्ण सन्दर्भों का उल्लेख यहाँ करना आवश्यक प्रतीत होता है। इनमें एक साखी की अर्धालिका है—'**सन (मसि) कागद छूयो नहीं कलम गही नहिं हाथ**।' इस उक्ति के आधार पर यह निष्कर्ष सर्वमान्य है कि कबीर अनपढ़ थे। किन्तु बोधानन्द की व्याख्या के पर्यालोचन में यह मत त्रुटि-पूर्ण जान पड़ता है। उनके अनुसार इस साखी में उन पूर्ववर्त्ती महात्माओं का सन्दर्भ है जिन्होंने केवल स्वानुभाव के आधार पर अपने उद्गार व्यक्त किए हैं। इस प्रसंग में व्याख्याकार ने यह भी लिख दिया है कि 'यद्यपि विद्या का अन्त है, तथापि अनुभव का अन्त नहीं।[2]

---

१. सन्दर्भ-प्रथम भाग, पृ० ११।

२. साखी-संख्या १६८। यह त्रुटिपूर्ण मत अन्य प्राचीन टीकाकारों को भी मान्य नहीं है। उदाहरण के लिए—सं० बी० ब०, साखी-संख्या १८४; पूरणदास, और राघवदास

इस व्याख्या की दूसरी एक साखी संख्या १६१ है, जिसके आद्य अक्षर हैं—**'बोली हमारी पूरबी'** (पूर्व की)। इसके आधार पर साधारण तौर पर यह सिद्ध किया गया है कि सन्त कबीर की कृति की यही मूल भाषा है यहाँ व्याख्याकार **'पूर्व की'** यह पाठ लेकर इस उक्ति को छान्दोग्योपनिषद् के महावाक्य **'तत्त्वमसि'** के साथ जोड़ते हैं।[1] इस प्रकार की अनेक विशेषताओं से भरी यह व्याख्या सचमुच अमूल्य है।

कबीर-मत (तुलनात्मक विवेचन)

सन्त कवि कबीर निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे। उनके आराध्यदेव का अभिधान 'राम' है, जो दाशरथी नाम का राम नहीं किन्तु परम ब्रह्म का पर्यायवाची है। कबीर का मत किसी भी पूर्वाचार्य के सिद्धान्तों से पूर्णतः मेल नहीं खाता, यद्यपि उन्होंने सभी पूर्वाचार्यों से कुछ न कुछ ग्रहण करके अपना निजी मत स्थापित किया है। उन्होंने समकालीन सभी मतों के स्पृहणीय तत्त्वों को भी अपने मत में स्थान दिया। इन सभी कारणों से उनकी उक्तियों के मूल स्रोत और वास्तविक स्वरूप का अन्वेषण एक समस्या ही बन गई और उनका मत रहस्यवाद की परिधि में समाविष्ट हो गया, जैसा कि कहा जाता है। उनके ज्ञान का स्रोत शास्त्रों का अध्ययन नहीं किन्तु सत्संग और पर्यटन है। वे बहुश्रुत थे। उनकी हृदय की अनुभूति गहरी थी और उनके उद्गार हृदय से आविर्भूत होने के फलस्वरूप हृदय को गम्भीर रूप से प्रभावित करते हैं।

किस पूर्वाचार्य से कबीर ने क्या-क्या ग्रहण किया इसका विश्लेषणण यहाँ करना अनुपयुक्त न होगा। सर्वप्रथम, आचार्य शंकर (७८८-८२० ई०) ने प्रतिपादित किया कि 'माया या अविद्या जगत् को उत्पन्न करती है' यद्यपि इन दोनों शब्दों का प्रयोग उन्होंने समानार्थ रूप में ही किया है। शंकर मत के अनुयायी परवर्त्ती आचार्यों ने माया को स्वर्ग का और अविद्या को जगत् का कारण माना है। यही मत बोधानन्द की व्याख्या में प्रदर्शित है।[2]

कबीर ने **शङ्कराचार्य** का **'माया-वाद'** स्वीकार अवश्य किया और उन्होंने यह भी माना कि ब्रह्म अद्वितीय है, यद्यपि 'उनकी 'माया' वह नहीं जिसका स्वरूप आचार्य शङ्कर ने 'सदसदनिर्वचनीय' कहा है; किन्तु मनुष्य को पथ-भ्रष्ट करनेवाले उस शैतान की तरह है, जो उसे सांसारिक विषयों में लिप्त और मोहित करके जीव के परमात्मस्वरूप होने में बाधक है। वह स्त्री-पुत्र, धन-धाम-धरा और स्वयं उसके शरीर में उसे मोहित कर देती है।

आचार्य शङ्कर के बाद उपासना का आस्पद एकदम परिवर्तित हो गया और ईस्वी ग्यारहवीं सदी के प्रारम्भिक काल में यामुनाचार्य ने भक्ति-मार्ग का प्रवर्तन किया, जिसे उनके पौत्र आचार्य रामानुज ने आगे बढ़ाया, यद्यपि उन्हें अपने उपास्यदेव का सगुण रूप ही स्वीकृत

(प्रत्येक की साखी-संख्या १८७)। इन टीकाओं में अन्तर तो है ही, परन्तु किसी से सिद्ध नहीं होता कि कबीर अनपढ़ थे।

१. पूर्व की = 'तत्त्वमसि' के अनुसार। यही अर्थ पूरणदास और राघवदास ने भी लिया है, किन्तु हनुमद्दास ने (साखी सं० १९०) इसका अर्थ 'प्राची' लिया है।

२. देखिए-साखी-संख्या और १५२ की व्याख्या।

था, क्योंकि उनके मत के अनुसार निर्गुण ब्रह्म की भक्ति या उपासना अथवा ध्यान होना असम्भव है। यामुनाचार्य ने अपने **'गीतार्थ संग्रह'** में ईश्वरप्राप्ति के लिए भक्ति-मार्ग को प्रधान स्थान देकर कर्म-योग और ज्ञान-योग को उसका सहकारी निरूपित किया है।[1]

आचार्य शङ्कर ने कर्म-मार्ग पर भारी प्रहार करते हुए ज्ञान और कर्म को विरुद्ध दिशा में बहने वाली दो सरिताएँ बतलाया है। यद्यपि उनका यह भी मत था कि कामना-हीन नित्य-कर्म से चित्त-शुद्धि होती है और इस प्रकार यह ज्ञान-मार्ग का सहायक है। कबीर को भी यही मत ग्राह्य दिखता है, जब वे सकाम कर्म को ही दोषपूर्ण मानते हैं। कामना-हीन कर्म के बारे में उन्होंने मौन ही साधा है।

कबीर द्वारा कर्म-मार्ग पर प्रहार करने के सम्बन्ध में वैष्णव-सम्प्रदाय के उन दो स्वतन्त्र मतों का उल्लेख यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है, जो रामानुज की मृत्यु (११३७ ई०) के डेढ़ सौ वर्षों के भीतर ही उठ खड़े हुए थे। इनमें से एक का नाम **'टैंकले'** है, जिसके संस्थापक **लोकाचार्य** (१२६४-१३२७ ई०) थे और जिसके सर्वश्रेष्ठ आचार्य **बरवर मुनि** (१५वीं सदी ई०) माने जाते हैं। इस मत के अनुसार, प्रपत्ति (भगवच्छरणागति) के बाद जीव को कर्मा-नुष्ठान की आवश्यकता नहीं रहती, जबकि दूसरा मत, जो **'बड़कल्लै'** नाम से अभिहित था, बाद में भी कर्म का अनुष्ठान आवश्यक बतलाता है। सम्भव है कि दक्षिण के 'टैंकले' मत की विचार-धारा से कबीर परिचित हों। उनके कर्म-सम्बन्धी विचार इस मत के समकक्ष हैं।[2]

कबीर के आराध्य देव राम विष्णु के अवतार नहीं, किन्तु परात्पर ब्रह्म ही हैं। रामानुज की तरह वे इन्हें अवतार नहीं मानते थे, इस सम्बन्ध में ऊपर कहा जा चुका है।

जीव का ब्रह्म के साथ ऐकात्म्य स्थापित करने का शङ्कराचार्य का सिद्धान्त कबीर ने माना है, यद्यपि आचार्य रामानुज को यह स्वीकार नहीं था। रामानुज ने प्रतिपादित किया है कि देह की मृत्यु के बाद जीव ब्रह्म रूप नहीं, किन्तु ब्रह्म के सदृश होता है। यही उनका 'विशिष्टाद्वैतवाद' है। आचार्य शङ्कर का उपरि-निर्दिष्ट जो मत कबीर ने स्वीकार किया है तत्सम विचार सूफी-मत में भी पाए जाते हैं, जिसके अनुसार ईश्वर एक ही है और आत्मा (जीवात्मा) उसी का अंश है।

कबीर परब्रह्म को निर्गुण और सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा को सगुण मानते हैं। रामानुज के अनुसार यह भेद नहीं; वे **'ईश्वर'** को ही सर्वोपरि सत्ताधारी मानते हैं और उनके अनुसार वही सृष्टि की उत्पत्ति भी करता है।[3]

दक्षिण में भक्ति-मार्ग का उद्भव ईसा की सप्तम शताब्दी से माना जाता है, जब तमिल प्रान्त के **'आलवार'** नामक सन्त अपने गायन से श्रोताओं को आनन्द-विभोर करते रहते

---

१. **'उभयपरिकर्मितस्वान्तस्यैकान्तिकभक्तिलभ्यः'**।

२. **'बड़कल्लै'** मत के प्रवर्तक वेदान्तदेशिक लोकाचार्य के समकालीन ही थे।

३. ब्रह्म निर्गुण और सगुण के सम्बन्ध में देखिए—बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन (सप्तम संस्करण), काशी, पृ० ३५२-५३।

थे। उनके गायन मातृ-भाषा में ही होते थे।

इस प्रकार दक्षिण में आलवारों और तत्पश्चात् यमुनाचार्य द्वारा प्रवर्त्तित **'भक्ति-मार्ग'** उत्तर भारत में भी फैल गया। दक्षिण में हुए **नामदेव** आदि सन्तों का भी इसमें पर्याप्त सहयोग रहा है। नामदेव के समकालीन **रामानन्द** ने भी यही मार्ग अपनाया और साथ ही राम-भक्ति का भी पर्याप्त प्रचार किया। उनके शिष्य कबीर और परवर्ती सन्तों ने भी भक्ति-मार्ग को ही प्रश्रय दिया, जिसके उदाहरण **नानक**, जायसी, **तुलसी, सूर, मीरा, रैदास, पीपा** आदि हैं, यद्यपि इनके उपास्य देव में अन्तर पाया जाता है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि भक्ति-मार्ग को सर्वोच्च स्थान पर अभिषिक्त करते हुए कबीर ने ज्ञान और विषय-वैराग्य को उसका अनिवार्य साहाय्यकारी बतलाया है। आत्म-ज्ञान के साथ ही भक्ति का आश्रय उन्हें मान्य था, जैसा कि उनकी रचनाओं से स्पष्ट है।[1]

रामानुज की ही भाँति उनके पारवर्ती **आचार्य निम्बार्क** (ईसा की बारहवीं सदी) ने भी मायावाद का खण्डन किया और **'सनत'** नाम से अभिहित सम्प्रदाय को अपनाया, जिसका उल्लेख बोधानन्द ने किया है। निम्बार्क का मत भेदाभेद और द्वैताद्वैत[2] के नाम से भी विख्यात है और इस मत के अनुसार जीवात्मा और जगत् ये दोनों परमात्मा से एक दृष्टि से भिन्न और दूसरी दृष्टि से अभिन्न हैं। अचेतन (जीव और जड़ जगत्) मूल और तत्त्व से ब्रह्म के ही अंश हैं। यह मत भी उस समय प्रचलित था। व्याख्याकार ने इसका उल्लेख किया है। कबीर इस मत से कितने प्रभावित हुए यह निश्चित करने का कोई साधन नहीं, यद्यपि इस विषय में कुछ तर्क उपस्थित किए जा सकते हैं। कबीर ने अपनी रचना में स्पष्ट रूप से कहा है कि संसार में हर व्यक्ति स्वयं और जड़ जगत् को ब्रह्म से भिन्न मानकर उसकी उपासना करता है, किन्तु 'मैं वही हूं **(तत्त्वमसि)**' इस तथ्य के जानकार बिरले होते हैं। ईश्वर वैकुण्ठ में नहीं किन्तु उसके हृदय में ही है।[3]

चेतन (जीव) चित् (ब्रह्म) का ही अंश है यह निम्बार्क का मत कबीर को मान्य है यद्यपि ब्रह्म का सगुण रूप वे स्वीकार नहीं करते। कबीर के परब्रह्म का अभिधान **'राम' है** जब कि निम्बार्क के अनुसार यही नाम **'कृष्ण'** है, जिसे लेकर राधा तथा गोपियों का वर्णन उसी

---

१. उदाहरण के लिए देखिए—साखी-संख्या १०, १५, ७४ और २१८। कबीर के समय से यही मत सदियों तक प्रचलित रहा। उनके परवर्ती **तुलसीदास** ने अपनी **'ज्ञानदीपिका'** में कहा है :—

द्वौ मारग हरि मिलन के ज्ञान भक्ति अभिराम।
इन पंथन में लहत फल धर्म, अर्थ, अरु काम॥ (दोहा २५)।

२. निम्बार्क के अनुसार द्वैताद्वैत (**वेदान्तपारिजात**), किन्तु उनके पूर्ववर्ती आचार्य भास्कर (१००० ई०) के अनुसार भेदाभेद (भास्कर भाष्य)। भेदाभेद के सिद्धान्त की प्राचीनता के लिए देखिए—बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ६२८।

३. साखी-संख्या २६ और २३६।

समय से जन-मानस और साहित्य में घर करने लगा था। कृष्ण के पर्यायवाची नामों का कबीर की रचना में आना सम्भवत: समय का प्रभाव जा सकता है।[1]

निम्बार्क के बाद वाली सदी में उत्पन्न '**आचार्य मध्व** ने भी मायावाद का विरोध किया। उनके उपास्य देव '**विष्णु**' थे। उनके द्वारा माना हुआ जन्मान्तरवाद कबीर ने अपनाया,[2] और इसी प्रकार उनका जगदुत्पत्ति का सिद्धान्त भी, जो सांख्य-मत से मेल खाता है। उनके मत के अनुसार परमात्मा स्वामी है और जीवात्मा उसका सेवक[3]। अनुचर स्वामी की प्रेरणा से कार्य-रत होता है यह मत भी कबीर ने स्वीकार किया ही है, यद्यपि वे उसे पर-ब्रह्म का अंश भी मानते हैं।

सूफी-सम्प्रदाय का कबीर पर जो प्रभाव पड़ा उस सम्बन्ध में ऊपर कहा जा चुका है। **नाथ-सम्प्रदाय** के यम-नियम, निवृत्ति की भावना, स्त्री-पुत्र और सांसारिक विषयों में मोह-त्याग आदि सिद्धान्त उन्हें मान्य थे, यद्यपि उन्होंने गोरक्षनाथ द्वारा हठयोग से देह को कष्ट देना देहाभिमान ही बतलाया है। शरीरस्थ षट्-कमल-चक्रों के सिद्धान्त को भी वे महत्त्व देते थे, जैसा कि साखी संख्या १२७ की व्याख्या से ज्ञात होता है, यद्यपि उसमें ब्रह्म के निवास के छ: नहीं किन्तु चार ही स्थान बतलाए हैं।

कबीर-मत-सार

ऊपर के विश्लेषण से हम देखते हैं कि शास्त्र और जीवन के सभी क्षेत्रों से सामग्री एकत्र करके उस समय प्रचलित विभिन्न सम्प्रदायों का समन्वय स्थापित करने के द्वारा हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति को एक ही धरातल पर संस्थापित करने का श्रेय काल-मान से सर्व-प्रथम कबीर को ही है। वेदान्त का भारतीय ब्रह्मवाद, भारतीय तथा इस्लामी '**एकेश्वर-वाद**' और '**सूफ़ी**' तथा **नाथ-पन्थियों का 'रहस्य-वाद'**-इन तीन धाराओं में प्रवाहित विचारों का संगम उनकी वाणी में पाया जाता है, वह भी उस समय जब कि उनके समसामयिक दार्शनिक विद्वान् अपने-अपने मत को प्रस्थापित करने की दिशा में शास्त्रार्थों में ही उलझ रहे थे। इस सन्त ने सभी शास्त्रार्थों से दूर रहकर धर्म का स्वरूप जन-सामान्य की समझ में आने योग्य बना दिया। उन्होंने निरूपित किया कि जिस ईश्वर को हम वैकुण्ठ आदि स्थानों का निवासी समझ कर उसकी खोज करते रहे हैं, वह प्रत्येक स्थल पर और घट-घट में व्याप्त है और इस प्रकार व्यक्ति स्वयं को चैतन्य-स्वरूप जान कर तथा देहाभिमान और वासना के त्याग द्वारा, सद्विचार, गुरु-सेवा और सत्संग से प्रभावित होकर श्रवण, मनन और कीर्तन द्वारा उत्तम जन्म का लाभ लेकर अन्त में ब्रह्मरूप हो जाता है, यही परमानन्द की प्राप्ति है। उन्होंने कर्म-मार्ग पर भारी प्रहार किया और

---

१. जैसे '**हरि**', 'बनवारी' आदि। साखी संख्या १३६ और २३८। रमैनी-संख्या १३५ में 'सारंग पानी' (– पाणि) भी आया है।

२. द्रष्टव्य— साखी-संख्या १०, ५५, २२२ आदि।

३. साखी-संख्या २५१, २६३ आदि। तुलनीय—'गले राम की जेवड़ी'।

'सम्प्रदायवाद, वर्णाश्रम-वाद, जाति-वाद' तथा बाह्याडम्बरों को अपसारित करके आत्म-ज्ञान पूर्वक भक्ति-मार्ग को ही ईश्वर-प्राप्ति का सर्वोच्च साधन माना। आत्म-चिन्तन के साथ राम (परब्रह्म) का स्मरण और कीर्तन ही उनका दिया हुआ प्रमुख मन्त्र है और इस प्रकार ये साधना के क्षेत्र में हमारे यथार्थ मार्ग-दर्शक है। धार्मिक सिद्धान्तों को हिन्दी भाषा के माध्यम से जनजन तक सर्वप्रथम पहुँचाने का वास्तविक श्रेय भी इस सन्त-कवि को ही है।

इन सभी सिद्धान्तों को कबीर ने अपने अनुभवों से भी पुष्ट किया, जिसके उदाहरण उनकी कविता में यत्र-तत्र उपलब्ध हैं। उनके विचार 'एकेश्वर-वाद' और समत्व-सिद्धान्त से ओत-प्रोत थे और इसी कारण विद्वानों ने उन्हें सामाजिक एवं धार्मिक क्रान्तिकारी तथा युग-प्रवर्तक माना है।[1]

इसी प्रकार सामाजिक क्षेत्र में भी इस सन्त-कवि की देन अमूल्य है। उन्होंने कहा है कि नर-देह दुर्लभ है और साथ ही नश्वर तथा क्षणभंगुर भी। अतएव इसका मोह त्याग कर विनम्र व्यवहार और समभाव तथा सुविचारपूर्वक दान-धर्म, मनुष्य-सेवा, अतिथि सत्कार, सद्विद्या तथा निर्लोभ आदि के व्यवहार को जीवन में समग्र रूप से अपना लेना चाहिए। ये सब हमारे सांसारिक जीवन और चरित्र को उज्ज्वल बनाते हैं। हिंसा-त्याग, मांस-भक्षण का निषेध, सब से विनम्र व्यवहार, वैष्णवी दया-भाव आदि के सम्बन्ध औरउल्लेख उनकी वाणी में यत्र-तत्र भरे हैं, जिनका आज की परिस्थिति में उपयोग हो सकता है।

कविता करना कबीर का ध्येय नहीं था यद्यपि उनके स्वाभाविक उद्‌गारों ने कविता का रूप ले लिया है। यहाँ हमारा यह ध्येय न होने के कारण मौनावलम्बन ही ठीक है।

कबीर-नाम के पर्याय

पिछले भाग के पृ० १६-१७ पर उस भाग में आए हुए 'कबीर' शब्द की व्याख्या के साथ उसके पर्याय-वाची शब्द भी दिए गए हैं।[2] उसी प्रकार इस भाग में व्याख्याकार ने जो पर्याय बतलाए हैं। उनकी सूची निम्नाङ्कित है—

ब्रह्म (६); श्रुति (६, ३६, १२१, २२२, २५२, २५४); जीवन्मुक्त (१३); शास्त्रज्ञ (१४); मुमुक्षु (१४, २५३); स्वात्माराम (२३, ८०, १८८); ज्ञानी (३७, ८७, १६६, २७०, ६८, १३८, १७३, २०३; २१०; २१४; २३६, २४४); ज्ञानी-विज्ञानवेत्ता (५५), कर्मकाण्डी (५७); सद्‌गुरु (११८); विद्वान् (२६४)।

---

१. उदाहरणार्थ, रामकुमार वर्मा : संत कबीर (पंचम संस्करण), इलाहाबाद, पृ० ३१-३२।

२. द्रष्टव्य—'**कबीर वाणी**' पृ० १६ तथा १७। श्री लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली द्वारा १९८४ ई० में प्रकाशित।

२

बोधानन्द की व्याख्या के परिप्रेक्ष्य में साखियों में प्रतिपादित कबीर-मत-सार

□

जिस पुस्तक का सम्पादन यहाँ किया जा रहा है, उसकी सभी साखियों में कबीर की विचार-धारा क्रमबद्ध नहीं है। उसके बीच-बीच में विषयान्तर भी हुआ है और साथ ही, एक ही विचार भिन्न-भिन्न स्थलों पर विभिन्न रूप में भी पाया जाता है। अतः प्रत्येक विषय से सम्बद्ध इस सन्त कवि के विचार यहाँ विषयक्रम से एकत्र किए जाते हैं। वे विषय ये हैं—

(१) ब्रह्म और संसार
(२) जीव (जीवात्मा)
(३) नर-देह की दुर्लभता
(४) मन और माया
(५) विषय-भोग और वासना
(६) जीवन्मुक्त
(७) अहिंसा, भूत-दया
(८) गुरु का महत्त्व
(९) ज्ञान
(१०) कर्म-मार्ग
(११) कबीर के राम
(१२) भक्ति

इन विचारों के कुछ तथ्य इस पुस्तक के प्रथम भाग में भी समाविष्ट होने के कारण यहाँ उनकी पुनरुक्ति होना सम्भव है। फिर भी, यह भाग स्वतन्त्र रूप से पठनीय हो इस दृष्टि से उपर्युक्त विभाजन द्वारा प्रत्येक शीर्षक के साथ उनकी विचार-धारा प्रदर्शित की गई है। सम्बद्ध साखियों की संख्या ऊपर अङ्कित है, और उनके साथ ही समान विचार वाला आप्त-वाक्य भी सन्दर्भ में दिया गया है।

(१) ब्रह्म और संसार साखी संख्या १२-१३,६४,६८,१५२,३००)

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते। (भ० गी०, १०,८)।

समस्त संसार की उत्पत्ति का बीज परब्रह्म ही है। वह प्रकृति के संसर्ग से विश्व की रचना करता है। चित् और प्रकृति के संयोग से माया में शुद्ध चैतन्य का जो बिम्ब पड़ता है उसे ईश्वर कहते हैं और अविद्योपाधि से वही बिम्ब जीव कहलाता है। देह में प्रवेश करते ही वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है।

इस ब्रह्मरूपी बीज के अंकुर ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं, जिनसे संसार-वृक्ष का निर्माण होता है। ये तीनों देव क्रमशः विश्व की उत्पत्ति, पालन और प्रलय करते हैं। सत्त्व, रज और

तम के अभिमान के कारण ये तीनों देव भी अभिमानी ही हैं, मुक्त नहीं। मुक्त तो केवल पर-ब्रह्म ही है, जो सबका मूल कारण है। वह लोक और वेद में व्याप्त होने पर भी इनसे पर है और समष्टि तथा व्यष्टि के पर्वतों के ऊपर शुद्ध सत्त्वमय स्थान में उसका निवास है। वह सर्वव्यापी है, और प्रत्येक व्यक्ति के मन में बसता है।[1] उसे वैकुण्ठ का वासी कहना भूल है।

(२) **जीव**—(२, ५-७, ९-११, १५-१६, २५, ३५, ४०, ४५, १०७, १११, १३०, १४१, १४५, १५४ २०१-०२, २०७, २४२, २८३)

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। (भ० गी०, १५,७।)

जीव (जीवात्मा) चैतन्य-स्वरूप, शुद्ध-बोध, निर्मल और परमहंस स्वरूप है। वह ब्रह्म से नितान्त अभिन्न है, किन्तु अज्ञान की उपाधि के कारण वह अपने इस वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाता। वह स्वयं प्रकाश-रूप है और शरीर तथा इन्द्रियों का प्रकाशक है, जिनमें वह गुप्त रूप से ओत-प्रोत है।

जीव शरीर से भिन्न है। वह चित् या उसका अंश ही है।[2] किन्तु इस स्थूल शरीर में प्रवेश करते ही वह अपने स्वरूप को भूलकर देहाभिमान के जाल में मछलियों की तरह फँस जाता है। यह माया का प्रभाव है। यही देहाभिमान उसे 'मैं ब्रह्म हूं' इस भावना से पृथक् कर देता है। विषयोन्मुख इन्द्रियाँ उसे अभिमानी बना डालती हैं, जिससे वह जन्म-मरण, सुख-दुःख, भूख-प्यास और शोक-मोह आदि देह-धर्म को अपने स्वयं के मानने लगता है। शरीर से एक मानकर जीव कर्म-मार्ग में भी प्रवृत्त होता है और मत-वाद के फेर में भी उलझता रहता है। धन-धाम, पुत्र और कलत्र आदि को भी अपने स्वयं के मान लेता है। यह सब शरीर की उपाधि है। विषय-वासना उसे डुबाती है, यही सब बन्धन है।

यह अनर्थमूल बन्धन सत्संग, सद्गुरु की कृपा और हरिचरणों की सेवा से ही छूटना सम्भव है। **'मैं देह हूं'** यह विचार करनेवाला चोर है और **'मैं चिदात्मा हूं'** यह भावना साहूकार करता है। आत्मा अमर है और शरीर नाशवान्। यह विचार करने पर माया का झूठा बन्धन छूट जाता है—यही जीव की मुक्ति है।

शरीर की व्यावहारिक सत्ता कबीर को मान्य है, पारमार्थिक नहीं। नाम और रूप व्यवहार के ही लिए आवश्यक हैं और आत्म-ज्ञान के द्वारा उन्हें नष्ट करना है। जीव ब्रह्म से अभिन्न है किन्तु अपने वास्तविक स्वरूप के अज्ञान से वह दुःख भोगता है।

(३) **नर-देह**—(१, ६७, ७८, ९३, १०१, ११४, ११७, १५१, २७६-७७, २९०)

देहेस्मिन् जीवः प्राणारूढो भवति। (शाण्डिल्योपनिषद्, १,१,४)।

मनुष्य-शरीर, पृथ्वी, जल, वायु तेज और आकाश इन पाँच तत्त्वों का बना हुआ एक

---

१. तुलनीय—ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। (भ० गी०, १५, १८)।

२. तुलनीय—**अस्ति आत्मा जीवाख्यः शरीरपञ्जराध्यक्षः कर्मफलसम्बन्धी** (ब्रह्मसूत्र, शाङ्कर-भाष्य, २, ३, १०। **एक एव परो ह्यात्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थितः** (भागवत, ११, १८,३२)।

पुतला है। ये तत्त्व अथवा कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म इसके कोठे कहे जा सकते हैं। यह जड़ है और इसका संचालक जीव है, जो इससे भिन्न किन्तु इसके रोम-रोम में और नाड़ियों में प्राण-घोष रूप से व्याप्त है। देह जीव का आश्रय है।

शरीर जड़ है; क्षण-भंगुर है। यह प्रतिदिन नष्ट होता रहता है और जीर्ण होने पर यह छूट जाता है।[1] अन्त में हड्डियां लकड़ी के समान जलती हैं और केश कपास जैसे। इसकी चार अवस्थाएँ हैं—बाल्य, तारुण्य, यौवन और जरा।

जीव के पृथक् होते ही शरीर निष्क्रिय हो जाता है, जिसे मृत्यु कहते हैं। शरीर जीव से भिन्न है, अतः इसमें अभिमान करना व्यर्थ है। यह अभिमान आत्म-ज्ञान के अभाव के कारण होता है। देह से कर्म, कर्म से वासना और वासना से पुनर्जन्म होता है। 'मैं आत्मा ही हूं' इस ध्यान से शरीर का मोह छूट जाता है। शरीर मनरूपी पक्षी के साथ टिड्डी बनकर उड़ता रहता है। शरीर तीन प्रकार का है—स्थूल, सूक्ष्म और कारण।[2] नर-देह दुर्लभ है, जो मिट्टी के बर्तन के समान है। अन्य जीवधारियों का मांस किसी न किसी काम आता है; मनुष्य का नहीं। किन्तु यह सर्वश्रेष्ठ भी है, क्योंकि यह चिदात्मा का स्थान है। इस का वास्तविक ज्ञान सत्संग से ही होता है। अतः नर-देह प्राप्त कर आत्मज्ञान न करना काँटे के समान ही है। मनुष्य-देह पाकर हिंसा करना पाप है, क्योंकि हिंसा प्रतिहिंसा को जन्म देती है। देह का वास्तविक ध्येय आत्मज्ञान ही होना चाहिए।

(४) **मन और माया**—(४१, ५६, ८७, ८६, ६६-६८, १३८-४०, १४८-५०, २१२, २३०, २३३)

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तौ निर्विषयं मनः॥ (मैत्रायण्युपनिषद् ६, ३४)

मन वासना-मय सूक्ष्म-शरीर है, जिसे संकल्प-विकल्पात्मक कहा जा सकता है। समुद्र में तरंगों की भाँति उसमें विभिन्न विचार उठते और लीन होते रहते हैं। ये ही विचार व्यक्ति को विषयोन्मुख करते हैं। यही मन देह में ममत्व का भी कारण है। सन्त कबीर ने कहा है कि मन वह बाज़ीगर है जो देह-रूपी बन्दर को नचाता रहता है। यह बगीचे में उड़ता और फूलों की सुगन्ध लेता हुआ भौंरा है। यही संसार को मोहजाल के आवर्त में परिभ्रमित करता है। मन प्रज्ञा-हरण करनेवाला चोर और धोखे में डालनेवाला ठग है। शरीर भी इन्द्रियों के साथ ही मन की प्रेरणा से ही गतिशील होता है। शास्त्र जानने वाले भी इसके आवेश और प्रभाव में आ ही जाते हैं।

मन के सभी विलास काया-कल्पित हैं। वस्तुतः माया का कोई अस्तित्व ही नहीं है। कबीर ने माया, विषय-वासना और अज्ञान इन सभी को लगभग परस्पर पर्यायवाची ही माना

---

१. तुलनीय— **स्नेहाधिष्ठानवर्त्यग्निसंयोगो यावदीक्ष्यते।**
ततो दीपस्य दीपत्वमेवं देहकृतो भयः॥ (पूर्वोक्त १२५, १)।

२. इन तीनों प्रकार के शरीर के विवेचन के लिए देखिए—रामगीता, श्लोक २८-३०।

है। इस माया-रूपी चुड़ैल ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश को भी मोह लिया। माया वह सर्पिणी है जिस पर कोई मन्त्र नहीं चलता। यह परमार्थ-साधन में बाधक है।

मन स्वभावत: विषयों की ओर दौड़ता है।[1] सद्गुरु का उपदेश और सन्तों का सहवास मन-मतंगज के लिए अंकुश का काम करते हैं और स्वात्म-विवेक अपने ही विचारों के द्वारा संसार को असद्रूप बतला कर किसी भी व्यक्ति को ब्रह्मज्ञान की दिशा में प्रेरित करते हैं। सत्संग और गुरु-सेवा के साथ ही, दान-पुण्य और अतिथि-सत्कार[2] आदि से भी मन शुद्ध होता है; इस विधि से उसमें माया का लय होकर निर्विकल्प का उदय होता है। तब संसार भी छूट जाता है। यही मुक्ति का साधन है।

(५) **वासना और विषय-भोग**—(२७-२८, ३०-३१, ५०, ६१, ६६, ८५, ९९-१००, १११-१२, २१०-११, २२३)

'विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते' (भागवत ११, १४,२७)।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—इन विषयों का सेवन बुरा है, क्योंकि इनसे वासना प्रबल होती है। यह माया के ही कारण होता है। धन-दौलत, धरा-धाम और पुत्र-कलत्र आदि में आसक्ति तथा संसार में ममत्व यह सब वासना के अन्तर्गत और मृषा-प्रपञ्च ही है। यह पतन की ओर ले जाता है। देह और मन से सम्बद्ध होने के कारण, विषय-भोग आत्म-ज्ञान में बाधा डालते हैं। सकाम बुद्धि भी आसक्ति को जन्म देती है, जिससे आत्म-विचार में प्रत्यूह होता है।

वासना उस ऊँट की तरह है, जो अपना मार्ग भूल कर बीहड़ों में खो जाता है। स्वर्गादि विषयों में मोहित हो जाना भी दुर्वासना ही है। ज्ञान-सरोवर में निवास करने वाला हंस यदि विषय-रूपी मत्स्य, मीन आदि को अपना आहार बनाता है, तो वह बगुला ही है। ज्ञान-हीन व्यक्तियों में ही विषत-वासना जागृत होती है।

सच्चा साहूकार वही है जो सच्चा व्यापार करे। श्रुति, स्मृति और धर्मशास्त्र में प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करने वाले व्यक्ति श्रेष्ठ हैं। इससे राग-द्वेष का निवारण और घोर अविद्या-रूपी निशा का अन्त होकर आत्मज्ञान-रूपी सूर्य का उदय होता है।[3]

दीर्घ-जीवन के हेतु आसन, प्राणायाम, जप-जाप और यज्ञ आदि केवल देहाभिमान से ही सम्बद्ध हैं। वैराग्यरूपी विरह के बाण से विद्ध हुए व्यक्ति को अष्टांग-योग आदि औषधि भी

---

१. द्रष्टव्य—भ० गी०, २, ६२-६३।

२. इन सब को कबीर के परवर्ती तुलसीदास ने भी महत्त्व दिया है। द्रष्टव्य रामचरित-मानस, उत्तर काण्ड।

३. तुलनीय—**शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासना सरित्।**
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि॥
अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारयेत् (मनः)।
(विवेकचूड़ामणि, ६०-६१)।

स्वस्थ नहीं कर सकती। गोरक्षनाथ योगासन में ही अटके रहे किन्तु उन्होंने ज्ञानाग्नि से वासना का दहन नहीं किया। कनफट योगी अपने कान फाड़ते हैं, किन्तु पारसरूपी चैतन्य का विचार ही नहीं करते। इन्द्रियों की तृप्ति और देहाभिमान में अटके हुए व्यक्ति की विषय-वासना छूटना असम्भव है।[१]

आत्म-विचार के बिना मुक्ति नहीं हो सकती। सत्य-स्वरूप को जाने बिना सब कुछ बेकार है। वर्ण और आश्रम भी अन्तःकरण में विषय-वासना को ही प्रज्वलित करते हैं।

सच्चा वैष्णव वही है, जो सभी प्राणियों को सम-दृष्टि से देखे। सद्विचार और सच्चे स्नेह के बिना, तथा समझ-बूझ के बिना अर्चन, दान-पुण्य, योगासन, यज्ञ-याग, सन्ध्या-पूजा आदि सब ऊसर भूमि में बीज बोने के समान ही हैं। शास्त्र पढ़ने पर भी सद्विचार के बिना वासना का अन्त नहीं हो सकता।

(६) **जीवन्मुक्त**—(२१, २२, ५६, १८७, २४२, २७८)

परमानन्दपूर्णो यः स जीवन्मुक्त उच्यते (तेजोबिन्दूपनिषद्, ४, ३)

जिसका देहाभिमान और साथ ही सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण नष्ट हो गए हों, वह व्यक्ति जीवन्मुक्त है। उसे मरजीवा या सर्वाराम भी कहते हैं। वह सिद्ध-स्वरूप है। विवेकी होने के कारण वह जानता है कि सुख-दुःख आदि देह के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। उसके राग-द्वेष छूट जाते हैं और स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण इन तीनों शरीरों के कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। वह निर्विकल्प, शान्त समाधि में रहता है।

जीवन्मुक्त संसार को स्वप्न के तुल्य मानता है और उसके अन्तःकरणरूपी समुद्र में चिदानन्द की अग्नि निरन्तर प्रज्वलित रहती है। वह अकेला ही रहता है, किसी जमात या समुदाय में नहीं। वर्ण और आश्रम से भी विरक्त रहकर वह सर्वदा ब्रह्मानन्द तथा भजन और ध्यान में निमग्न रहता है।[२]

जीवन्मुक्त दो प्रकार के होते हैं—प्रवृत्ति-मार्गी, जो श्रेष्ठ हैं और निवृत्ति-मार्गी, जो साधु हैं। सदैव निर्विकल्प में निरत ऐसे व्यक्ति वन्दनीय हैं।

शास्त्र-वादी जीवन्मुक्त नहीं होते, क्योंकि वे ईश्वर को परोक्ष मानते हैं।

(७) **हिंसा-निषेध**—(१८०, १९३, २०८)।

मा हिंस्याद् भूतजातानि (भागवत, ६, १८, ४७)।

जीव-हिंसा का कबीर ने घोर विरोध किया है। हमारे व्याख्याकार ने इसे स्पष्ट करते

---

१. तुलनीय—एहि तन कर फल विषय न भाई। स्वर्गौ स्वल्प अन्त दुखदायी॥
नर-तनु पाइ विषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं॥
(रामचरितमानस, उत्तर काण्ड)।

२. तुलनीय—**यदा सर्वे विमुच्यन्ते कामा ह्यस्य हृदि स्थिताः।
तदा मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥** (कठ०उप०, २, ३, १४)।

हुए कहा है:—'ईश्वर ने प्राणीमात्र के लिए खाद्य-सामग्री उत्पन्न की है—जैसे, मनुष्य के लिए अन्न आदि, पशुओं के लिए तृण, तपस्वियों के लिए कन्द-मूल, बच्चों के लिए दूध, पक्षियों के लिये फल-कीट आदि, सिंह के लिए पशु-भक्षण, राक्षसों के लिए आमिष, देवों के लिए हवि, पितरों के लिए श्राद्धान्न, आत्मा के लिए प्राण और ज्ञानियों के लिए अनुभव। इस प्रकार जब हरि ने सबके लिए खाद्य उपजाया है, तो हे पण्डित ! विचार कर, और मछली, भेड़, बकरे मत खा। और न और हिरण-सरीखे जीव मार।' ईश्वर प्राण-रूप से सबके भीतर विद्यमान है। करोड़ों बार पुराण सुनने से भी हत्या का पाप नष्ट नहीं होता। हिंसा करने के बजाय, व्रत, दान, तीर्थाटन, हरि-स्मरण, यज्ञ-यागादि का आश्रय अधिक उपयुक्त है।

(आज की परिस्थिति में यह कथन सचमुच विचार करने योग्य है।)

(८) गुरु—(३, १८, २२, १०५, ११८, १२६, १९७, २९१)।

गुरूपदेशश्रवणात् शिष्यस्तत्त्वमयो भवेत्।
तस्मादुपासितात् सम्यक् सहजं प्राप्यते गुरोः॥ (अमनस्कोपनिषद् २, ४, ६)।

भारतीय प्राचीन परम्परा के अनुसार, कबीर ने गुरु का महत्त्व भी यथार्थ रूप से आँका है। उन्होंने लिखा है कि सद्गुरु पारस है जिसके संसर्ग से व्यक्ति के रूप में रहनेवाला जीव सुवर्ण बन जाता है। गुरु में उनका अटल विश्वास था। श्रुति, स्मृति, उपनिषद् आदि के सदुपदेश द्वारा तथा चैतन्य-रूप जीव जड़ शरीर से भिन्न है, यह प्रदर्शित करता हुआ सद्गुरु अज्ञ जन को सन्मार्ग पर लाता है और 'तत्त्वमसि' (तू वही शुद्ध चैतन्य है) इस वेदान्त के निचोड़ का साक्षात्कार कराता है। वह शिष्य के देहाभिमान को खण्ड खण्ड करके ब्रह्मविद्या के उपदेश द्वारा चैतन्य का साक्षात्कार कराता है। अविद्या-जनित संसाररूपी समुद्र से पार करानेवाला सद्गुरु ही है।[1] कबीर ने उसे परमेश्वर की श्रेणी में बैठा दिया है और कभी तो उसे परमेश्वर से भी ऊँचा दर्जा दिया है।

गुरु की ही भाँति सन्त और सच्चे वैष्णव भी कबीर ने मान्य बतलाए हैं।

(९) ज्ञान—(१४, १०६-११४, २२८-२९, २५०, २८२)।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तं स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥ (गीता, ४, ३८)

जीवात्मा परमात्मा (परब्रह्म) का प्रतिबिम्ब ही है, उससे भिन्न नहीं, इसकी यथार्थ अनुभूति ही सत्य और सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है। उसकी उपज गुरु सेवा और सत्संग से होती है। परमहंस ही यथार्थ ज्ञानी है, जो दूध से पानी को अलग कर देता है। वह अज्ञानी को पाप-पुण्य, भला-बुरा आदि उपदेश द्वारा समझाकर उसकी वासना को नष्ट कर देता है।

---

१. तुलनीय—**'गुरु बिन भवनिधि तरै न कोई'**। (तुलसीकृत रामायण, उत्तरकाण्ड)। प्राचीन ग्रन्थों के प्रारम्भ में गुरु का महत्त्व सर्वत्र बतलाया है।

वासना का अवसान प्रबल (तीव्र) वैराग्य-वृत्ति से ही सम्भव है और उसके लिए शुद्ध विचार अग्नि का काम करते हैं। विषय-वासना नष्ट होने के उपरान्त बुद्धि अपने आप हरि-स्मरण में संसक्त हो जाती है, जिससे ज्ञानी व्यक्ति निजी मूल अज्ञान को पूर्णतया भस्म करके जीवन्मुक्त होकर शान्ति-रूपी फल प्राप्त करने का अधिकारी बन जाता है। यही मोक्ष है। इसके लिए मन और देह की शुद्धि आवश्यक है।

वस्तुतः श्रुति, स्मृति, धर्मशास्त्र आदि के उपदेशों के अनुसार जीवन-यापन करने से और राग-द्वेष आदि के निवारण से अविद्या का अन्त और तदुपरान्त आत्म-ज्ञान का उदय होता है जिससे अधिकारी ब्रह्मवेत्ता बनकर तथा अपने चैतन्य-स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर कैवल्योपलब्धि कर सकता है।[1]

(१०) **कर्म-मार्ग आदि**—(८, १७, २६, ४०, ५४, ७२, ८७, १२०, १५०, १७५-७७, २००, २४३)

तपस्तीर्थं जपो दानं पवित्राणीतराणि च।
नालं कुर्वन्ति तां सिद्धिं या ज्ञानकलया कृता॥ (भागवत, ११, १९, ४)

व्रत-नियम, यज्ञ-याग, दान-पुण्य, सन्ध्या-पूजा, तीर्थाटन, हठाभ्यास, शुष्क समाधि, प्राणायाम आदि सभी प्रक्रियाएँ आत्म-ज्ञान के अभाव में पंगु ही हैं। अपना सच्चिदानन्द स्वरूप जाने बिना शाश्वत सुख की प्राप्ति नहीं होती। अतः पुनर्जन्म लेना ही पड़ता है। क्योंकि आत्मज्ञान के अभाव में वासना बनी ही रहती है। उसके अन्त के बिना मुक्ति नहीं होती।

इस प्रकार माला, तिलक, भस्म, सम्प्रदाय-चिह्न आदि का उपयोग केवल बाहरी ढोंग है। इन सभी प्रक्रियाओं में भी देहाभिमान न्यूनाधिक रूप में रहता ही है, जो आत्म-ज्ञान का बाधक है। अपना चित्-स्वरूप जाने बिना इनका आश्रय लेनेवाले नानात्मवादी मत-भेद के कारण परस्पर झगड़ते रहते हैं। वे अविद्यान्धकार के समुद्र में आकण्ठ मग्न रहते हैं। अतः वह सब ऊसर भूमि में बीज बौने के समान है।

शास्त्रों में जिन अनेक यज्ञों का विधान है, वे सभी सकाम हैं, अतः वे मोक्ष-प्राप्ति के साधन नहीं। तीर्थ-स्नान और सुवर्ण-दान से हिंसा का पाप नहीं छूट सकता। इन सब की अपेक्षा अतिथि-सत्कार और सुविचार-पूर्वक दान, व्रत, हरि-स्मरण अधिक आदि श्रेयस्कर हैं।

नाथ-सम्प्रदाय के प्रति कबीर के मन में आदर होते हुए भी उनके योगाभ्यास के विरुद्ध आवाज उठाने में वे नहीं चूके। उन्होंने कहा है कि अष्टाङ्गयोग द्वारा कायाकल्प करके गोरख ने केवल अपनी देह माँजी, पर आत्मज्ञान के बिना उसका चित्त शुष्क ही रहा। कनफट योगियों के कान तो छिन्न हो गए, किन्तु देहाभिमान दूर नहीं हो पाया। इसका विवेचन ऊपर किया गया है।

इस प्रकरण को कबीर और व्याख्याकार ने माया के साथ भी जोड़ा है। वे लिखते हैं

---

१. **तमात्मसंस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्** (कठ-उप. २, १२, १३)।

कि दान-पुण्य आदि करने वाले की माया शुद्ध है और अधर्म से संग्रह करनेवाले की माया 'चाण्डाली' है।[१]

(११) **कबीर के राम (ब्रह्म)**—(४३-४४, ९२-९३, १३६, २०५, २३६, २५१, २७२, २९९)

राम एव परं ब्रह्म राम एव परं तपः।
राम एव परं तत्त्वं श्रीरामो ब्रह्मतारकम्।
(रामरहस्योपनिषद्, १, ६)

कबीर के उपास्य देव 'राम' हैं। वे सर्वव्यापी हैं और प्रत्येक जीव के हृदय में गुप्तरूप से निवास करते हैं[२] फिर भी वे उससे अभिन्न ही हैं। वे अद्वैत हैं, अन्तर्यामी हैं और वे ही उसे जीवन्मुक्त करनेवाले भी हैं।

कबीर के उपास्य देव का यही नाम है, यद्यपि हरि, सारंगपानी (शार्ङ्ग-पाणि) आदि नामों का उपयोग भी कभी कभी उन्होंने किया है। कबीर के राम निर्गुण ब्रह्म ही हैं, दशरथ-अजिर-विहारी नहीं।[३] वे त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु और महेश) से परे हैं, और संसार के व्यष्टि-समष्टिरूपी पर्वत के ऊपर शान्त स्थल में निवास करते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि जड़ और चेतन जगत् में अनुस्यूत होकर भी वे इनसे पृथक् ही हैं। प्रत्येक आत्मा में राम ही प्रति-बिम्बित हैं।

'वही मैं हूँ' यह समझने वाला व्यक्ति राम का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकता है। वह स्थिर-बुद्धि होकर पत्थर और सुवर्ण को समदृष्टि से देखता है। राम-रूपी अग्नि द्वेष, कलह आदि सब विकार भस्म कर देती है।

कबीर के अनुसार जो राम (परमेश्वर) को वैकुण्ठ आदि उच्च स्थानों का निवासी मानते हैं, यह उनकी भूल ही है। वे अवतार-वाद भी नहीं मानते।

राम (ब्रह्म) के लिए कबीर का 'हरि, सारंगपानी' आदि का प्रयोग कुछ अटपटा-सा लगता है, और निर्गुण ब्रह्म को सगुण रूप से इसप्रकार सम्बोधित करने में कुछ असामंजस्य अवश्य है, पर इसका परिहार किया जा सकता है। वस्तुतः सगुण और निर्गुण ब्रह्म में जो भेद किया जाता है, वह भजन और उपासना की ही दृष्टि से है।[४] इसके दो पहलू हैं और भिन्न भिन्न दृष्टि-कोणों से वही अद्वितीय ब्रह्म सगुण भी माना जाता है। अतः यद्यपि निर्गुण ब्रह्म ही

---

१. मांस-मद्य का सेवन, तीर्थ-यात्रा, मूर्ति-पूजा आदि बाह्याचार का विरोध गोरक्ष और नामदेव ने भी किया था; कबीर ने उस पर केवल विशद प्रकाश डाला है।

२. तुलनीय—**तमात्मसंथं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्** (कठ उप०, २, १२, १३)।

३. तुलनीय— **वर्षमासदिनानां तु विमुच्य नियमाग्रहम्।**
सर्वदा प्रेमभक्त्यैव सेवनं निर्गुणं मतम्॥ (भागवत, २, ४, १५)।

४. द्रष्टव्य— बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन (सप्तम संस्करण), पृ० ३५२-५३।

चरम लक्ष्य है,[१] तथापि उपासना के लिए उसे कभी कभी सगुण मान लेना भी कबीर को स्वीकार है। इस सन्त द्वारा 'हरि' आदि शब्दों के प्रयोग से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं।[२]

(१२) **भक्ति-मार्ग**—(३७, ४४, ६३, २१८, २३६, २४३, २६३, २७२, २८७, २६६)

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते॥ (नारदपञ्चरात्र)

ऊपर देखा जा चुका है कि दक्षिण के आलवार सन्त और उनके बाद उनसे प्रभावित हुए यामुनाचार्य ने भक्तिमत का प्रचुर प्रचार किया था। उन्हीं के अनुसरण में समसामयिक प्रवर्तमान भक्तिमार्ग को कबीर ने अपनाया ही नहीं, किन्तु उसे मुक्ति के लिए सर्वाधिक महत्त्व भी दिया है। **'भक्ति पियारी राम की'** इस उपदेश के साथ, उनके कथन के अनुसार, 'मैं राम ही हूँ, तद्रूप हूँ' यही आत्म-दर्शन यथार्थ भक्ति है, यह निरूपित करते हुए, इस सन्त ने नाम-स्मरण, ध्यान, कीर्तन आदि का प्रावधान भी किया ही है। यही उनकी भक्ति का यथार्थ स्वरूप है।

रामानुज ज्ञान और भक्ति के समुच्चयवादी हैं। इनके मत में भगवान् के प्रति प्रपत्ति (शरणागति) ही प्रमुख ध्येय है। उन्होंने कहा है कि कर्म के द्वारा चित्तशुद्धि होने पर ही भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। किन्तु कबीर ने आत्मज्ञान से भक्ति का उदय बतलाया। यह भी ध्यान देने योग्य है कि रामानुज के परवर्ती निम्बार्क, मध्व और तदुपरान्त नामदेव के प्रचार के कारण कबीर के पहले से सारे देश में भक्तिमार्ग का प्राबल्य स्थापित हो ही चुका था।

कबीर ने यह भी कहा है कि स्वरूप-ज्ञान के बिना तथा अन्तःकरण का, देह का और संसार का अभिमान छोड़े बिना, केवल कंकर-पत्थर धोना भक्ति को विकृत करना ही है। उनके द्वारा प्रतिपादित कीर्तन के महत्त्व के लिए यहाँ श्रीमद्भागवत का एक श्लोक उद्धृत किया जाता है:—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥ (१२, ३, ५१)।

भक्ति के लिए ईश्वर को घट-घट में व्याप्त समझना आवश्यक है, यह भी कबीर ने कहा है और उन्होंने राम से इसी जन्म में दर्शन देने की प्रार्थना भी की है (ताकि मुक्ति मिल जाय और पुनर्जन्म न लेना पड़े)। वे कहते हैं कि शरीर केवल काजल की ही कोठरी है, जो काजल से घिरी है, और यदि भक्ति से विमुख हुए तो यह सब व्यर्थ ही है। पण्डित लोग 'ईश्वर सगुण है या निर्गुण' इस झगड़े में ही व्यस्त रहते हैं, किन्तु हमें केवल भक्ति से ही प्रयोजन है।[३] भक्ति

---

१. सन्त तुलसीदास ने भी निर्गुण और सगुण को अभिन्न ही माना है। द्रष्टव्य-रामायण, उत्तरकाण्ड, भुशुण्डी-गरुड़-संवाद।

२. इसी विषय का विस्तृत विवेचन प्रथम भाग में भी किया गया है। देखिए पृष्ठ २८-३०।

३. तुलनीय—**यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना।**
तत्फलं लभ्यते सम्यक् कलौ केशवकीर्तनात्॥ (भागवत-माहात्म्य, १, ६८)

में तल्लीनता प्रदर्शित करने की दृष्टि से उन्होंने चन्द्र-चकोर का और इसी प्रकार के कतिपय अन्य उदाहरण भी दिए हैं।

इस सन्त ने अपनी सर्वोत्कृष्ट धारणा का आश्रय लेकर यहाँ तक कह दिया है कि अतुल सम्पत्ति और सुविस्तृत भूभाग पर अधिकार भी भगवद्भक्ति की तुलना में तुच्छ ही है।[1]

उपसंहार

पूर्वोक्त विवरणों में सन्त कबीर के दार्शनिक विचारों का विहंगावलोकन करने के पश्चात् यहाँ धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में उनके योगदान का स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है।

जैसा कि हम देख चुके हैं, इस महापुरुष का आविर्भाव उस समय हुआ था, जब देश में धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र संकटग्रस्त थे। एक ओर शैव, वैष्णव, शाक्त, जैन और बौद्ध सम्प्रदायों के पारस्परिक राग-द्वेष और वादप्रतिवादों के कारण धार्मिक विद्रोह अंकुरित और पल्लवित हो, रहे थे तो दूसरी ओर विदेशी आक्रान्ताओं के अत्याचारी शासन ने देश के सांस्कृतिक एवं सामाजिक वातावरण को झकझोर डाला था। समय-समय पर उद्भूत इस प्रकार की विषम परिस्थितियों में जिन सन्तों, महापुरुषों और दिव्य विभूतियों ने हमारा मार्ग प्रदर्शन किया, मानवता के उन क्रान्तिकारी महानुभावों में सन्त कबीर मुकुटमणि हैं।

कबीर की अन्तर्दृष्टि सत्परक है और उनके स्वानुभव गहरे हैं। उनकी रहस्यमयता भी स्वाभाविक सरलता से ओत-प्रोत है। वे एक उज्जवल भविष्य-द्रष्टा के रूप में समाज-सुधारक थे। सामाजिक पाखण्डों और चिरकाल-व्याप्त रूढ़ियों पर उन्होंने अपनी प्रभावपूर्ण वाणी से तीक्ष्ण प्रहार किए, वैसे ही कर्म-मार्ग पर भी, जिसके विरोध का श्रीगणेश उनके समय से पूर्व ही हो चुका था। अध्यात्म, सामाजिक बाह्याचार, दर्शन, धर्म आदि सभी विषयों में उनकी पैठ अगाध और अप्रतिहत है।

इस सन्त ने मानव-जीवन का लक्ष्य निर्दिष्ट करते समय बताया है कि प्रत्येक व्यक्ति को संसार में शान्तिमय और सुखमय जीवन व्यतीत करने के पश्चात् अन्त में वहीं पहुँच जाना है, जहाँ से वह आया है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वेद, स्मृति, धर्मशास्त्र, पुराण और इतिहास में प्रतिपादित मार्ग का अनुसरण ही उपयुक्त है और उसका दिग्दर्शन गुरु-कृपा से ही सम्भव है। कबीर साहब का मत है कि सर्वोच्च सत्ताधारी केवल चैतन्य (निर्गुण ब्रह्म) ही है देहावच्छिन्न चैतन्य (जीव) उसका प्रतिबिम्ब मात्र है, जो माया से आबद्ध होकर अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। इस अज्ञान के आवरण को दूर कर जीवन्मुक्त हो जाना हमारा चरम लक्ष्य होना चाहिए, जिसका साधन केवल भक्ति-मार्ग ही है।

---

१. यही बात भागवत में भी कही गई है। द्रष्टव्य—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

(भागवत, ११, १०, १४)।

इस श्लोक का भाव साखी-संख्या २१८ से मिलता-जुलता है।

स्वार्थ और परमार्थ, इहलोक और परलोक, तथैव गृहस्थी और संन्यासी के लिए इस सन्त-कवि की रचनाएँ शाश्वत मूल्य रखती हैं। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि कबीर ने समसामयिक मतमतान्तरों के पारस्परिक संघर्ष से दूर ही रह कर अपना स्वतंत्र मत स्थापित किया, जिसमें सभी पूर्वाचार्यों से अच्छी बातें संगृहीत की हैं और उन्हें निजी अनुभवों और उपयुक्त उदाहरणों से पुष्ट भी किया है। हमारे टीकाकार बोधानन्द ने कबीर-मत की पुष्टि में वेद, उपनिषद् आदि शास्त्रों के प्रमाण भी दिए हैं।

ऐहिक जीवन के सम्बन्ध में भी सन्त कबीर के उपदेश महत्त्वपूर्ण हैं। काम, क्रोध आदि षड्विकारों को दूर कर, अहिंसा, भूत-दया, विनम्र व्यवहार, सद्विचार, निश्छलता, संयम और अनासक्त वृत्ति से पवित्र जीवन व्यतीत करने के बारे में उन्होंने बार-बार कहा है। इन सब से जीवन उज्जवल बनता है, जिससे ईश्वर-भक्ति का उदय और उद्रेक होता है। यही मनुष्य को अपने गन्तव्य तक पहुँचाने का प्रमुख साधन है। जन-सामान्य के जीवन-परिष्कार से लेकर उसे आदर्शों के उच्च शिखर तक पहुँचाने की जितनी क्षमता इस सन्त की वाणी में है, उतनी शायद ही किसी अन्य के वचनों और विवेचन में हो।

भक्ति-मार्ग में दलित वर्ग को ऊपर उठाने के बारे में भी कबीर ने जो लिखा है वह महत्त्वपूर्ण है। आज के संघर्षमय जीवन में कबीर के उपदेशों की कितनी उपादेयता हो सकती है, वह कहने की आवश्यकता नहीं है। इस दृष्टि से इस सन्त कवि के विचार और उपदेश युग-युगों तक हमारा मार्ग प्रदर्शित करते रहेंगे। यही इस सन्त की महत्ता है। राष्ट्र-निर्माण की दृष्टि से भी कबीर की रचना ध्यान देने योग्य है।

विष्टप-लवणजलाब्धेः पारं प्राप्तुं समुत्क-मनुजानाम्।
सुखकर-तरण्ड-कल्पा जयति महार्हा कबीर-वाणीयम्॥

कबीर-मत

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥

(ईशोपनिषद्, ११)।

भारतीय शास्त्रों के अनुसार मानव-जीवन का चरम लक्ष्य कैवल्य-प्राप्ति है और सभी दर्शनों ने इस ध्येय का प्रतिपादन अपने अपने ढंग से किया है। किन्तु लक्ष्य एक ही होने पर भी उसके विवेचन में दार्शनिक सूक्ष्म विचारों का पुट इस प्रकार मिश्रित हो गया है कि उसके गम्भीर रूप में हृदय की सरल भावना लुप्त हो गई है। सन्त कबीर ने यद्यपि इस सम्बन्ध में उपनिषद् और धर्मशास्त्रों में वर्णित सिद्धान्तों का भी प्रश्रय लिया है, तथापि उनकी वाणी में रूपक और उलटवाँसियों की भरमार है। यहां हमारा ध्येय इन अलंकरणों का विचार करते हुए इस सन्त की विचार-धारा का परिचय देने की चेष्टा करना है, यद्यपि इसमें पूर्वोक्त विचारों की पुनरावृत्ति हो जाना साहजिक ही है।

कबीर साहब के मतानुसार, ज्ञान वैराग्य और भक्ति ये तीनों कैवल्य-प्राप्ति के क्रमिक

साधन हैं। उनकी विचार-सरणि इस प्रकार है:—

मानव-जीवन कितना दुःखदायी है इसका विवरण देते समय कबीर ने हमारे शास्त्रों का ही सहारा लिया है, जिनके मत में सर्वोच्च सत्ताधारी केवल चैतन्य (ब्रह्म) ही है और उसका प्रतिबिम्ब जीव (जीवात्मा) इस नश्वर और क्षणभंगुर शरीर में प्रवेश करके नियामक रूप से उसे गति प्रदान करता है। वही दिव्य जीवांश अज्ञान (अविद्या) से परिच्छिन्न होकर अपने वास्तविक रूप को भूलकर, इस शरीर को, जो केवल उसका आवरण है, अपना सब कुछ समझ लेता है और इस काठ की कोठी से स्वयं को अभिन्न मान लेता है। साथ ही, वही बद्ध जीव पुत्र-कलत्र, धन-धाम आदि में मोहित होकर संसार से अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है और इस प्रकार वह आत्मतत्त्व के साथ भगवान् को भी भूल जाता है। यह देहाभिमान उस कृष्ण सर्प के समान है, जिससे दंशित होकर देह के सुख-दुःख, भूख-प्यास आदि धर्मों को भी वह स्वयं के ही मानने लगता है और पाप-पुण्य के जाल में फँसकर जाति-पाँति का अभिमानी होकर कर्म-मार्ग में प्रवृत्त हो जाता है। बीहड़ों में पथ-भ्रष्ट ऊँट की तरह इस जीवात्मा को, चंचल मन संसार रूपी उद्यान में यत्र-तत्र भ्रमण का लालच देकर, परिस्थिति को विकट बना देता है। ऐसा व्यक्ति किसी एक स्थान पर टिक नहीं सकता। वासना के वशीभूत होकर वह उस पशु के समान बन जाता है, जो कासार-तट पर फैले हुए हरित तृण को देखकर उस ओर दौड़ पड़ता है। वासना उस उन्मत्त हथिनी के समान है, जो ज्ञानरूपी तरु उन्मूलित कर देती है। उसे प्रवृत्त करने वाला मन शरीर-रूपी बन्दर को बाजीगर के समान नचाता है; मन ठग के समान धोखें में भी डालता है, जैसा कि उस प्रसंग में कहा ही है। ऐसी विकट परिस्थिति में, इस चुड़ैल वासना और दुष्ट मन के कारण मूर्ख मनुष्य स्वर्ग और पातालरूपी दो पाटों वाली चक्की में गेहूँ सरीखा पिस जाता है। वह अविद्यारूपी समुद्र में अभिमान की शय्या पर निःशंक सोया रहता है और अन्त में कालरूपी अहेरी उसे अपना ग्रास बना डालता है। इस प्रकार इन्द्रिय-तृप्ति के लिए जड़ पदार्थों में भटकने वाला वह विषयी व्यक्ति बार-बार जन्म-मरण के पथ में पड़ जाता है।

देह-बद्ध जीवात्मा की इस दयनीय दशा का उल्लेख कबीर ने बार-बार किया है और साथ ही नर-योनि की दुर्लभता प्रदर्शित करके उन्होंने इसका सदुपयोग करने पर भी बल दिया है। उनके मत के अनुसार आत्म-विद्या के सेवन का यही सर्वोत्कृष्ट अवसर है, जब गुरु-कृपा से 'तत्त्वमसि (तू वही है)' और 'सोऽहमस्मि (मैं वही हूं)' आदि महावाक्यों का मनन जीव की मुक्ति का एक-मात्र साधन बन जाता है। वेद उपनिषद् आदि शास्त्र उस देहाभिमानी जीव का मैल दूर कर उसे अपने वास्तविक रूप में चमकाने के लिए सुहागे का काम करते हैं। उसके लिए अज्ञान (अविद्योत्पन्न वासना) को दूर कर केवल ब्रह्मानन्द प्राप्त करना और स्वयं को चिदात्मा तथा एक रस समझना ही परम सुख है। यही सब शास्त्रों का निचोड़ है और अपनी रचना में कबीर ने भी इसी तथ्य पर जोर दिया है।

सन्त कबीर के मतानुसार, आत्मज्ञानी और सुख दुःखादि को देह-धर्म समझने वाला ही सच्चा विवेकी है। कर्ममार्गी तो यज्ञ याग आदि के चक्कर में पड़ जाने के कारण स्वरूप-ज्ञान से प्रायः अछूते ही रहते हैं। इसी प्रकार माला, तिलक, मत-वेष आदि बाह्याडम्बर आत्मा

(जीवात्मा) से नहीं, किन्तु केवल शरीर से सम्बद्ध होने के कारण महत्त्वहीन ही हैं।

आत्मज्ञान की प्राप्ति के हेतु कबीर ने गुरु-कृपा का महत्त्वपूर्ण योग बतलाया है, जैसी कि हमारी प्राचीन मान्यता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' वाली वृत्ति मुमुक्षु के अन्तःकरण में गुरु-कृपा से ही निरन्तर बनी रहती है। गुरु, महावाक्यों के सतत उपदेशरूपी कृपाण से, विषय-समूह में भ्रमणशील मनरूपी विहंग के संकल्प और विकल्परूपी दोनों पंखों का उच्छेद करने के द्वारा उर्वर अन्तःकरणरूपी खेत में भक्ति का बीज भी वपन कर देता है।

गुरु की महत्ता प्रदर्शित करने के हेतु कबीर ने सिकलीगर का उदाहरण भी दिया है, जो उपनिषद् का माँजा देकर अन्तःकरण का मैल दूर कर देता है। वह अन्तःकरण में सद्विचार-रूपी धान्य का आरोपण करके उसे शास्त्रामृत से सींचता रहता है। दिव्यज्ञान के साथ भक्ति का उदय होने पर मुमुक्षु का घर (अन्तःकरण) भी जल जाता है (पूर्णतः वासनाहीन हो जाता है) और छप्पर (वैराग्य और भक्ति) ही शेष रह जाता है। इसी को कबीर ने 'छप्पर नाँचे घर जले' इस उक्ति से समझाया है (साखी संख्या ५९)।

इसी प्रसंग में कबीर ने एक और उलटबाँसी का उपयोग किया है। वे कहते हैं कि पानी की बूंद तो समुद्र में समा जाती है (अदृष्ट हो जाती हैं) किन्तु (सारा) समुद्र (एक) बूंद में समा जाना विरले (व्यक्ति) ही जानते हैं (साखी संख्या ६०)। हमारे व्याख्याकार बोधानन्द के अनुसार इसका तात्पर्य समुद्र-रूपी अविद्या का 'चैतन्य' रूप बूंद में समा जाना (नष्ट हो जाना) है। यह आत्मज्ञान हो जाने के बाद की स्थिति है।

सद्गुरु के उपदेश को इतना महत्त्व देने पर भी कबीर केवल उसी को पर्याप्त नहीं मानते। इस सम्बन्ध में मनोनिग्रह के लिए उन्होंने जो अनेक उदाहरण दिए हैं उनमें से केवल एक का उल्लेख यहाँ किया जाता है। जिस प्रकार किसी लकड़ी के पूरी जल जाने पर ही निर्धूम वह्नि के दर्शन हो सकते हैं, उसी प्रकार विषय-वासना को समूल नष्ट करने के लिए उन्होंने सज्जनों का सहवास भी एक आवश्यक तत्त्व बतलाया है, जिससे सद्विचार नियमित रूप से पनपते रहें और बीच बीच में विषयों की ओर चंचल मन न दौड़ जाय। सन्तों की संगति से सद्विचार अन्तःकरण में स्थिर हो जाते हैं, कुसंगति से चित्त चलायमान होता रहता है (६३) शरीर भी नश्वर ही है और वृद्धावस्था में कष्ट भी बढ़ जाता है (६२)। अतः इन भव-रोगों को समूल नष्ट करने के हेतु सद्विचार, सदाचार और अहिंसा आदि का आश्रय लेना उचित है (१३५)। विवेक पूर्वक किया हुआ दान-पुण्य आदि सत्कार्य भी इस मार्ग में सहायक हो सकता है, किन्तु तीर्थ-भ्रमण में लोभ आदि की मात्रा प्रबल होने की आशंका विद्यमान रहती है (२०९-२२२)।

भक्ति के सम्बन्ध में भी इस सन्त के उद्गार हृदयस्पर्शी हैं। वे कहते हैं कि समय-समय पर उद्भूत होने वाले सभी क्षणिक विचारों से मुक्त होकर एकान्त स्थल में एकात्मता का चिन्तन करना चाहिए (२६८)। यही भगवद्गीता आदि शास्त्रों का भी उपदेश है। साथ ही यह भी समझना है कि परमात्मा वैकुण्ठ और कैलास में नहीं, अपितु प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में है और वह उसे सन्मार्ग में प्रवृत्त करता रहता है (२६४)। भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन

करते हुए कबीर ने यहाँ तक कह डाला है कि अतुल सम्पत्ति और विस्तृत राज्य पर अधिकार भी उसकी तुलना में तुच्छ ही हैं (२१८)।

भक्ति-मार्ग कठिन है। सद्गुरु की कृपा से उसका अंकुर जमता है और ऊपर बतलाए हुए प्रकारों के जल-सिंचन से वह पल्लवित और पुष्पित होता है। अन्यथा प्रस्तरभार से भरी लोहे की नाव में विषय-वासना की गठरी सिर पर रखकर कोई समुद्र पार नहीं कर सकता (२२७)। यह सोच समझकर अच्छा जन्म व्यतीत करने और भगवद्भजन करने से ही आत्मोद्धार संभव है (४३-४४)। भक्ति से निर्विकल्प का उदय होता है और मैं स्वयं राम (या हरि) ही हूँ, यह जान कर एकाग्रचित्त से भक्तिप्रणत होने से अविद्या-रूपी समुद्र पार करके चिदात्मा में समा जाना ही परम पुरुषार्थ है (२५१)। यही मुक्ति है।

दार्शनिक क्षेत्र में कबीर का मूल्यांकन

(१) भारतीय दर्शनों में प्रारम्भ से ही कर्म, ज्ञान और इन दोनों का समुच्चय, ये तीनों साधन-मार्ग बतलाए जाते हैं। इन तीनों का संघर्ष भी आदि-काल से चला आया है। ईसा की आठवीं सदी में श्री शँकराचार्य ने कर्म-मार्ग का सयुक्तिक खण्डन करके केवल ज्ञान-मार्ग को अंगीकार किया। तदनन्तर रंगनाथ मुनि (८२४-९२४ ई.) ने आलवार सम्प्रदाय के भक्ति-रस से प्रभावित होकर भक्ति-मार्ग का महत्त्व प्रतिष्ठापित किया, जिसे उनके पौत्र यामुनाचार्य और यामुनाचार्य के पौत्र आचार्य रामानुज ने विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिपादन करते हुए आगे बढ़ाया। इनके परवर्त्ती निम्बार्क, मध्व आदि आचार्यों ने तथा रामानन्द, कबीर, तुलसी, सूर आदि कवियों ने भी उसी मार्ग का अनुसरण किया।

सन्त कबीर ने अपनी समन्वय-दृष्टि से ज्ञान और भक्ति इन दोनों तत्त्वों की आवश्यकता पर अपनी रचना में बल दिया है। उनके मत के अनुसार ईश्वर-भक्ति के लिए आत्मज्ञान आवश्यक है; उसके बिना भक्ति निरर्थक ही है। हमारे व्याख्याकार बोधानन्द ने भी इस मत को आर्ष उद्धरणों से परिपुष्ट किया है। सन्त कबीर के अनेक परवर्ती कवियों ने भी अपनी रचनाओं में भक्तिमार्ग का आश्रय लिया है।

(२) कबीर निर्गुण के उपासक हैं। उनके मत के अनुसार अज्ञानोपहित चैतन्य (जीवात्मा) का शाश्वत और निरुपाधि चैतन्य (ब्रह्म) में लीन हो जाना ही मुक्ति है और इस हेतु वे जीव की संसार-यात्रा सुख-पूर्वक हो सके इस दृष्टि से सद्विचार, सदाचार और खासकर अहिंसा का भी, जो वैष्णव धर्म का मूल तत्त्व है, उपदेश देते हैं। रूपक, अन्य अलंकार और उलटबाँसियों से भरे हुए ये उपदेश आधुनिक समय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु इस सन्त की प्रवृत्ति यदा कदा सगुण के आश्रय की ओर भी झुकती दिखाई देती है, जब वे हरि, गोपाल, और सारंगपानी (शार्ङ्गपाणि) की उपासना का उल्लेख करते हैं। उन्होंने यह भी कहा है:—'निर्गुण की सेवा करो सगुण का करो ध्यान।' परमात्म-सम्बन्धी उनके विचार अस्पष्ट ही हैं, सम्भवतः इसका कारण यह है कि वे अक्खड़, फक्कड़, मस्तमौला और बेपरवाह प्रकृति के थे। यह तो

ऊपर देखा ही जा चुका है कि वास्तव में ईश्वर निर्गुण ही है और उसे सगुण मान लेना दृष्टि-कोण का ही अन्तर है।

(३) कबीर के उपास्य देव 'राम' हैं, किन्तु वे राम की अपेक्षा राम के नाम को अधिक महत्त्व देते हैं। यही प्रवृत्ति उनके कुछ परवर्ती कवियों में भी दिखाई देती है। तुलसीदास जी ने राम-चरित-मानस में कहा है:—

'राम-नाम मणि-दीप धरु जीह देहरी द्वार।
'तुलसी भीतर बाहिरे जो चाहसि उजियार॥'

इसी प्रकार नरसी मेहता ने कहा है :—'राम नाम शूँ लागी टाली'।

सन्त कवियों को दो वर्गों में विभक्त किया जाता है। इनमें से एक वर्ग में वे आते हैं जो केवल पद-रचना करके उनका गायन करते थे, जैसे आल्वार, जयदेव, चण्डीदास, सूर, रैदास, मीरा, रसखान, आदि। ये भक्त, सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के चक्कर में कभी नहीं पड़े। दूसरे वर्ग में उन सन्तों का समावेश होता है, जिन्होंने तर्क, उपदेश, दार्शनिक चिन्तन और शिक्षा आदि का सहारा लिया था। इस वर्ग में कबीर, नानक, तुलसी, नन्ददास आदि का समावेश होता है। इन सभी महानुभावों में समय के मान से कबीर सर्व-प्रथम हैं और भक्तिकाल, जो कि हिन्दी का स्वर्ण-काल माना जाता है, उसके आदि-प्रवर्तक होने का श्रेय इन्हें प्राप्त होता है, जैसा कि इस लोकोक्ति से ज्ञात होता है:—

भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाए रामानन्द।
परगट किया कबीर ने सप्त द्वीप नव खण्ड॥

□

प्रस्तावना

३

सन्त कबीर द्वारा निर्मित पांच लघुकृतियों का एक परिचयात्मक दिग्दर्शन

कबीर-वाणी के इस भाग में जिन लघु-कृतियों का समावेश किया गया है वे हैं:—(१) **बसन्त**, (२) **चाचरी(चर्चरी)**, (३) **हिण्डोला**, (४) **वल्ली और** (५) **विरहुली**। हस्तलिखित पोथी में जिनका विवरण ऊपर दिया जा चुका है, इनके पचीस पत्र अर्थात् पचास पृष्ठ हैं, क्योंकि दो पृष्ठों का एक ही पत्र मानकर उन पर संख्या अंकित की गई है। प्रत्येक पत्र के ऊपर के बाएँ कोने में '**विज्ञानबीज** (या विज्ञान बी०)' लिखकर उसके नीचे पत्रांक लिखा है, और ऊपर के दाएँ कोने में '**प्रकाशिका**' अंकित है। उसी पृष्ठ के निचले दाएँ कोने में '**श्रीराम**' लिखा हुआ है।

पिछले दो भागों के पत्रों की भांति इन पृष्ठों पर भी ठीक बीच में २, ३ या ४ पंक्तियों में कबीर के पद्य लिखे हैं और पृष्ठ के ऊपर और नीचे के भाग में उसकी व्याख्या। व्याख्या की लगभग उतनी ही पंक्तियाँ हैं। चारों ओर छोड़ा हुआ हाशिया, कागज और स्याही का प्रकार आदि सब पहले दो भागों के पृष्ठों के समान ही हैं। अक्षर-सरणि भी वही है। ह्रस्व-दीर्घ और अनुस्वार तथा विसर्ग के प्रयोग में भारी असावधानी की गई है। एक-एक अक्षर पृथक् पृथक् है, किन्तु न तो शब्दों के बीच कहीं रिक्त स्थान है और न कहीं सारे लेखन में पूर्ण या अन्य विराम का ही चिह्न। इस भाग में काटा-पीटी और दुरुस्तियाँ अवश्य कम हैं, किन्तु अशुद्धियाँ पहले दो भागों की अपेक्षा अधिक ही हैं। यह सब देखते हुए अनुमानतः हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि या तो लिपिकार को अपनी अशुद्धियाँ दुरुस्त करने का समय नहीं मिला या इस ओर दुर्लक्ष्य किया गया।

इस प्रारम्भिक वक्तव्य के बाद प्रत्येक कृति का प्रतिपाद्य उसकी विशेषताओं के साथ नीचे दिया जाता है।

१. वसंत :—

इन कृतियों में सर्व-प्रथम 'वसन्त' है, जिसके कुल बारह पद हैं। प्रत्येक पद की पंक्तियों की संख्या में भेद है, जो नीचे प्रत्येक पद के साथ बतलाया जायगा। इसका प्रारम्भ

इस प्रकार है :—'श्रीगुरवे नमः [।] अथ द्वादश-वसन्त-व्याख्या वर्ण्यते' और अन्त में—'इति वसन्त-व्याख्या संपूर्ण(र्णा) श्रीरा० (=राम)'।

प्रथम पद में सात पंक्तियाँ हैं, जिनमें, सर्वप्रथम, 'वसन्त' इस नाम की सार्थकता प्रदर्शित करते हुए कहा गया है कि जिसके हृदय में 'मैं=ब्रह्म हूँ' यह आनन्द लगातार बना रहता है, उसके लिए सदैव 'वसन्त' है। वह व्यक्ति अजर और अमर है। प्रत्युत, जिसमें यह भावना नहीं है वह मलिन वासना का शिकार होकर देह को सब कुछ समझ कर उसमें अभिमान करने लगता है। ब्रह्म-भावना 'ज्ञानामृत' है और इसका आस्वादन जीवन्मुक्त ही कर सकते हैं।

दूसरे पद में नौ पंक्तियां हैं, जिनमें देहोपाधि से युक्त जीव और चिदात्मा का ऐक्य बतलाते हुए कहा गया है कि देह में व्याप्त जीव निर्मल, प्रकाशरूप तथा जड़ शरीर और (चंचल) मन तथा चित्त से भिन्न ही है।

तीसरे पद में, जिसमें सात पंक्तियाँ है, शरीर और उसमें व्याप्त चिदात्मा का भेद दुहराकर, शास्त्रज्ञों और वेष-धारियों को विषय-वासना से दूर रहने का संकेत किया है और उपनिषदों के कथन का स्मरण करा कर पाखण्ड को छोड़ने का उपदेश दिया है। ऐसा न करने पर यमराज के अतिथि होने का भय भी बतलाया है।

चतुर्थ पद में पाँच पंक्तियाँ हैं, जिसमें अनादि अविद्या को वृद्धा स्त्री मानकर हृदय-स्पर्शी रूपक बाँधा गया हैं। उसमें उन वर्णाश्रम-धर्मियों का उपहास किया गया है जो विषय के फेर में ही पड़े रहते है। आत्म-विचार और विज्ञान-बुद्धि के अभाव में ये लोग अभिमानी होते हैं।

पाँचवें पद में पाँच पंक्तियाँ हैं, जिनमें माया, अविद्या और चिद्-शक्ति का भेद और कार्य प्रदर्शित किया है। साथ ही यह भी बतलाया है कि संसार की उत्पत्ति करने वाली माया अन्धकार-स्वरूप है, जैसा कि वेद में भी कहा गया है।

छठे पद में सात पंक्तियों में उल्लेख किया है कि अविद्या वासना को जन्म देती है और वासना से अहंकार उत्पन्न होता है। देहाभिमानी जीव की संचालन-प्रणाली बतलाकर यह भी उपदेश दिया है कि यह सब मोह छोड़ कर हरि-स्मरण करना ही श्रेयस्कर है।

सातवे पद में पाँच पंक्तियाँ हैं। उसमें स्पष्ट किया है कि ईश्वर का निवास (दूर) वैकुण्ठ में नहीं किन्तु अपने हृदय में ही है और यह भी कहा है कि सकाम-कर्म का मोह छोड़ कर उसकी उपासना से ही कैवल्य-प्राप्ति होती है। इस हेतु विविध विकल्प को तिलांजलि देकर, महावाक्य, स्मृति, सज्जन-संगति, गुरुसेवा और निजी अनुभव का लाभ लेना हितकारक है।

आठवें पद में, जिसमें दस पंक्तियाँ हैं, अन्तःकरणरूपी घर में ही युद्ध छिड़ने का सुन्दर रूपक बाँधा है। यह लड़ाई एक ओर चिदाभास और दूसरी ओर वासना के बीच बतलाई है जिसकी सहायक इन्द्रियाँ हैं। अन्त में ब्रह्मज्ञान की ही विजय होती है। ईश्वर स्वयं के ही हृदय में विद्यमान है (वही सहायक है)।

नवें पद में (७ पंक्ति) नर-देह की दुर्लभता का स्मरण दिला कर, उसका सदुपयोग करने अर्थात् राम-नाम जपने का अनुरोध किया गया है। शरीर नश्वर है यह बतलाने के लिए उदाहरण भी दिए गए हैं।

दसवें पद में (९ पंक्ति) संसार की उन्मत्तता का उल्लेख करके भक्ति करने की प्रेरणा दी गई है और मन को वश में रख कर 'राम-नाम जपो' यह कथन दुहराया गया है।

ग्यारहवें पद में (७ पंक्ति) हठ योग के अभ्यास की ओर संकेत द्वारा यह कहा गया है कि माया-चमत्कार से मोहित न होकर तथा ईश्वर को अपने हृदय में ही समझ कर उसका ध्यान करो। साथ ही, यह भी कहा है कि वैकुण्ठ-वास की प्रार्थना करने वाले सभी सगुण के उपासक हैं, निर्गुण के नहीं।

बारहवें और अन्तिम पद में कुल चार पंक्तियाँ हैं, जिनमें ज्ञानी और अज्ञानी का स्वरूप और भेद बतलाया गया है। ज्ञानी माया से निर्लिप्त रह कर झंझट में नहीं पड़ता, जब कि अज्ञानी उसी से मोहित होकर स्त्री-पुत्र, धन-धाम आदि का ही विचार करता रहता है। इसी के फल-स्वरूप ज्ञानी मुक्ति को प्राप्त करता है और अज्ञानी को नरक-वास भोगना पड़ता है।

२. चर्चरी :—

चाचरी, चाचरि या चाचर (संस्कृत-चर्चरी या चर्चरिका) गायन का एक विशिष्ट प्रकार है, जिसमें भाग लेने वाले दो व्यक्ति या समुदाय एक एक अंश कर-तल-ध्वनि के साथ बारी बारी से उच्च स्वर में गाते हैं। यह होली के फाग की तरह उन्हीं दिनों में गाया जाता है। कबीर ने भी तीसरे पद में 'फगुवा' शब्द का उपयोग किया ही है।

हमारी पोथी में इसके दो भाग किए हैं। दोनों भागों के अन्त में १ और २ की संख्या लिखी गई है। पोथी में इसका प्रारम्भ 'अथ चाचरिः' इस शब्द-समुदाय से 'वसन्त'के तत्काल बाद, विराम-चिह्न के बिना ही किया गया है। सारी रचना दोहा-छन्द में है, यद्यपि गायन की दृष्टि से उनमें विकार आ गया है।

पहले भाग में बारह और दूसरे भाग में कुल सात दोहे हैं। कोई भी छन्द संख्यांकित नहीं है, यद्यपि सम्पादन सुकर बनाने की दृष्टि से यहाँ उनका वर्गीकरण करके संख्या अंकित की गई है।

इस कृति का विषय 'माया या अविद्या' है। प्रथम भाग में उसका वास्तविक स्वरूप और व्यापक प्रभाव बतलाया है और दूसरे भाग में उससे दूर रहने के बारे में कहा गया है।

इस रचना का प्रमुख प्रतिपाद्य संक्षेप में इस प्रकार है:—

चाचरी-१

अद्वैत वेदान्त में माया (या अविद्या) का एक विशिष्ट स्थान है और उसे 'सदसद्-

भ्यामनिर्वचनीया' कह कर 'भावरूप' माना है। यही मत कबीर ने भी स्वीकार किया है। क्योंकि शंकर के परवर्त्ती आचार्यों ने मायावाद का सावधारण खण्डन किया है, व्याख्याकार बोधानन्द को शंकराचार्य के परवर्त्ती अद्वैत-वादियों के सिद्धान्त भी मान्य हैं, जिनके अनुसार देवों के साथ 'अविद्या' और मनुष्यों के साथ 'माया' शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त किये जाते हैं।

चर्चरी के प्रथम दो पदों में माया की व्यापकता प्रदर्शित करके कहा गया है कि इसका कारण वास्तविक ज्ञान का अभाव ही है और यह रूपमती ललना की भाँति अपने शृङ्गार आदि से देव और मनुष्य सभी को मोहित कर लेती है, चाहे वे कितने भी सामर्थ्यवान् हों। उसका स्वरूप अवर्णनीय है और सारे जगत् का निर्माण यही करती है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, नारद और सनकादि भी इसी के वशीभूत होकर अभिमान करते हैं। यह अभिमान की जननी है।

तीसरे पद में प्रदर्शित है कि माया व्यक्ति के विचार लुप्त करके उसे अभिमानी बना देती है जिससे उसमें ममत्व का संचार हो जाता है। जीवन्मुक्त व्यक्ति देह, धन-धाम, स्त्री-पुत्र आदि में मोह नहीं रखता और इसी के फल-स्वरूप वह आवागमन से तर जाता है। चौथे पद में भी यही विचार दुहराया गया है। पंचम पद में प्रदर्शित किया गया है कि माया के ही कारण जाति-पाँति और ऊँच-नीच का अभिमान फैला है। उदाहरणों द्वारा यहाँ यह भी समझाया गया है कि माया और अविद्या को त्याज्य बतलाने वाले भी उस में डूबे रहते हैं।

चाचरी १ के छठे और अन्तिम पद में माया की आकर्षण-शक्ति का उल्लेख करके कहा है कि इसके फेर में पड़ने पर व्यक्ति अपना मार्ग निश्चित नहीं कर पाता और पथभ्रष्ट हो जाता है। वह आवागमन के फन्दे से छूट नहीं सकता।

अन्त में मुक्ति का प्रकार बतलाते हुए व्याख्याकार ने ब्रह्म-विद्, ब्रह्म-विद्वद्वर, ब्रह्म-बरीयान् और ब्रह्म-विद्वद्वरिष्ठ ये क्रमिक अवस्थाएँ निरूपित की हैं जिनका स्पष्टीकरण नीचे (चर्चरी, संख्या २) में किया गया है।

चाचरी-२ (चर्चरी या चर्चरिका)

इस भाग में कुल सात छन्द (दोहे) हैं, और जैसा कि ऊपर कहा गया है, इन सभी में 'माया' से छुटकारा पाने का उपदेश दिया गया है। छन्द के प्रत्येक चतुर्थांश के बाद, गायन के ढंग को महत्त्व देकर, ये शब्द हैं :—'मन बौरा हो (अरे बावले मन)'। इससे स्पष्ट है कि इनमें से प्रत्येक वाक्य 'मन' को ही सम्बोधित करके कहा गया है—**'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः।'** यह सुज्ञात है ही।

चाचरी संख्या १ की व्याख्या के अन्तिम वाक्य में जिस 'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' नामक संज्ञा का उल्लेख किया गया है, उसी की प्राप्ति का मार्ग इस भाग के प्रारम्भ में आता है। उसका प्रकार यह है। सप्त-भूमिका का विचार करके चित्त की एकाग्रता हो जाने पर, साधक को पार-

मार्थिक पदार्थों का भी भान नहीं रहता और तब वह 'जीवन्मुक्त' होकर एवं 'त्रिपुटी' को भी छोड़ कर, 'मैं आत्मा ही हूँ'—इस आनन्द में मग्न हो जाता है । वह चिद्रूप हो जाता है ।

दूसरे छन्द में कहा है कि जगत् केवल एक चित्र है, अतः पुत्र-कलत्र आदि में मोह छोड़-कर निर्विकल्प का आश्रय लेना ही श्रेयस्कर है । इसके परवर्त्ती दो छन्दों में (संख्या ३-४) मोह और वासना के त्याग का उपदेश सन्निविष्ट है; यहाँ 'वन-गज और बन्दर' का उदाहरण देकर प्रदर्शित किया है कि मोह में पड़ने के कारण ही वे परवश होकर पीड़ा सहन करते हैं । विषया-सक्त मन के कारण ही जन्मान्तर का फेर प्रवर्तित होता रहता है । तदनन्तर पाँचवें छन्द में कहा है कि यह बावला मन, शास्त्र पढ़ने पर भी, अन्तःकरण की अशुद्धि का प्रमुख कारण है; अतः इसे विषय-वासना के मार्ग से विज्ञानानन्द की ओर मोड़ना योग्य है । अविद्या नष्ट न हुई तो मनुष्य निरा पशु ही है । इसी कारण उसे अनेक योनियों में जन्म लेना पड़ता है ।

अन्तिम दो छन्द (संख्या ६-७) इस सारी रचना के अभिधेय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं । छठे छन्द में कहा है कि अज्ञान को छोड़ कर, आत्मानुभव द्वारा आत्मतीर्थ में ही स्नान करके अन्तरात्मा में ही विराजमान 'नारायण-सत्य' का दर्शन कीजिए । और अन्तिम छन्द (संख्या ७) में उपदेश दिया है कि शास्त्र से सम्बन्धित वाद-विवाद और प्रतिवाद को छोड़ कर तथा स्वयं को 'राम' और सर्वतः 'परिपूर्ण' मान कर राम-रूपी नौका में सवार होकर 'हरि-स्मरण' करने से ही कैवल्य-प्राप्ति होगी ।

इस प्रकार यह सारी रचना आत्म-ज्ञान पूर्वक राम-भक्ति के उपदेश से ओतप्रोत है । यही सन्त कवि कबीर का प्रमुख उपदेश भी है ।

३. हिण्डोला :—

चर्चरी या चाचरी के बाद हमारी पोथी में सन्त कबीर की जो अन्य लघु कृति लिखी है, उसका नाम 'हिण्डोला' है । पोथी में इसका प्रारम्भ 'अथ हिंडोला [।*] श्रीगुरवे नमः' इस प्रकार होता है । व्याख्या में भी इसी प्रकार का अनुसरण किया गया है ।

इसके कुल तीन भाग हैं; उन सभी में गायन के पद हैं । प्रथम भाग, जिसमें कुल उन्नीस पंक्तियाँ हैं, यह भाग बड़ा है; और शेष दो छोटे, जिनमें से प्रत्येक में आठ पंक्तियाँ हैं । इन भागों का प्रतिपाद्य यहाँ दिया जाता है ।

इस कृति के प्रारम्भ में सन्त कवि कबीर ने संसार का चित्र एक झूले के समान खींच कर काल्पनिक प्रकार से प्रदर्शित किया है कि माया-अविद्या के कारण, देव, मनुष्य और पशु-पक्षी-सभी उस झूले में झूलते रहते हैं किन्तु आत्मज्ञान और भक्ति के अभाव के फल-स्वरूप उनकी वास्तविक स्थिति और ध्येय अनिश्चित ही रहते हैं । यह जन्म-मरण का भ्रमान्दोलन है ।

प्रथम पद में संसार को झूले का रूपक निरूपित करके, उसे भ्रम-हिंडोला (भ्रमा-न्दोलन) कहा है । पाप-पुण्य, अविद्या, मोह और भ्रम तथा कर्म को इस झूले के अंग-प्रत्यंग बतला

कर, कहा गया है लक्ष्य स्थिर न होने के कारण ही अज्ञजन के अन्तःकरण में काम-वासना उत्पन्न होती है। और उदाहरण द्वारा यह भी प्रदर्शित किया है कि मृत्युलोक के ही नहीं अपितु स्वर्ग के निवासी भी इस झूले में झूल रहे हैं। अन्त में, साधु-सेवा और शुभ आचरण द्वारा ब्रह्मानन्द तक पहुँचने का उपदेश भी दिया है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस पद की नवीं पंक्ति में 'गोविन्द' को 'निर्गुण' के साथ 'सगुण' भी कहा है। यह उक्ति कबीर की जीवन-चर्या को आलोकित करती है। इस विषय का विश्लेषण नीचे तीसरे पद में विवृत किया जायगा।

(बोधानन्द ने इस पद की व्याख्या के प्रारम्भ में यह भी प्रदर्शित किया है कि ब्रह्म-ज्ञान से भ्रम किस प्रकार लीन हो जाता है। इसके लिए उस अंश का हिन्दी अनुवाद देखिए)।

दूसरे पद में वासना-त्याग के उपदेश द्वारा निर्लिप्त भाव से कर्म करने के विषय में कहा है, और साथ ही, यह भी प्रतिपादित किया है कि (सकाम) कर्म-मार्ग का त्याग कर आत्म-ज्ञान की उपलब्धि ही आवागमन से छुटकारा दिला सकती है। उसके बिना स्थिति अनिश्चित ही है यह बतलाते हुए, कबीर ने भक्तों को भगवान् (यदुश्रेष्ठ, गोपाल हरि) से प्रार्थना करने का अनुरोध भी किया है।

तीसरे (अन्तिम) पद का प्रतिपाद्य उस झूले का वर्णन है, जिसे संसार में सत्संग-विमुख व्यक्तियों ने लोभ और मोह के आधार पर स्वयं निर्मित किया है। 'भगवान् तुम्हारे भीतर ही है, वहीं उसके दर्शन कीजिए,' यहां इस प्रसंग का समारोप किया गया है और साथ में यह भी कहा गया है कि परमात्मा अवतार धारण कर धर्म-मर्यादा की स्थापना करते हैं। उन्हीं का स्वान्तः-दर्शन हितावह है।

सन्त कबीर 'निर्गुण' के उपासक जाने जाते हैं; किन्तु प्रथम, और द्वितीय पद के आलोडन से स्पष्ट होता है कि वे 'सगुण' के भक्त भी थे और साथ ही वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी भी। तीसरे पद की वह उक्ति भी माननीय है, जहाँ कहा गया है कि 'निर्गुण' ब्रह्म धर्म-मर्यादा के स्थापन के लिए अवतार भी लेता है।

४. वल्ली :—

हमारी हस्तलिखित पोथी में चौथी कृति 'वल्ली' इस नाम से समाविष्ट है, जिसका प्रारम्भ तीसरी कृति के अन्त के तत्काल अनन्तर, किसी भी विराम-चिह्न के बिना, 'अथ वल्लीमाह' इस शब्द-समुदाय से किया गया है। इसके दो भाग हैं, जिनमें क्रमशः तीस और सोलह पंक्तियाँ हैं। प्रत्येक पंक्ति 'राम' को सम्बोधित करके कही गई है, और प्रत्येक का अन्त, गायन की परि- पाटी के अनुसार, 'रमैया राम' इस टेक से किया गया है।

इस रचना के प्रारम्भ में निरूपण किया गया है कि मनुष्य संसार में जन्म लेते ही स्व-देह तथा पुत्र-कलत्र आदि में अभिमान और ममता के वशीभूत होकर आत्म-विचार नहीं करता

और (इसके अभाव में) भगवान् को भी भूल जाता है। सारी उम्र सांसारिक कार्यों में व्यस्त रह कर वह अन्त में अपने ऊपर पाप-पुण्य लाद कर यहाँ से प्रस्थान कर जाता है किन्तु इन्हीं पाप-पुण्यों के उपभोग के लिए उसे पुनर्जन्म लेना पड़ता है। इस प्रकार आवागमन के बन्धन से छुटकारा नहीं होता।

अन्त में साधु-जनों की उक्ति का स्मरण दिलाया गया है जिसके अनुसार सत् और असत् का भेद समझकर अपने विवेचन को मान्य कर के वेदों के ज्ञान-दुर्ग में प्रवेश करके अपने अन्तःकरण में ही विराजमान परमात्मा के दर्शन द्वारा स्वयं को उससे अभिन्न समझना ही कल्याण-प्रद है।

५. विरहुली :—

हमारी हस्तलिखित पोथी में पाँचवीं (अन्तिम) रचना 'विरहुली' इस नामकी है। इसमें केवल चौदह पंक्तियाँ है, जिनका संगठन भी गायन की परिपाटी के अनुसार किया गया है। प्रत्येक पंक्ति के अन्त में 'विरहुली' शब्द आता है।

इसकी रचना 'दोहा' छन्द से मिलती-जुलती है; किन्तु उसके पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध की तुक नहीं मिलती। अनुमान यही है कि सम्भवतः गायन के समय इसकी कुछ पंक्तियाँ अस्त-व्यस्त कर दी गई हों। इसमें अधिक शोध आवश्यक है।

इस कृति में भी कबीर के भाव संक्षेप में दुहराए गए हैं। परमात्मा से जीवात्मा के विरह के कारण इसका नाम 'विरहुली' रखा गया है और अन्त में इस विरह को समाप्त करके उससे ऐक्य स्थापित करना भी बतलाया है।

प्रारम्भ में परमात्मा के स्वरूप को निरूपित करते हुए इस लघु रचना में कहा गया है कि वही संसार का मूल है, किन्तु न तो उसकी जड़ ही (दिखाई देती) है, और न शाखाएँ, फल-फूल आदि। वहाँ (उसमें) न तो दिन-रात होते हैं, और न सूर्य-चन्द्र और जल-पवन आदि की स्थिति ही है।

इसके अनन्तर सन्त-कवि ने स्मरण दिलाया है कि संसार में आते ही, जीव इन्द्रिय-विषयों के फेर में पड़ जाता है और विषय स्वयं उसे लालच देकर अधिकाधिक आकर्षित करते रहते हैं। सकाम वासना परिवर्धित होती रहती है और जीवन के अन्त तक यही स्थिति रहने के फल-स्वरूप उस व्यक्ति का पुनर्जन्म होता है।

वासना के ही कारण, चर्म, रुधिर, मांस, मज्जा, अस्थि, मेद और वसा इन सात बीजों (धातुओं) का यह पुतला तैयार होता है। इस वासना का क्षय करके परमात्मा से जीवात्मा का ऐक्य स्थापित करने का उपदेश ही इस कृति का प्रमुख ध्येय है। वासना का अन्त हृदय के आलोडन द्वारा मन को वश में रखने से ही सम्भव है यह प्रदर्शित करते हुए, सन्त-समागम और उपनिषदों की उक्तियों का मनन इस कार्य में आवश्यक बतलाया है। यही दो उपाय हृदय-सन्ताप को दूर करते हैं।

रचना की समाप्ति इस उक्ति से होती है कि कर्ममार्ग विष की क्यारी है। कर्म दो प्रकार के होते हैं—शुभ और अशुभ। उनका फल भोगना ही पड़ता है। कर्म-मार्ग को कनैर का कटु वृक्ष बतलाकर, अन्त में, इससे दूर रहने और परमात्मस्वरूप बन जाने का सानुरोध परामर्श दिया गया है।

व्याख्या में सन्निविष्ट शास्त्र-वाक्यों के सन्दर्भ हमने पाद-टिप्पणियों में दिए हैं। इन्हीं पादटिप्पणियों में पाठान्तर के जो अङ्क बतलाए हैं, उनका सन्दर्भ इस प्रकार है :—

(१) राघवदास कृत बीजक मूल (सर्वाङ्ग प्रकाशिका टीका सहित) वाराणसी, सन् १९६२ ई०।

(२) महात्मा पूरण साहेब द्वारा रचित बीजक मूल (टीका-सहित) बम्बई, संवत् (वि०) २०२५।

उपसंहार :—

श्रीकबीर-वचनावली-सुधासागरादिह समुद्धृतं मया।
रत्नपञ्चकमिदं समुज्ज्वलं ध्वान्तमस्य जगतोऽपसारयेत् ॥१॥
जन्ममृत्युभयकम्पितः पुमान् सेवमान इह दर्शितं पथम्।
चित्प्रकाशकिरणं समश्नुवन् ब्रह्मभावमुपयात्यसंशितम् ॥२॥

—०—

कबीर वाणी

[खण्ड २]

साखी-सङ्ग्रह तथा लघुकृति-सङ्ग्रह

(वसन्त, चर्चरी, हिण्डोला, बल्ली और विरहुली)

□

[स्वामी बोधानन्द कृत 'विज्ञान-बीज-प्रकाशिका'-व्याख्या,
हिन्दी भावार्थ एवं संस्कृत-रूपान्तर-सहित]

॥ श्री ॥

श्रीगुरुं वन्दे।

कबीर वाणी

साखी-संग्रह

पंच तत्त्व को पूतरा जुक्ति रची मैं कीव।
मैं तोहिं पूछौं पंडिता शब्द बड़ा की जीव॥ १॥

श्रीगुरवे नमः॥ शब्दव्याख्याकथनानन्तरं वेदशाखाव्याख्यामाह। आदावुत्पत्तिं कथयति पञ्चतत्त्वेति। पञ्चसूक्ष्मभूतेभ्यः स्थूलभूतैः पञ्चीकृतै रचितं वपुः स्थूलं भवति। मैं—मया चैतन्येन युक्तिरपि रचिता। इमौ स्थूलसूक्ष्मौ रचितौ स्त इति भावः। मैं तोहिं इति। त्वामहं पृच्छामि। भगवन्, त्वं पण्डित=सर्वशास्त्रज्ञोऽसि। शब्द=उपनिषद्[1] किं महानिति प्रश्नमादौ कृत्वा पुनर्गुरुत्तरं कृतवान्। मायापतिरीश्वरः; अविद्यापतिर्जीवः। तयोर्वाच्यं विहाय लक्ष्यलक्षमेकम्[2]। अहं त्वमेकं (त्वं चैकं) भवामि। अतस्त्वं महान् शब्द=प्रकाशकोऽसीति भावः॥ १॥

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन तत्त्वों के पंचीकरण से देह का निर्माण कर उसमें जीव का प्रवेश किया गया है। कबीर शास्त्रों में उलझे हुए जानकार पण्डितों से पूछते हैं कि (उपर्युक्त स्थिति में) चैतन्य बड़ा है या जीव (अथवा, शब्द=उपनिषद् का माहात्म्य अधिक है या जीव का)?॥१॥

पंच तत्त्व को पूतरा मानुष धरिया नाम।
एक कल[3] के बीछुरे बिकल भया सब[4] ठाम॥ २॥

पञ्च तत्त्वेति। पञ्चभूतरचितोऽयं मानुषदेहः। ब्राह्मणाद्यनेकनामरूपं सर्वं मृषा[5]। आत्मैव सत्यमिति भावः। एकेति। एकः=चैतन्यात्मा, तत्सत्तया, कलः=चैतन्यरूपः प्राणो यदा देहान्निर्गतः=बिछुरति, तर्हि आपादतलमस्तकपर्यन्तं धाम=शरीरं विकलं भवतीत्यर्थः॥ २॥

---

१. बोधानन्द ने 'शब्द' के तीन अर्थ लिए हैं:—उपनिषज्जन्य ज्ञान, उसका प्रकाशक, और शुद्ध चैतन्य। दे० सबद (शब्द), पद १। यहां 'शब्द' का अर्थ उपनिषद् लेना ही अभीष्ट है। इस अर्थ के लिए दे० साखी ७२ व्याख्या और साखी १२९ और १७४।

२. =लक्ष्यलक्षणमेकम्।

३. कला (सं० बी० ब०)।

४. 'ब' के स्थान पर सर्वत्र 'भ' लिखा है जिसे सब स्थानों पर शुद्ध कर लिया गया है।

५. नामरूपादिकं नास्ति (तेजोबिन्दूप०, ५, ११)।

पंचतत्त्वों से निर्मित इस पुतले को ही ब्राह्मण आदि की जाति से व्यवहृत किया जाता है और इसी का नामकरण भी होता है। चैतन्यस्वरूप जीवात्माके इससे पृथक् होते ही यह शरीर निष्क्रिय हो जाता है ।।२।।

पंच तत्त्व के भीतरे गुप्त वस्तु अस्थान ।
बिरले मर्म कोइ पाइ है गुरु के शब्द प्रमाण ।। ३ ।।

पञ्चेति । पञ्चतत्त्वाद् भिन्न आत्मा गुप्तव्यक्तवस्तुरूपः । सर्वस्य स्थानमिति भावः[१] । विरले इति । सोहमस्मीति मर्म कश्चिद्विरलः प्राप्नुते । तत् सद्गुरुसेवनाल्लभ्यते[२] । गुरुः कीदृशः ? उपनिषच्छब्दवेत्तेति भावः ।। ३ ।।

जीव देह से भिन्न हो है और गुप्तरूप से उसमें व्याप्त रहता है। यह मर्म बिरले ही जानते हैं, जिन पर गुरु कृपा करते हैं। गुरु उपनिषद् के जानकार होने चाहिए ।।३।।

पंच तत्त्व ले या तन कीन्ह सो तन कहां ले कीन्ह ।
कर्म हि वश जीव कहत है कर्म हि के जिव दीन्ह ।। ४ ।।

पञ्चेति । पञ्चतत्त्वात्मकमिदं वपुः ब्रह्मैवाहमिति ज्ञानाय करोति (प्रयत्नं), स जीवन्मुक्तो भवति । कर्म हि इति । यद्ययं जीवः कर्मवशो भवेत्, किं स्वस्य जीवत्वं कथयति-जीवोऽहं ब्रह्म कथम् ? अतो जीवः कर्ममार्गे पततीति भावः[३] ।। ४ ।।

इस पंचतत्त्वात्मक शरीर में निवास करनेवाला चैतन्यरूप वही जीवात्मा 'मैं ब्रह्म हूं' यह जानने का प्रयत्न करने पर जीवन्मुक्त हो जाता है और वही, जब स्वयं को चैतन्य से भिन्न (केवल शरीर-रूप) मानता है, तब कर्म-मार्ग में प्रवृत्त हो जाता है वस्तुतः वह इस शरीर से भिन्न ही है ।।४।।

रंग हि ते रँग ऊपजे सब रँग देखी एक ।
कवन रंग है जीव को ता कर करहु विवेक ।। ५ ।।

रंग हि ते इति । रंग—चैतन्यं, तस्मादिदं सर्वं रंगादुत्पद्यते । तद्वदेकं (च्चैकं) स्यात् । जीवस्य रंगः कः ? चिद्रूपोऽहमिति । तद्विवेकं कुर्विति तदाह—भोः यो जीवो मायारङ्ग-चमत्कारं दृष्ट्वा जडो भवति, चैतन्योऽहमस्मीति दृष्ट्या सर्वरङ्गम् =आब्रह्माण्डाद्यखिलपिण्ड-ब्रह्माण्डं चैतन्यमेव (वेति) भावनया रङ्गचमत्कारं दृष्ट्वा जडो भवति, चैतन्योऽहमस्मीति भावनया पश्यति, स चिद्रूपो भवतीति भावः ।। ५ ।।

---

१. प० सर्वस्य मूलम्, अथवा—सर्वत्र तस्य स्थानं = स्थितिः ।

२. गुरुभक्त्या लभेद् ज्ञानं ज्ञानान्मुक्तिमवाप्नुयात् (शिवोपनिषद् ७,७४) । समाश्रयेत् सद्गुरु-मात्मलब्धये (रामगीता, श्लोक ७) ।

३. दे०—कर्मकाण्डोपासका रसिकानन्दमार्गं न जानन्ति (सामरहस्योपनिषद्, २७) ।

जीव चैतन्य-स्वरूप है—यह समझ कर सब (प्राणियों) को एकरूप देखनेवाला चिद्रूप ही है। यह तो माया का ही चमत्कार है जिससे वह जड़ हो कर ब्रह्माण्ड की सभी वस्तुओं को भिन्न-भिन्न रूप में देखने लगता है ॥५॥

जागृत रूपो जीव है शब्द सुहागा सेत ,
जलजबिन्दु जलकुक्कुटी कहहिं कबिर कोइ देख ॥ ६ ॥

जागृतेति। जाग्रद्रूपः=ज्ञानस्वरूपः जीवो भवति। केन? शब्द=तत्त्वमस्यादि-महावाक्येन[1]। यथा कनकस्य मलिनता (न्यं) सुहागेन नाश्यते, तथा महावाक्यैर्जीवत्वं मोचयति मुमुक्षुः। पुनः प्रकाशरूपो भवतीति भावः। भोः, यथा जलजं जलबिन्दुं न स्पर्शति (स्पर्शयते), पद्मपत्रमिवाम्भसेति[2]। पुनर्दृष्टान्तमाह—यथा जलकुक्कुटी जले वसति, जलं न स्पर्शयते, तद्वत्। कहेति। कबीरः=ब्रह्म, सर्वेष्वनुस्यूतमप्यलिप्तः। यद्वा, कबीरः=श्रुतिर्वर्णयति। कोई=कश्चिद् ज्ञानी अस्मिन्संसारे तिष्ठति, सर्वत्र विचरति अलिप्तः स्वस्य स्वं पश्यतीत्यर्थः ॥६॥

जीवात्मा ज्ञानस्वरूप है। 'तत्त्वमस्यादि' वाक्य के मनन से उसका मैल उसी प्रकार धुल जाता है जैसे सुहागे से सुवर्ण का। जोव कमल-पत्र और जल कुक्कुटी के समान है जिसको जल में निवास करने पर भी जल की बूँद स्पर्श नहीं कर सकती। उसी प्रकार जैसे ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त होने पर भी अलिप्त ही रहता है। वैसे ही, ज्ञानी व्यक्ति भी इस संसार में निवास करने पर भी इससे अलिप्त ही रहता है ॥६॥

अशून्य तखत आसन अडिग पिंड झरोखे नूर।
जाके दिल महँ हौं बसो सेना लिये हजूर ॥७॥

अशून्येति। शून्यतावर्जितात्मा किम्? यं विना न कश्चित् शून्यः, सर्वत्रैकात्माहमिति। तखत=अचलोऽहमिति सर्वाधारः। निराधारोऽहमिति निराधारः। पिण्डः=शरीरत्रयप्रकाशकोऽहम्। झरोखे इति। सर्वेन्द्रियगवाक्षाः। नूर=तेषां प्रकाशकोऽहमिति भावः। जाके इति। भोः येषां मुमुक्षूणां बुद्धावहं वसामि, सेना=उपनिषज्जन्यज्ञानसेवया, सह=अन्तिकम्, आत्मैवाहमिति तिष्टा (ष्ठा) मि ॥७॥

जीवात्मा एक है। वह अचल और सब का आधार है पर उसका आधार कोई नहीं है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तोनों शरीरों और इन्द्रियों का प्रकाशक वही जीव उपनिषद्वेत्ता मुमुक्षु की बुद्धि में निवास करता है ॥७॥

शब्द हमारा आदि का पल पल करहू याद।
अन्त फलेगी माहली ऊपर की सब बाद ॥८॥

---

१. छान्दोग्य उ०, ६, ८, ७ आदि तत्त्वमसीतिवाक्ये विरुद्धसर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वार्थत्यागेन चैतन्यमात्रबोधनात्तथात्वम् (वाचस्पत्यम्, पृ० ३०८१।

२. भ० गी०, ५, १०।

शब्देति। ब्रह्मविद्या आदिरूपा। तां पले पले=क्षणे क्षणे विचारय। 'सोऽहमिति' स्मरणं कुर्विति भावः। भोः अन्तःकरणे यादृशी भावना तादृशी (मतिः) भवति। उपरि मालातिलकभस्मसन्ध्यामुद्रापूजादि सर्वं वादमात्रमिति भावः ॥८॥

आदिशब्द अर्थात् ब्रह्मविद्या के निरन्तर विचार से ही उस (जीव) का ध्यान सम्भव है। मैं वही हूँ (तत्त्वमसि) इसका निरन्तर विचार कीजिए, क्योंकि अन्तःकरण की भावना के अनुसार ही मति बनती है। माला, तिलक, भस्म, सन्ध्या, मुद्रा और पूजा-ये सब केवल ऊपर का दिखावा हैं ॥८॥

शब्द हमारा आदि का शब्दे पैठा जीव।
फूल रहन की टोकरी धोरे खाया घीव ॥९॥

शब्देति। 'ब्रह्मैवाहमस्मि' इत्यादि शब्दो मे स्वरूपं स्यात्[1]। शब्दे पैठेति। परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीषु[2] प्रविश्य जीवरूपेणाहं तिष्ठामि। फूल=वासना। रहन की टोकरीति। सूक्ष्म-शरीरं, धोरेति स्थूलशरीरम्' तेन, घीव=विषयं भुंक्ते जीवस्तप्तः[3]। तस्याहं साक्षीत्यर्थः ॥९॥

मैं ब्रह्म हूँ; वही मेरा स्वरूप है। मैं जीव-रूप से इस शरीर में व्याप्त हूँ—यही प्रमुख मन्त्र है। सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर में प्रवेश करके, वासना के वशीभूत होकर विषयों का जो उपभोग करता है उसका मैं (जीवात्मा) साक्षी हूँ ॥९॥

शब्द हमारा तूँ शब्द का सुनि मति जाहु सरक्कि।
जो चाहहु निज तत्त्व को शब्द हु लेहु परक्खि ॥१०॥

शब्देति। अविज्ञातसखा जीवं प्रत्याह—आवां हंसौ, मे स्वरूपोऽसि त्वम्; अहमेक एव भवामि। तत्त्वमस्यादिकं शब्दं मे निश्चयं; तं शृणु। आत्मैवाहमिति विचारादन्यत्र मा गच्छ। यद्यनुसरस्यन्यत्र, तर्हि संसृतिं व्रजसि। अतः स्वरूपे स्थिरो भवेति भावः। यद्वा, शब्दः स्वतो भवति श्रुतौ। जो चाहहु इति। जो=यदि भोः, त्वं निजतत्त्वं=निजानन्दमिच्छसि चेत्, ततः शब्दं=सोऽहमित्यभ्यासमन्तरे पश्य[4], गृह्णीष्वेति भावः ॥१०॥

'तत्त्वमसि' इस उपदेश से सिद्ध है कि जीव आत्मा (ब्रह्म) ही है। ये दोनों एकरूप एवं परम-हंस हैं। यह विचार करनेवाला व्यक्ति अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है। जिसे यह भान नहीं होता उसे संसार में फिर जन्म लेना पड़ता है। अतः यदि आनन्द-प्राप्ति की चाह है तो 'सोऽहम्' का स्मरण कीजिए ॥१०॥

---

१. तुलनीय—निरालम्बोपनि०, ३२ आदि।

२. व्याकरण-दर्शन के अनुसार चार प्रकारकी वाक्। विस्तार के लिए देखिए: बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, सूपम सं०, पृ० ४६४-६५।

३. दे० भ० गी०, १५. ९।

४. तुलनीय—शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति (मैत्रायण्युपनि० ६,२२)।

शब्द बिना श्रुति आँधरी कहो कहाँ के जाय।
द्वार न पावे शब्द को फिरि फिरि भटका खाय॥११॥

शब्द बिनेति। सोऽहमिति शब्द=आवाजः स्वरेण सह स्वतो भवति। तं विना=ब्रह्मैवाहमिति विना, श्रुतिः=जीवः, अन्धो भवति। अज्ञानावृतः। भोस्त्वं कथय कुत्र गमनं भवति यं विना, कोऽपि (कुत्रापि) नेत्यर्थः। द्वारेति। भोः, सद्गुरोः कृपां विना, शब्दद्वारं=स्वरूपज्ञानं न भते[1] अतः फिरि फिरि=पुनः पुनर्भ्रमति। तस्माद् गुरोर्हरेश्चरणोपासना कर्त्तव्येति भावः॥११॥

'सोऽहम्' का नाद हृदय में सदैव विद्यमान है और उसके बिना जीव अन्धा ही है। सद्गुरु की कृपा के बिना यह ज्ञान प्राप्त नहीं होता और इसी कारण संसार में बार-बार भटकना पड़ता है। इसके लिए हरि-चरणों की उपासना करना आवश्यक है॥११॥

पर्वत ऊपर हर बसे घोरा चढ़ी बसे ग्राम।
बिनु फुल भँवरा रस चहे कहु बिरवा के नाम॥१२॥

पर्वतेति। समष्टिव्यष्टचाख्यौ पर्वतौ द्वौ। तयोरुपरि हरबसे (हे) ति। ब्रह्मैवाहमस्मीत्यभ्यासं[2] वहति; अतः समष्टिव्यष्ट्योरभावः पुनः, मन एव तुरंगस्तदुपरि स्थित्वा तमुल्लंध्य, 'चिदहं शुद्धानन्दोऽहम्' इति ग्रामे वसति, तदा मनोभावो गतः। केवलं ब्रह्मैवाप्ये (स्म्ये)-कमिति भावः। बिनु इति। पुष्पं मलिनवासनामयम्। तां विना, भ्रमरः=मुमुक्षोर्मन एव भृङ्गः शुद्धसत्त्वमयो यदा भवेत्तदा ब्रह्मैवाहमिति रसं चहे=इच्छतीत्यर्थः। विरवा=ब्रह्मैव वृक्षः। नाम=शुद्धोऽहं बोधोऽहमित्यभ्यासं कथय=अन्तरे विविच्यतामिति भाव,॥१२॥

ईश्वर का निवास समष्टि और व्यष्टि इन दोनों पर्वतों के ऊपर शुद्धानन्द-रूपी स्थान में है और वहाँ जाने का साधन मन-रूपी अश्व है। उस शुद्ध-सत्त्व-मय स्थान पर पहुंचने पर जब मलिन-वासना नष्ट हो जाती है तब मनरूपी भौंरा ब्रह्मरूपी वृक्ष के (फल का) शुद्ध सत्त्व-मय रस का पान करने लगता है। अतः 'मैं शुद्ध-बुद्ध हूँ' यह अभ्यास करना समुचित है॥१२॥

कबोर का घर शिखर पर जहां सलहली गैल।
पाद न टिके पिपीलिका तहां खल को लादा बेल[3]।१३॥

कबीरेति। कबीराः=जीवन्मुक्ताः, तेषां गृहं=निवासः। समष्टिव्यष्टचोरुपरि शुद्धबोधोऽहमिति विचारं, जहां=यत्र, सर्वसाधनवर्जितः। सर्वमिदं ब्रह्म। ब्रह्मैवाहमिति सुगमः

---

१. लेखक ने इस शब्द का पहला अक्षर 'ल' प्रमाद से छोड़ दिया है।

२. 'अभ्यसनं' चाहिए। दे० भ० गी०, १७, १५।

३. इस पाद में मात्राएं अधिक हैं। इसी प्रकार 'पिपीलिका का' यहां विभक्ति का प्रत्यय कम कर दिया गया है।

पन्थेति भावः। पिपीलिका=सकामकर्तृजनस्तस्य पादः=चित्तं न तिष्ठति क्षणम्। तहां=तत्र गन्तुम्, समस्तमुमुक्षवस्तैर्वृषो=धर्मः, ब्रह्मैवाहमिति लादन्ति=पुनः पुनरभ्यस्यन्तीत्यर्थः। यद्वा, खला एव खलकाः=अनात्मवादिनः[1] ॥१३॥

कबीर (जीवन्मुक्त) का निवास उसी स्थल पर है जहाँ समष्टि और व्यष्टि से ऊपर शुद्धबोध की उपलब्धि होती है। सकाम कर्म करने वाले और अनात्मवादी का चित्त वहाँ नहीं पहुंच सकता। उस स्थल पर केवल उन्हीं की पहुंच है जो 'मैं ईश्वर हूँ' यह स्मरण करते रहते हैं ॥१३॥

ये कबीर ते उतरिहहु समल परोहन साथ।
शंबल घटे पगु थका जीव बिराने हाथ ॥१४॥

नन्वनात्मवादिनां सङ्गेऽपि ज्ञानं भवति। नेत्याह, ये कबीरेति। ये कबीराः=शास्त्रज्ञाः, तेषां सङ्गादुत्तीर्य आत्मैवाहमित्यस्मिन् स्तिष्ठ[2]। यद्वा, भोः कबीर=मुमुक्षो, सं=सम्यक्, ब्रह्मानन्दसुखं स्वस्मिन् ज्ञात्वा मलपरः=देहाभिमानात्परो भव। हेति। स्फुटो=निश्चितो भव; निर्मलो भव। हन साथे=अहं वर्णाश्रमीति सङ्गे माभवेति भावः। शंभलेति। शम्= आत्मसुखे, मलः=अहंकारः, घटे=नश्यति। पंगु[3] थकेति। यदाहंकारो नष्टस्तदा चित्तं स्थिरं भवति। पुनर्जीवरूपा बुद्धिः, बिराने=ब्रह्मैवाहमित्यभ्यासे, करे=कृते, एकाकारा भवति जीवत्वं गतम्। यद्वा पूर्वपक्षे, जीवो बिराने=अज्ञाने गत इति भावः ॥१४॥

अनात्म-वादियों के संग से ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती; वह तो सच्चे शास्त्रज्ञों के साथ रहने से होती है। ज्ञानोपलब्धि से देहाभिमान नष्ट हो जाता है और उससे अहंकार भी जाता रहता है। साथ ही, अज्ञान के साथ जीव का मोह भी भाग जाता है ॥१४॥

जहिया जन्म मुक्ते होता तहिया होत न कोय।
छठी तुम्हारी हौं जगा तू कहँ चला विगोय ॥१५॥

जहियेति। यदा अविज्ञातसखा ब्रवीति; यदा=यस्मिन् काले यस्य ब्रह्मैवाहमिति जन्म भवति, तर्हचवरे मुक्तिः। किं देहबन्धनान्मुक्तिर्भवति ? तहियेति। तदा पुनरविद्या नोत्पद्यते। जीवत्वमज्ञानं किमपि नेत्यर्थः। छठीति। षडूर्मयः-जन्ममरणक्षुत्पिपासाशोकमोहेति। पुनर्जायते, विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षीयते, विनश्यतीति षड् विकाराः, भारी=प्रबलाः स्युः। सोऽहमिति विचारं विना। हो जगेति। अहं क्षुद्वान्, पिपासावान्, शोकवान्, मोहवान्, जन्मवान्, मृतवानहमिति। जगौ=जीवस्याहङ्कार उत्थितः सन्नस्मिन् वृत्तौ, भोस्त्वं कथं गच्छसि मागमः। आत्म-

---

१. खलक=संसारी (सं० बी० ब०)।

२. =अस्मिन्विचारे तिष्ठ।

३. 'गु' पर अनावश्यक अनुस्वार दिया गया है।

ज्ञानेन परमात्मनः सेवायां सावधानो भव, जीवन्मुक्तो भव, सर्वात्मारामो भव। विगोय= ब्रह्माहमिति विस्मृत्य देहाभिमानेऽपि मागम इति भावः ॥१५॥

जीव मुक्त था और है। यह तो केवल देह-बन्धन ही है जिससे मुक्त हो जाने पर जन्म-मरण, भूख-प्यास और शोक-मोह इन छः तरङ्गों से मुक्ति मिलती है। तब इन सबका कारण अविद्या भी नष्ट हो जाती है और उसके साथ अहंकार भी। अतः आत्मज्ञान द्वारा परमात्मा की सेवा में संलग्न रह कर जीवन्मुक्त होना ही श्रेयस्कर है जिससे इन सब का मूल कारण अभिमान भी विलुप्त हो जाता है॥१५॥

बिनु डाँडे जग डाँडिया सोरठि परिया डाँड ।
बाटनिहारा लोभिया गुड़ ते मीठी खाँड॥१६॥

बिनु डाँडे इति। आत्मा दण्डं विना चिद्रूपो भवति। स्वयं तु निर्मलः। स्वतः प्रसभं यः परोपाधिं गृह्णाति-किमहं कर्त्ता, अहं भोक्ता, अहं ज्ञातेत्यादि जगत् यो न मन्यते अतो दण्डवान् भवति। सोरठीति। सोरठि=मलार-मालकोश-नटेत्यादि-निषादर्षभ-षड्ज-गान्धार-मध्यम-धैवत-पञ्चमेत्यादिस्वरालापं करोमीत्यनेन [दण्डयो] भवतीति भावः। वाटनिहारेति। वादः, (टः)[१]=देहः, तं, निहार=पश्यति, नखशिखपर्यन्तं दृष्ट्या दृश्यति (दर्शयति)-अयमहमस्मि। लोभियेति=विषयासक्तो भवति। गुडात्=ब्रह्मैवाहमित्यमृतमयमहत्सुखखण्डात्, खाँडेति= लयरूपं चलं विषयसुखं यो मिष्टममृतं मन्यते सोऽज्ञानी। अतः परिणामे दुःखं भवति तस्येति भावः ॥१६॥

आत्मा चिद्रूप और निर्मल है किन्तु उपाधि के कारण उसने स्वयं को दण्डनीय बना डाला है। शरीर की उपाधि धारण करके स्वयं को शरीर मानकर वह विषयों में आसक्त हो जाता है। इस प्रकार गुड़ को छोड़ कर वह उससे अधिक मीठी शक्कर के मोह में फँस जाता है और अज्ञानी उसे ही अमृत मान कर परिणाम में दुःख भोगता है॥१६॥

ई जग तो जहड़े गया भया जोग नहिं भोग।
तोल झारि कबिरा लिया तिलठी झारे लोग॥१७॥

ई जगेति। भोः, इदं सर्वं जगत् स्वरूप (पा.ज्ञानाद्विक्षिप्तं भवति-जहडितः। कुतः? इन्द्रियविषयभोगेषु निमग्नो भवति। ततः =तस्मादात्मैवाहमिति योगो न भवतीति भावः। तिलेति। कबीरः=निजात्मारामो विज्ञानदृग्जीवन्मुक्तः आत्मैवाहमिति तिलं[२] निश्चीयते। पुनः सर्वशास्त्रज्ञाः—वैष्णवाः, शैवाः, षट्शास्त्रज्ञाः सर्वे स्वस्ववेश (ष) पाष (ख)ण्डधर्मं सम्प्रदाय-मतम्—अहं वैष्णवः, अहं संन्यासीत्यादि तिलठी=निश्चयन्ति। भागवते 'तेषामसौ क्लेशल एव

---

१. साखी में 'वाट' किन्तु व्याख्या में 'वाद' लिखा है।
२. तिल=सत्यात्मा (सं० बी० ब)।

शब्द-शब्द बहु अन्तरे सार शब्द मत लीजे।
कहँहि कबिर जेहि सार शब्द नहिं धृग जीवन सो जीजे ॥२०॥

शब्देति। शब्द=शास्त्राणि। पुनः शब्द=चतुर्वेदाः श्रुतयः स्मृतयो बह्वन्तरायरूपाः, तान्स्त्यज। कुतः? बहुविधवाक् श्रुत्यादिषु प्रयुक्ता। तेषां मध्ये सारशब्दमतं ब्रह्मैवाहमस्मीति यो गृह्णाति सएव ज्ञानी। कहेति। यः सारग्राही स कबीरो ब्रुवति। किम्? यः सारशब्दं=सोऽहमस्मीत्यभ्यासं न कुरुते, यद्वा सारशब्दः स्वतो भवति, तं न शृणोति, तस्य जीवनं धिगिति भावः ॥२०॥

शास्त्र नाना-विध हैं—जैसे वेद, स्मृतियाँ आदि। इन में विभिन्न प्रकार की बातें बतलाई हैं, किन्तु सब का सार 'सोऽहम्' का ध्यान ही है। उसका अभ्यास न करनेवाले व्यक्ति का जीवन व्यर्थ ही है ॥२०॥

शब्दे मारा गिर पड़ाः शब्दे छोड़ा राज।
जिन्हि यह शब्द विचारिया ताको सगरा काज ॥२१॥

शब्दे इति। शब्द=उपनिषज्जन्येन सद्गुरुर्भगवान् यं मुमुक्षुमुपदिशति, तत्त्वमसीति शास्ति, तर्हि अज्ञानज्ञो[1] देहाभिमानो गलितो भवतीति भावः। पुनः शब्द=उपनिषद्वाक्येनात्मैवाहमिति दृढाभ्यासेन राजस-तामस-सात्त्विकगुणत्रयं मुञ्चति स्मेति भावः। जिन्हि इति। यो ज्ञानी आत्मैवाहमिति शब्दाभ्यासं विचारयति[2], तस्य समस्तं कार्यं सफलं भवति। स जीवन्मुक्तो भवतीति भावः ॥२१॥

उपनिषदों में प्रतिपादित 'तत्त्वमसि' के बोध से अज्ञान-जन्य देहाभिमान विगलित हो जाता है और उसके दृढ़ अभ्यास से सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण भी नष्ट हो जाते हैं। ऐसे (कुशल) व्यक्ति के सभी कार्य सफल होते हैं और वह जीवन्मुक्त बन जाता है ॥२१॥

ग्राम ऊँचे पहाड़ पर औ मोटे की बाँह।
ऐसा ठाकुर सेइये उबरिय जाकी छाँह ॥२२॥

ग्रामेति। ईदृङ् महान् ज्ञानी यर्हि भवति, ग्राम=सर्वप्राणिभ्यः श्रेष्ठः, अत्युच्चः, समष्टिव्यष्टिरेवं (रूप)पर्वतात्परः। मोटे=सिद्धस्वरूपो भवतीति भावः। कबीरो ज्ञानी ब्रुवति-ईदृशं सद्गुरुं (यः) सेवते, तस्य छाया=कृपाकटाक्षेणोपदेशेन अविद्यार्णवात्पारं भवति (गच्छति)। उर्वरितो[3] भवतीति भावः ॥२२॥

इस प्रकार कोई भी व्यक्ति ज्ञान-निष्ठ हो कर उच्च पर्वत पार करके सिद्ध स्वरूप हो जाता है। इस के लिए ऐसे गुरु का सेवन करना अभीष्ट है जिसके कृपा कटाक्ष रूपी उपदेश से अविद्यार्णव पार कर सको ॥२२॥

---

१. =तस्याज्ञानजन्यः। २. =करोति।

३. 'उबर जाता है' का संस्कृत रूप; अथवा—उर्वर+क्त।

जेहि गए पंडित ताते ही गई बहीर[1]।
ऊंची घाटी राम को तेहि चढ़ि गया कबीर ॥२३॥

जेहीति। जे (ये) पण्डिता नानात्मवादिनो यस्मिन्मार्गे गच्छन्ति तस्मिन्नेव पथि, वहीर=सर्वे तेषां जिज्ञासवस्तेऽपि गच्छन्ति । राम एवेदम्। रामोऽहमिति पथमत्युच्चम्[2]। तस्मिन् कबीरः=स्वात्मारामो निर्विकल्प आरोहति न त्वन्ये इति भावः ॥२३॥

इस मार्ग का अनुसरण करने पर जिज्ञासु भी वहीं पहुंच जाते हैं, जहां विद्या-सम्पन्न व्यक्ति जाते हैं। वे सभी निर्विकल्प होते हैं। यह सब दृश्यमान राम है और मैं भी राम ही हूँ, यह विचार ऊँचा मार्ग है और उस पर स्वात्माराम व्यक्ति ही विचरण कर सकते हैं ॥२३॥

जिनि जिनि शंबल नहिं कियो ऐसो पुर पठ (त्त) न[3] पाय।
झालि परे दिन आथये शंबल कियो न जाय ॥२४॥

जिनि इति । भोः, ईदृशं पुरं पत्तनं=मानुषदेहं प्राप्य, शं=सुखानुभवं, बलं=स्वसामर्थ्यं स्वात्मविचारं ये न कुर्वन्ति ते आत्महनः[4] । अतः संसृतिमनुसरन्तीत्यर्थः। झालि=नानायोनिषु त्वं पतसि तर्हि दिनं=ज्ञानविचारो न जायते । शं=सुखानुभवकरणं, बलं सामर्थ्यं (च) कदापि न भवतीति भावः ॥२४॥

नर-देह प्राप्त करके जो स्वात्म-विचार नहीं करते वे अपनी आत्मा का हनन ही करते हैं और पुनरावर्तन के फेर में पड़कर नाना योनियों में भ्रमण करते रहते हैं। आत्म-स्मरण जीवन के अन्तिम समय में नहीं किया जा सकता ॥२४॥

इह ईं शंबल करि लेउ आगे विषमी वाट।
स्वर्ग बिसाहन सब चले जहँ बनिया नहिं हाट ॥२५॥

इह ईं इति ! भोः अस्मिन्मानुषदेहे आत्मैवाहमिति शंबलं कुरु, विचारनिश्चयं कुरु। अतोऽग्रे विषमपथं=विषममार्गम्। तं जानीहीति भावः । सर्गेति। सर्गविसर्गनानाप्रपञ्च-मार्गे धनधामपुत्रकलत्रादिषु सर्वे गच्छन्ति, यत्र वणिया—वणिग्वद्व्यवहारमार्गे इन्द्रियविषयसुखे रमन्ते, लोकैषणादिनेच्छन्ति । तत्र हाट न=सोऽहमिति विचारो न शान्ति विना।। सर्वे परोक्षं वदन्ति इति भावः ॥२५॥

इसी हेतु नर-देह में ही 'मैं आत्मा ही हूँ (शरीर नहीं)' यह निश्चय कर लेना योग्य है। जीवन-मरण और धन, धाम, पुत्र, कलत्र आदि के प्रपञ्च में तथा विषय-

---

१. छन्द-शुद्धि के लिए प०—जेहि राहे पंडित गए ताते गई बहीर। लेखक ने 'रा' के स्थान पर भ्रम से 'ग' लिखा है।

२. प०—पथोऽत्युच्चैः।

३. यह शुद्धि व्याख्या के आधार पर की गई है।

४. दे०—पुमान् भवाब्धि न तरेत्स आत्महा (भागवत, ११, २०, १७)।

सुख के मार्ग में (पड़ कर) यह विचार नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में स्वात्म-विचार का अभाव ही रहता है और इसी कारण हम ईश्वर को परोक्ष मानते हैं ॥२५॥

बहुत दिवस तें हींडिया शून्य समाधि लगाय।
करहा पड़ा[1] गाड़ में दूरि परे पछिताय ॥२६॥

बहुतेति। बाल्यादारभ्य शास्त्रपठने कृतश्रमाः, पुनरष्टाङ्गसाधनैः कृतश्रमा एवं बहुभिर्दिवसैर्यं मार्गन्ति, शुष्कसमाधिना प्राणायामं साधयन्ति सी (शी)तोष्णयोश्चातोऽज्ञा इति भावः। करहा=सकाममनः, गाड़=हठाभ्यासो जडसमाधिः। आत्मैवाहं विना[2] दूरं वैकुण्ठादिषु ध्यायते, वस्तु न लभते' पुनर्नानायोनिषु गत्वा पश्चात्तापं करोतीति भावः ॥२६॥

बाल्य-काल में विद्याभ्यास और तदनन्तर प्राणायाम, योग, शुष्क समाधि आदि में प्रभूत समय व्यतीत करने के पश्चात् भी सकाम मन आत्मा का ध्यान वैकुण्ठ आदि स्थलों में करता है, किन्तु इससे सत्य वस्तु की उपलब्धि नहीं होती और नाना योनियों में भ्रमण करके पश्चात्ताप ही करना पड़ता है ॥२६॥

वन ते भागा बिहड़े परा करहा अपने बाने।
करहा वेदन कासों कहे को करहा को जाने ॥२७॥

वन ते इति। पुनस्तदेवाह। करहा=उष्ट्रः। मनः स्वविचारात्पलायते। कुत्र? विहड़े=विषयसुखे, पतति पुनः स सकामकर्मभ्यासे। दाढ्र्येन स्वान्तरे व्यथा जायते, तां व्यथां कस्य=कं प्रति वक्ति? तस्यान्तर्वासनां (कस्य) को जानाति? नान्य इति भावः ॥२७॥

यथार्थ विचार का परित्याग करके विषय-वासना में पतित मन उस ऊँट की तरह है, जो वन से भाग कर बीहड़ों में फँस जाता है। सकाम कर्म करने वाले व्यक्ति की व्यथा और अन्तर्वेदना को दूसरा कोई नहीं जान सकता। किसे कहा जाय? ॥२७॥

विरह बाण जेहि लागिया ओषधि लगे न ताहि।
सुशुकि सुशुकि मरि मरि जिवे उठे कराहि कराहि ॥२८॥

विरहेति। विरहबाणः=तीव्रवैराग्यं, दोषदृष्टिर्जिहासा च। पुनर्भोगेष्वदीनतेति यस्य भवति, अन्तरे आत्मैवाहमित्यौषधं विनान्यौषधिरष्टाङ्गादिर्न सुखं ददाति। सुष्ठु=शोभना, शुको=बुद्धिः। जीवोऽहमिति विस्मृत्य पुनः सुष्ठु=शुको बुद्धिः—आत्मैवाहमस्मीति जीवति। उठे कराहि कराहि=अहो, 'बोधोऽहमिति' ज्ञानं विना पूर्वावस्थागतस्य कालस्य पश्चात्तापे (पं) करोति विद्वान् ॥२८॥

---

१. पा०=परिया। २. =इति विचारं विना।

तीव्र वैराग्य से संसार का दोष जानकर उसका परित्याग करने वाला व्यक्ति विरह-बाण से विद्ध है और अष्टाङ्ग योग आदि कोई भी ओषधि उसे स्वस्थ नहीं कर सकती। उसके लिए तो केवल एक ही औषध है, केवल यह विचार कि 'मैं आत्मा ही हूँ'। उसकी प्राप्ति के अभाव में ऐसा व्यवित पश्चात्ताप करे यह स्वाभाविक ही है ॥२८॥

कबीर भर्म न भाजिया बहु विधि धरिया भेष।
साईं के परचै बिना अन्तर रहा न लेख[1] ॥२९॥

कबीरेति। भोः शास्त्रज्ञाः, सर्वे बहुविधं शास्त्रं पठित्वापि पठन्तु आगमान्, गंगादि-तीर्थान्यटन्तु, यज्ञैर्विष्णुं यजन्तु, अष्टाङ्गयोगं कुर्वन्तु, वैष्णववेषं कुर्वन्तु, पण्डितवेषं धारयन्तु अनेकवेषं कुर्वन्तु। साईं के=भोः, गोस्वामी=चैतन्यमात्मैवाहमिति ज्ञानं विना भ्रमो न नश्यति। तस्मात् स्वान्तरे=स्मरणाभ्यासे, रह=तिष्ठ। आत्मैव सर्वत्र (इति) लेश=दृश्यतामिति भावः[2] ॥२९॥

हे शास्त्रज्ञों, आप शास्त्र का अध्ययन करते जाइए, तीर्थाटन कीजिए, यज्ञ-याग करें, चाहें तो पण्डित, वैष्णव या सन्यासी का वेष भी धारण करें, किन्तु 'मैं चैतन्य हूँ' इस ज्ञान के बिना भ्रम नष्ट नहीं हो सकता। अतः इसी का स्मरण और अभ्यास करते हुए, आत्मा को ही सर्वत्र देखिए।

झिलि मिलि झगरा झूलते वाकी छुटी न काहु।
गोरख अटके कालपुर कौन कहावे साहु ॥३०॥

झिलि मिलीति। भोः, ये नानात्मवादिनः स्वस्वमतवादेषु झगरा=युध्यन्ते, येषां च चित्तं झूलते=भ्राम्यति, वाकी= तेषां कठिनवासना न मुञ्चतीत्यर्थः। कालेनायं देहो जातः। गोरक्षः=गवामिन्द्रियाणां पालनपोषणमित्यस्मिन्कर्माणि, अटके=सज्जते इत्यर्थः। अयमहम् अत्र शरीरे साहुः कः, आत्मा=सद्वक्ता को वेदयति, कोऽपि नास्तीति भावः ॥३०॥

नानात्मवादी आपस में झगड़ते रहते हैं, अतः उनका मन भ्रम में ही रहता है। वे विभ्रान्त से बने रहते हैं। उनकी विषय-वासना भी नहीं छूटती। वे अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने में ही अटके रहते हैं। क्योंकि उन्हें आत्म-ज्ञान बतानेवाला कोई नहीं होता ॥३०॥

गोरख रसिया योग के मुये न जारे देह।
मांस गलि माटी मिला कोरो माँजरि देह ॥३१॥

गोरखेति। गोरक्षो जीवः, इन्द्रियविषयेषु रसिकः। मुयेति। मनुष्योऽहमिति म्रियते।

---

१. लेख=लेष=लेश (ख, ष और श का प्रयोग दर्शनीय है)।

२. दे०—एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति (तैत्तिरीय उ०, २, ७)।

न जारे इति। ब्रह्माहमित्यग्नौ मलिनवासना न दहति। पुनर्नानाक्रियाभिः साधनैरतिकठिनाभ्यासैर्देहस्य मांसं गलित्वा, माटीति=मृतको भवति। कोरो इति। सोऽहमित्यनेन शून्यमन्तरं स्यात्। माँजरि देहेति। स्वविज्ञानं विना शुष्कं चित्तं भवति तेषामिति भावः ॥३१॥

योगाभ्यासी गोरक्षनाथ ने चित्स्वरूप ज्ञानाग्नि से अपनी वासना नहीं जलाई। मांस गल गल कर मिट्टी बनता गया और वे काया-कल्प करके अपनी देह ही मांजते रहे। वस्तुतः, आत्मज्ञान के अभाव में ऐसे व्यक्तियों का चित्त शुष्क ही रहता है ॥३१॥

काटे अाम न मोरसि फाटे जुटे न कान।
गोरख पारस परसे बिना काहे को नुकसान ॥३२॥

काटे इति। भोः, यद्यात्मैवाहमिति खण्डने कृते, आम्रः=अमृतं मोक्षज्ञानं, न मोरसि=न फलति, न प्राप्नोतीत्यर्थः, फाटेति। चित्तं भिद्यमानं भवति। कस्यचित् द्वैतवाक्येन पुनर्ब्रह्मणि युज्यते इत्यर्थ,। भोः, गोरख=देहाभिमानी जीव, पारस=सोऽहमिति चैतन्यस्पर्शं विना, ज्ञानं विनास्मिन् कस्यान्यस्य क्षतिर्हानिर्भवति ? किन्तु तव भविष्यतीति भावः ॥३२॥

आम्र-वृक्ष को काट डाला, तब उसमें अंकुरोद्गम नहीं होता। उसी प्रकार, अमृत (मोक्ष-ज्ञान) दूर होने पर चित्त में छेद अवश्य हो जाता है, जैसे कनफटे योगियों के कान में। किन्तु पारस-रूपी चैतन्य के स्पर्श के बिना जीव का देहाभिमान दूर नहीं हो सकता। यह किसका नुकसान है ? ॥३२॥

जो जानहु जग जीवना जो जानहु तो जीव।
पानपचायेहु आपना पनिया मागि न पीव ॥३३॥

जो जानेति। यद्येवं स्वस्य जानीहि ततः किमिदं सर्वं जगन्ममाधारमतो जगज्जीवनोऽहमिति स्वस्य ज्ञात्वा जीवति, जीवन्मुक्तो भवेत्यर्थः। पानपेति। आत्मैवाहमित्यभ्यासे प्रणतो भव। चाह=निर्विकल्पसमाधिमिच्छन्ताम्। पणियेति। निश्चलो, निष्कामो, निःशोको, निर्मोहो, निराशः, शान्तो भव[1]। मागि=अज्ञो मा भवः। पीवेति। अतो मोक्षामृतं पिबेति भावः ॥३३॥

यह सब जान कर (विचार कर) जीवन्मुक्त होना ही श्रेयस्कर है। मैं आत्मा ही हूँ (शरीर नहीं)—इस अभ्यास के द्वारा, निर्विकल्प, निष्काम, निःशोक, निर्मोह और आशा-रहित तथा शान्त-चित्त हो-होकर मोक्षामृत का आस्वाद लीजिए। अज्ञ मत बनिए ॥३३॥

जो जानहु जिव आपना करहु जीव को सार।
जियरा ऐसा पाहुना मिले न दूजी बार ॥३४॥

जो जानहु इति। यज्ज्ञानादन्यत् ज्ञातव्यं नावशिष्यते[2], ततः स्वस्वरूपं जानीहि। जीव

---

१. भ० गी०, २, ५५ में स्थितप्रज्ञ के लक्षण देखिए।
२. दे० कठोपनिषद्, ६, १४-१५।

को इति। जीवन्मुक्तिरेव सारं (रः) स्यात्तदभ्यस्यताम्। जियरेति। असाविदं वपुर्दुर्लभं स्यात्। भोः, अन्यजन्मनि नरवपुर्मिलति किं वा न मिलति, ततोऽद्य सावधानो भव। चेततामित्यर्थः ॥३४॥

अपने स्वरूप को जानो, जिसे जानने के बाद कुछ भी शेष ज्ञातव्य नहीं रह जाता। यह जीवन्मुक्ति के अभ्यास से ही सम्भव है। नर-देह दुर्लभ है; अगले जन्म में मिले न मिले। अतः अभी से सावधान होना उचित है। समय पर चेतो ॥३४॥

हृदया भीतर आरसी मुख देखा भी[1] जाय।
मुख भी तब ही देखिये जब दिल की दुबिधा जाय ॥३५॥

हृदयेति। हृद्यन्तरे निश्चयात्मिका बुद्धिर्मुकुरवदास्ते। मुखेति। मुख्यात्माहमिति दृष्टिर्भवेद्यदा, तर्ह्यानन्दस्वरूपो भवतीति भावः। पुनर्मुखेति। सर्वेष्वाब्रह्मस्तम्बकीटपतङ्गमशकपर्यन्तेष्वनुस्यूतोऽहमेकं—मुख्यः सर्वत्रैकरसः 'सोऽहम्' (इति) पश्यामीदृशी दृष्टिर्यस्य, तदालेति=चित्तस्य द्वैतभाव (वो) गतः। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, ब्रह्मैवाहमिति श्रुतेः[2] ॥३५॥

मैं आत्म-स्वरूप ही हूँ यह हृदय-दर्पण में देख (विचार) कर ही निश्चित किया जाता है; और तब ब्रह्म से कीट-पतङ्ग पर्यन्त मैं ही व्याप्त हूँ यह दृष्टि हो जाने पर यह सारा संसार ब्रह्म-रूप दिखने लगता है और चित्त का द्वैत-भाव भी जाता रहता है ॥३५॥

ज्यों मुदाद समशान ज्यों शील सब रूप समान[3]।
कहहिं कबिर सावज[4] गती तब की देखि भुकाहि ॥३६॥

ज्यों मुदेति। यथा श्मशाने मुदाद-शवानां शिला स्यात्तद्वत् सर्वे संसारिण इमे आब्रह्मस्तम्बाकाराः शून्यतायां=जडतायां तिष्ठन्ति, अतो ज्ञानहीना इति भावः। कहेति। कबीरः=श्रुतिरित्थं वदति। हीति निश्चये। ओं तद्ब्रह्माहमित्यभ्यासं यो व्रजति=कुरुते, स परमानन्दं लभते इति भावः। तबेति। सर्वस्याद्योऽहं, सनातनोऽहं. ब्रह्मैवाहमिति स्वं दृष्ट्वा=ज्ञात्वा ततः पश्चादन्येभ्यो मुमुक्षुभ्य उपदिशति स इति भावः ॥३६॥

जब तक वास्तविक ज्ञान न हो जाता तब तक संसार के सभी प्राणी श्मशान की शिलाओं की भाँति जड़ ही हैं। प्रत्युत, जो व्यक्ति स्वयं को ब्रह्म-रूप समझकर सरों को भी यही उपदेश देता है, उसका जीवन सार्थक है ॥३६॥

---

१. नहिं जाय (सं० बी० ब०)।

२. छां० उ०, ६, ८, ७।

३. सब इक रूप समाहिं (सं० बी० ब०); सबै रूप समसान (वी० मू० रा०)। 'मुदाद' एक प्रकार का पत्थर, जो सामने की वस्तु को तद्रूप कर लेता है।

४. सावज=शिकार।

चकोल[1] भंरोसे चंद के निगले तप्तौंगार।
कर्हांहि कबिर दाधे नहीं ऐसी वस्तु लगार॥३७॥

चकोलेति। यथा चकोरपक्षी चन्द्रध्यानप्रभावेण तप्ताङ्गारान्निगिलति, तथेदं चित्तं=चकोरः, अनलमिन्द्रियविषयं निगिरति। चन्द्रवदात्माहमित्यनुभवे न तस्याग्निः। त्रिधा ताप उपशाम्यति। अग्नौ न दहतीत्यर्थः। कबीरः=ज्ञानी ब्रुवति, भोः, वस्तुनि=आत्मनि यदा चित्तं लगति तदा तापैर्नं दह्यते इति भावः॥३७॥

चन्द्र में ध्यान लगे रहने के कारण जिस प्रकार चकोर धधकते अंगारे भी बिना कष्ट के निगल जाता है, ठीक उसी प्रकार आत्म-ज्ञानी का चित्त आत्मा में लगा रहने के कारण संसार के ताप से उसे कष्ट नहीं होता॥३७॥

मलयागिरि के वास में वृक्ष रहे सब भोय[2]।
कहिबे को चन्दन भए मलयागिरि नहिं होय॥३८॥

मलयागिरिरिति। मलयगिरिः=ब्रह्म। तदुत्पन्ना गन्धरूपा ब्रह्मविद्या। तत्कथनशीलास्तरुरूपा वक्तारो बहवो भवन्ति, वचसा वर्णयन्ति। कहिबेति। शास्त्रजन्यब्रह्म वक्तुं समर्थाः सन्ति। मलयगिरिसाक्षात्कारो न भवति तेषामिति भावः॥३८॥

ब्रह्मविद्या की बात करने वाले तो बहुत हैं किन्तु उसका अनुभव करने वाले बिरले ही हैं। ऐसे व्यक्ति ब्रह्म के साक्षात्कार से वञ्चित ही रहते हैं। मलय-पर्वत पर उत्पन्न सभी वृक्ष चन्दन नहीं होते॥३८॥

मलयागरि के वास महँ बेधो श्रर्क पलास।
वेणा कबहुँ न बेधिया जुग जुग रहते पास॥३९॥

चन्दनतरौ=ब्रह्मणि ये रताः—हूणशबराः खसाः[3] पापजीवाः चर्मकारादिजातावुत्पन्नास्तेऽपि ब्रह्मरूपा अभवन्, यथा चन्दनगन्धेन सर्वेऽर्कपलाशादयश्चन्दना भवन्तीति भावः। वेणा=वेणुतुल्याः शुष्काश्चतुःसाधनहीना जनाः सद्गुरोः समीपं युगपर्यन्तमपि तिष्ठन्ति, परं तु ब्रह्मज्ञानं न लभन्ते इत्यर्थः॥३९॥

फिर भी, चन्दन के निकट रहने के कारण, मलयगिरि के अर्क-पलाश भी उससे प्रभावित होते ही हैं। उसी प्रकार, ब्रह्म का ध्यान करने से हूण, शबर, खस आदि समुदाय तथा चर्मकार आदि जाति में उत्पन्न व्यक्ति भी उन्नत हो गए; पर सूखे बाँसों पर तनिक भी असर नहीं पड़ सका। साधनाहीन व्यक्ति गुरु के पास पूरा युग बिताने पर भी ब्रह्मज्ञान नहीं पा सकते॥३९॥

---

१. पोथी में प्रायः 'र' और 'ल' का भेद नहीं किया गया है।

२. 'गोय' (सं० बी० ब०)।

३. ये सभी विदेशीय हैं और देश में बसने के बाद इनकी गिनती हिन्दुओं में होने लगी थी।

चलते चलते पगु थका नगर रहा नव कोस।
बीच हि में डेरा पड़ा कहो कवन का दोस ॥४०॥

चलते इति। भो पश्य, योऽनेकयोगयज्ञादि सर्वसाधनं पुनः पुनः करोति, सोऽहमिति ज्ञानं विना, पगु=पंगुः जडं शरीरं वृद्धं भूत्वा म्रियते। नवतत्त्वमयकोशे,[1] रह= तिष्ठतीत्यर्थः। शब्दादिपञ्चविषयाः चतुरन्तःकरणे गृहे पतन्ति। ईश्वराज्जीवो भिन्न इति स्वस्य मन्यते इत्यर्थः। यादृशीं धारणां गृह्णाति तादृशो भवति। अतश्चतुरशीतिलक्षयोनिषु जायते। ज्ञानं बिना मोक्षो न भवतीति भावः ॥४०॥

योग, यज्ञ आदि सभी साधनों का आश्रय लेने वाला व्यक्ति भी आत्मज्ञान के अभाव में पंगु ही है। (इन सभी प्रक्रियाओं के कारण) जड़ शरीर वृद्ध (जीर्ण) होकर मर जाता है और नौ तत्त्व मय कोश अर्थात् शब्दादि-पंच विषय चतुरन्तः-करणरूपी घर में गिर जाते हैं। इस का अर्थ यही है कि वह ईश्वर से जीव को भिन्न मानता है। जैसी धारणा वह बना लेता है वैसा ही सब कुछ हो जाता है। फिर वह चौरासी योनियों में जन्म लेता है। इसका तात्पर्य यही है कि ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती ॥४०॥

मन कहे कहाँ जाइये चित कहो कहाँ जाउँ।
छव मास के हींडते आध कोस पर गाउँ[2] ॥४१॥

मनेति। शृणु। मनः सङ्कल्पविकल्पात्मकम्। यावन्मनस्तावदहं ब्रह्मेति कुतः प्राप्तिः? नैव। चित्तं वदति-यावच्चित्तं तावद्ब्रह्मानन्दः कुतो भवति? नैव। छव मास के इति। षड्विकारमयोऽयं देहः, यद्वा षडूर्मिमयोऽयमहमिति मीमांसते। भोः शुद्धबोधोऽहमिति विचारमर्द्ध-मन्तिकं प्राप्नुयां स्वधाम। यद्वा, अर्धमात्रारूपं धाम;[3] तस्मिन्वसेति भावः ॥४१॥

मन सङ्कल्प-विकल्पात्मक है। उसमें विविध विचार उठते और लीन होते रहते हैं (जैसे व्रत-नियम, तीर्थ-यात्रा, दान-पुण्य, आदि) तब चित्त में विचार होता है कि इन सब में से किस मार्ग का अनुसरण किया जाय। ऐसे अस्थिर चित्त में ब्रह्मानन्द का अनुभव नहीं हो पाता। इस दुविधा में स्थिति वही हो जाती है कि छः मास चलने पर भी गाँव (प्रमुख ध्येय) सदैव आधा कोस दूर ही रह जाता है ॥४१॥

---

१. पंच महाभूत और चतुरन्तःकरण=मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार।

२. इस साखी के तान्त्रिक अर्थ के लिए दे०—सं० बी० ब०, संख्या ५३ और बी० मू० रा०, संख्या ५२।

३. तुलनीय—'अर्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानन्दैकविग्रहः' (रामोत्तरतापिन्युप०, १, ४)। 'अर्धमात्रा' के विविध विवेचन के लिए, दे०—उपनिषद् महाकोश, बम्बई, १९४०, पृ० ५२। इस शब्द का अर्थ 'माया' भी है।

गृह तज के भये उदासी[1] वन खँड तप के जाय।
चोली थाके मारिया बरई चुनि चुनि खाय ।।४२।।

गृहेति। तत आत्मैवाहमिति (ज्ञानं) विना गृहं त्यक्त्वा उदासीनो भूत्वा वनं गच्छति। तपश्चर्यां करोतीति भावः। चोली इति। चोली=शरीरम्, थकितो=जीर्णं भवति। पश्चान्मृतो भवति। बरई=कालोन्तकः[2] आब्रह्मस्तम्बकीटपतङ्गमशकपर्यन्तं सर्वं सूर्योदयास्ताभ्यां क्षणे क्षणे आयुर्हरति, पश्चात्कालः खादतीत्यर्थः ।।४२।।

'मैं आत्मा ही हूँ' यह जाने बिना जो घर छोड़ कर उदासी हो जाते हैं तथा तपश्चर्या में संलग्न भी रहते हैं, यद्यपि उनका शरीर भी क्षीण हो जाता है, (उनकी भी गति वही होती है।) क्षण क्षण करके समय व्यतीत हो जाने पर वे भी काल के ग्रास बन ही जाते हैं ।।४२

राम नाम जिन चीन्हिया झीने पञ्जर तासु।
रैनि न आवे नींदरी अंग न चढ़िया माँसु ।।४३।।

रामेति। राम एवेदं सर्वम्, रामोऽहमिति यो जानाति। झीने इति। स ज्ञानस्वरूपो भवति। रैनि=रात्रिः, स्वप्नावस्थापि नागच्छति। नींदरी=निद्रा, सुषुप्तिरपि नैव। अंग=जाग्रदपि नैव। अवस्थात्रयेभ्यः परन्तु सोऽहमिति मीमांसते ज्ञानीति भावः ।।४३।।

राम ही सारा संसार है और वही मैं भी हूँ यह जानने वाला सच्चा ज्ञानी है। न तो उसे नींद ही आती है और न उसके शरीर पर मांस ही चढ़ता है। वह 'सोऽहम्' की खोज में ही रहता है।

जो जन भीने राम रस विकसत कबहूँ न रूख[1]।
अनुभव भाव न दरसये ते नल (र) दु:ख न सूख ।।४४।।

जो जनेति। यो जनो राम एवाहमिति रामरसे निमग्नो भवति स पुनर्न हृष्यति न [चापि] शोचति, यर्हि अनुभव=आत्मैवाहमिति भावनां स्वान्तरे द्रक्ष्यति, तर्हि तस्य न सुखं न दुःखम्। अत्र प्रमाणं भगवद्गीतोपनिषदि-'न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्। स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ।। समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः'। 'सुहृन्मित्रेष्वुदासीन'[2] इति भावः ।।४४।।

राम (नाम) के रस में जो निमग्न हो जाता है उसको न तो सुख-दुःख होता है न हर्ष-विषाद। गीता में भी कहा है कि उसे न तो इष्ट-प्राप्ति में हर्ष होता है और न किसी अनिष्ट में दुःख। इन दोनों (परिस्थितियों) में वह व्यक्ति समवृत्ति और स्थिर-बुद्धि हो कर पत्थर और सुवर्ण को समान (ही) समझता है ।।४४।।

---

१. पा०—उदासिया।
२. ३. बरई=तँबोली (रूपक में 'काल')।
१. पोथी में 'रोष' लिखा है।
२. भ० गी०, ५, २० और १४, २४ (क्रमशः)।

पारस रूपी जीव है लोह रूप संसार।
पारस ते पारस भया परस भया टकसार ॥४५॥

पारसेति। जीवः प्रकाशरूपः, स्वयं संसारः; ज्ञात्रादि सर्वेन्द्रियाणि तानि, लोहा=जड-रूपाणि। यर्हि येन ज्ञातं-प्रकाशरूपोऽहम्, तर्हि सर्वे प्रकाशरूपा भवन्ति। पारसी=आत्मा, यत्स्पर्शमात्रेण सर्वे ब्रह्मरूपा भवेयुः। यद्वा, गुरोरुपदेशेन मुमुक्षवः प्रकाशरूपिणो भवन्ति। गुरु-रात्मा टकसारीति भाषा-प्रसिद्धम् ॥४५॥

जीव स्वयं प्रकाश-रूप है और संसार लोहा है, जड़ है। जो स्वयं को प्रकाश-रूप जान लेता है उसके लिए सब कुछ प्रकाश-रूप हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा के स्पर्श (ज्ञान) से सब कुछ ब्रह्मरूप हो जाता है। गुरु के उपदेश से (ही) यह सम्भव है ॥४५॥

पाणि पियावत का फिरो घर घर सायर वारि।
तृषावन्त जन होंहिगे पीवहिंगे झख मारि ॥४६॥

पाणीति। भोः ब्रह्मविद्योपदेशकाः, जनानां ज्ञानोपदेशार्थं गृहे गृहे किं भ्रमथ? भोः, इदं सर्वं चैतन्यसमुद्रं पश्यतामिति भावः। हो इति। तृषावान्=मुमुक्षुर्जनो यदि कश्चिदस्ति, तर्हि झष=अविद्यां हत्वा ब्रह्मानन्दं पिबति। स एव ज्ञानी भवतीति भावः ॥४६॥

हे उपदेशको, ज्ञान का उपदेश देने के लिए क्यों घर-घर फिरते रहते हो? इस सारे (विस्तृत) चैतन्य-समुद्र को देखो। जिसे प्यास लगेगी (मुक्ति की इच्छा होगी) वह स्वयं तुम्हारे पास आवेगा ही ॥४६॥

प्रेम पाट का चोलना पहेरि कबीरा नाच।
पानप दीन्हों ताहि को जो[1] तन मन बोले साँच ॥४७॥

प्रेमेति। सद्गुरुरुपदिशति। भोः कबीराः=मुमुक्षवः, प्रेमानन्दमयमङ्गवस्त्रं धारयित्वा नृत्यन्ताम्। भोः नामरूपध्यानरहितोऽसि त्वमेवमवेहीति भावः। पानपेति। पानपदे=ब्रह्मणि प्रणतो भव। तन=स्थूलशरीरम्; मन=सूक्ष्मं वासनामयम्। अनयोः प्रकाशकोऽहं, सत्य-स्वरूपोऽहमिति बोल=अन्योऽन्यं कथ्यतामिति भावः ॥४७॥

हे मुमुक्षु, प्रेम का अंगवस्त्र धारण करके नाचो। तुम नाम और रूप से रहित हो। तन (स्थूल शरीर) और मन (वासना-मय सूक्ष्म शरीर) के प्रकाशक हो। तुम अपने सत्य-स्वरूप को जानो ॥४७॥

दर्पण के[2] गुफा महँ सोनहा पैठे धाय।
देखे प्रतिमा आपनी भूँकि भूँकि मरि जाय ॥४८॥

दर्पणेति। श्वनहा=जीवः मुकुरतुल्यः। बुद्धिर्मुकुरवत्। बुद्धौ प्रकाशरूपो गुहात्रि-

१. छन्द के मान से यह शब्द अधिक है।

२. पा०—'केरी'।

शरीरेषु पञ्चकोशेषु[1] स्थित्वाभिमानी भवेत्। देहोऽहमिति। मत्समोऽन्यः कः? अन्येषां द्रोह-मीर्ष्यां क्रोधं च करोति। वस्तुतः स्वयमात्मा, परं तु न जानाति। ज्ञानं विना मोघं म्रियते इत्यर्थः। यथा श्वानः काचमन्दिरे स्वप्रतिबिम्बं दृष्ट्वा गर्जति तद्वदिति भावः[2] ॥४८॥

जीव दर्पण के समान निर्मल है किन्तु बुद्धि में प्रकाशरूप वही जीव तीन शरीर और पंचकोश में बंध कर अभिमानी हो जाता है और अन्य व्यक्तियों से द्वेष करने लगता है। वह स्वयं आत्मा है किन्तु उसकी स्थिति उस कुत्ते सरीखी हो जाती है जो दर्पण में अपना ही प्रतिबिम्ब देख कर भूंकने लगता है ॥४८॥

ज्यों दर्पण प्रतिबिम्ब देखिये आप दुनों महँ सोइ।
या तत्त्व ते वा तत्त्व[3] याही में पुनि होइ[4] ॥४९॥

ज्यों इति। यथायं नरो मुकुरे स्वप्रतिबिम्बं पश्यति, द्वयोर्मध्ये स्वयमेको भवति, न द्वितीयः, तथात्मा स्वयं चिदाभासस्तदहमेकः, मयि सोऽस्ति, स मयीत्थं विचारादात्मैवाहमिति सत्यमिति भावः ॥४९॥

दर्पण में प्रतिबिम्ब ही दिखाई देता है; वस्तुतः देखने वाला और उसका प्रतिबिम्ब ये दोनों एक ही हैं। उसी प्रकार आत्मा एक ही है; वह चिदाभास है; वही मुझ में व्याप्त है और मैं (भी) उसमें हूं। यही विचार सत्य है ॥४९॥

जेहि वन सायर मुझ ते रसिया लाल कराँहि।
अब कबीर पाँजी परी पंथी आवहिं जाहिं ॥५०॥

जेहि इति। भोः शृणु। येऽज्ञाः, वन सायर=विषयसागरे, मुझ=मुह्यमाना भवन्ति, विस्मृता निमग्नाः, अतः स्वपुत्रधनधामकलत्रादिषु मुह्यन्ति, स्वविचारं विना, रसिया=विषय-सक्ताः, लाल=रक्तवर्णा, राजसी बुद्धिर्येषां भवति, तदा विषय विला (?)[5] मायामोहिता इत्यर्थः। अब इति। भोः कबीर=मुमुक्षो, अधुनैते सर्वे जीवाः पान्थिका जन्ममरणमार्गे पतन्ति, 'गतागतं कामकामा लभन्ते'[6] इत्युक्तेरित्यर्थः ॥५०॥

जो अज्ञजन विषय-सागर में निमग्न होकर, पुत्र, कलत्र, धन, धाम,

---

१. दे०—गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् (कठोप०, २, १२)। त्रि शरीर=स्थूल, सूक्ष्म और कारण। पञ्चकोश—अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्दमय।
२. तुलनीय—प्रतिबिम्बा एव जीवाः (महानारायणोप०, ४, ६)।
३. या तत्त्व ही से वा तत्त्व है (सं० बी० ब०)।
४. या ही से वह होय (बी० मू० रा०)।
५. =विषयाविलाः; या—विषयविलासिनः।
६. भ० गी०, ९, २१।

आदि में आसक्त हो जाते हैं उनकी बुद्धि राजसी है। वे विषयासक्त हो कर जन्म-मरण मार्ग के पथिक बनते हैं ॥५०॥

गही टेक नहिं छोड़ई चोंच जीभ जरि जाय।
ऐसो तप्त अँगार हे ताहि चकोर चबाय ॥५१॥

गहीति। शुद्धबोधोहमिति, टेक=प्रतिज्ञां यो, 'गृह्णाति कदापि, [यद्यपि] दुःखं भवेत्। कथं दुःखं वा सुखमतिकष्टकरं देहस्य भवति, तदप्यभ्यासं न मुञ्चेत। अत्र दृष्टान्तमाह—यथा चकोरो जिह्वाचञ्चुर(म)पि दहति तदपि तप्ताङ्गारमश्नातीति भावः ॥५१॥

मैं शुद्ध-बोध हूं यह प्रतिज्ञा (निश्चय या अनुभूति) यदि कर ली तो उसे छोड़ना योग्य नहीं, यद्यपि कितना ही दुःख उठाना पढ़े। दुःख और सुख तो देह-धर्म हैं। जीभ और चोंच में जलन होने पर भी चकोर अंगारा चबा ही जाता है ॥५१॥

दुहरा तो नूतन भया पदहिं न चीन्हे कोय।
जिहि यह शब्द विवेकिया छत्र धनी है सोय ॥५२॥

दुहरेति। दोहरा=दुह्यतेऽसौ दोहः, स्वानन्दः। तरति=ददाति स आसमन्तात् परिपूर्णश्चिदात्माहं, नूतनोऽहं, सर्वदैकरसोऽहम्। भयेति। निश्चयरूपमेतादृशं पदं कश्चिद्विरलो जानाति। अज्ञो न वेत्तीत्यर्थः। जिन्हि इति! य आत्मैवाहमिति शब्दं विवेच्यते (वेवेक्ति) स एव विवेकी। स एव सर्वपरः। स एव सर्वशिरोभागः। स एव धन्योऽस्तीत्यर्थः ॥५२॥

मैं परिपूर्ण हूं, चिदात्मा हूं, मैं सर्वदा एकरस हूं, ऐसी भावना बिरले ही व्यक्ति की होती हैं। वही विवेकी है। वही सर्वोन्नत और धन्य है। आत्म-विवेचन करने वाला ही इस स्थिति पर पहुंच सकता है ॥५२॥

कबीर जात पुकारिया चढ़ि चन्दन के डार।
बाट लगाए ना लगे फिर[1] का लेत हमार ॥५३॥

कबीरेति। कबीरः=श्रुतिः स्मृतिरित्थं वदति। चन्दन=चैतन्योऽहमिति शाखाग्रे आरुह्य नदन्ति तथापि मार्गं न गृह्णन्ति[2]। तवेदं, त्वदीयं, मदीयमित्यस्मिन् विमुह्यन्ति, पश्चादन्ययोनिषु किं ज्ञानं प्राप्नोपि (ति)? नेति भावः ॥५३॥

श्रुति और स्मृति भी यही कहती हैं। तथापि, 'मैं शुद्ध चैतन्य हूं' यह भान होने पर और तरु-शाखा पर चढ़कर (ऊंची आवाज में) यही चिल्लाने पर भी व्यक्ति सत्य-मार्ग नहीं पकड़ता और 'तेरा-मेरा' इस मोह-नदी में बह जाता है जिसके फल-स्वरूप उसे अन्य योनियों में भ्रमण करना पड़ता है ॥५३॥

---

१. पा०—पुनि।

२. यह विषयी व्यक्ति के लिए कहा गया है।

सब ते साँचा ही भला जो दिल साँचा होय।
साँच बिना सुख है नहीं कोटि करे जो कोय ।।५४।।

सब ते इति । भोः, सब ते=सर्वकल्पना । अनेकमतवादेभ्यः सच्चिदानन्दोऽहमिति सत्यं यो जानाति स एव भला=श्रेष्ठः साधुर्भवति । अत आत्मैवाहमित्यभ्यासात् बुद्ध्यन्तःकरणे शुद्धे भवत इति भावः । साँचेति । चिदात्माहमिति सत्यं विना सुखं न भवति । कोटियोगयज्ञव्रत-तीर्थाटनपूजनादि बहुविधं कुर्वन्ति परन्त्वानन्दं न लभन्ते इत्यर्थः ।।५४।।

सभी प्रकार की कल्पनाओं में 'मैं सच्चिदानन्दरूप हूं' यह जानने वाला श्रेष्ठ है। इससे बुद्धि और अन्तःकरण शुद्ध होते हैं। करोड़ों योग, यज्ञ-याग, व्रत-तीर्थ, पूजन आदि करने पर भी वह आनन्द उपलब्ध नहीं हो सकता ।।५४।।

सुकृत वचन माने नहीं आपु न करे विचार।
कहहिं कबीर पुकारि कै स्वप्न भया संसार ।।५५।।

सुकृतेति । सुष्ठु बोधं करोतीति सद्गुरुर्भगवान् श्रुतिरपि तत्त्वमस्यादि विचार=वचनं, ज्ञानामृतमुपदिशति जिज्ञासुम् । तन्न मन्यते । स स्वयं तु विचारं न कुरुतेऽतः संसृतिं गच्छति । कहेति । ज्ञानी विज्ञानवेत्ता कबीरो ब्रुवति एवम् । सर्वसंसारः=लोकः, स्वप्नतुल्यः[1] । धनधाम-पुत्रकलत्रादिष्वसह्य[व्य]वहारमार्गे गच्छति न त्वात्मनीति भावः ।।५।।

सद्गुरु, भगवान् और वेद भी जिज्ञासु के (लाभ के) लिए ज्ञानामृत का उपदेश देते ही हैं । किन्तु इन के कथन की उपेक्षा करने के कारण पुनर्जन्म लेना पड़ता है । कबीर कहते हैं कि समस्त संसार स्वप्नतुल्य है और आत्म-विचार से ही मुक्ति प्राप्त होती है, न कि धन, धाम और पुत्र, कलत्र से ।।५५।।

आगि जो लागि समुद्र महँ जरे जो काँदो झारि।
पूर्व पछिम के पण्डिता मुए विचारि विचारि ।।५६।।

आगि इति । शुद्धोऽहं बोधोऽहमिति समुद्र=अन्तःकरणे, काँदो=रागद्वेषादिस्थूलसूक्ष्मे वा, त्रिधा कर्म[2] सर्वं भस्मसाद्भवति। पूर्वं जीवत्वं, पश्चिमं ब्रह्मत्वं, तदेतत्सत्यमैक्यं कृत्वा सदसद्विवेकिनः पण्डिताः, मूये=देहाभिमानाद्रहिता भवन्ति । आत्मैवाहमिति विविच्य विविच्य जीवन्मुक्ता भवन्ति । ब्रह्मीभूता भविष्यन्तीत्यर्थः ।।५६।।

मैं निर्मल हूं और मुझे बोध हो गया है, यह विचार अग्नि के समान है जो अन्तः करणरूपी समुद्र के पदार्थ, जैसे राग-द्वेष, स्थूल और सूक्ष्म शरीर तथा तीनों प्रकार के कर्मों को जला देता है । सदसद्विवेकशील

---

१. तुलनीय—निर्वाणोपनि० ३, आदि ।
२. संचित, संचीयमान और प्रारब्ध ।

व्यक्ति इसी प्रकार जीव और ब्रह्म का ऐक्य करके देहाभिमान से छुटकारा पाकर जीवन्मुक्त बन जाता है ।।५६।।

आगि जो लागि समुद्र महँ टूटि टूटि खसे झोल।
रोवे कबिरा डंफिया हीरा जरे अमोल ।।५७।।

आगि इति । चिदहं ब्रह्मेत्यग्नावन्त:करणरूप: समुद्रो दहति शुष्यति [च] । तस्माद्देहाभिमान:, खसे=नश्यति, यथाग्नौ विस्फुलिङ्गास्त्रुटयन्ति । कबीरा: कर्मकाण्डिन: सकामा:, डंफिया[1]=अस्ति नास्तीति दिगम्बरा: पाष(ख)ण्डिनो नैयायिकादय: [च] शुष्कवादिन: सुख-दु:खे वादावादे रुदन्ति, इदमेव मतं[2] सत्यं मन्यन्ते । हीरा=परमकारणात्मा सर्वप्रकाशकोऽलौकिको देहाभिमाननानावलेशेषु दह्यमानो भवतीत्यर्थ: ।।५७।।

मैं सच्चिदानन्द हूं यह आग अन्त:करणरूपी समुद्र में जब प्रज्ज्वलित हो जाती है तब उसमें सभी प्रकार के वादावाद, कर्मकाण्ड, सकाम कर्म, पाखण्ड-वाद के साथ सुख-दु:ख भी भस्म हो जाते हैं और देहाभिमान भी नष्ट हो जाता है जिससे परम कारण रूपी हीरे में अधिकाधिक चमक आती रहती है ।।५७।।

आगि जु लागि समुद्र में धूआँ प्रकट न होय।
सो जाने जो जरि मुआ जाकी लाई होय ।।५८।।

आगि इति । आत्मैवाहमित्यग्निरन्त:कर्ण (करण) समुद्रे लगति । ततो वासना सर्वा भस्मसाद्भवति । पुनर्धूम=अविद्या न प्रकटीभवति । अतो निर्वासनो हंसो, जाने='सोऽहमिति जानामीत्यभ्यासेन' सद्गुरुरुपनिषद्वाक्यद्वारा मुमुक्षुं प्रत्युपदिशति । तदा सर्वकर्माणि दहन्ति । अत्र श्रुति: —'आत्मानं चारणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् । ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात्पाशं दहति पण्डित:'[3] इति सत्यमेवाभिप्राय: ।।५८।।

आत्मज्ञान की अग्नि अन्त:करणरूपी समुद्र में जल कर सभी वासनाओं को भी जला डालती है और अविद्यारूपी धुआं भी दिखाई नहीं देता । तब इस वासना-हीन व्यक्ति के सभी कर्म गुरु के उपदेश द्वारा नष्ट हो जाते हैं और वह भव-पाश से मुक्त हो जाता है ।।५८

लाई लावनहारकी जाकी लाई पर जरे।
बलिहारी लावन हार की छप्पर बाचे घर जरे ।।५९।।

लाईति । ला आदाने, इल् स्तुतौ । ला=सर्वग्राहक: । इल: स्तुत्यर्थ:, इति लाई । ला

---

१. =दम्भिन: ।

२. तैरेव प्रतिपादितं, नान्यत् ।

३. दे०—ब्रह्मोपनि०, १८, आदि ।

च हरतीति हरः; हर एव हरः। वनं=विषयसमूहं हरतीति वनहरः। एतादृशः सद्गुरुस्तस्योपदेशाग्निना, पर=मुमुक्षोर्मनोविहंगस्य सङ्कल्पविकल्पात्मकौ पक्षौ दहति। एतादृशो लावनहार=ला चासौ वनहारश्च सद्गुरुर्धन्यः। छप्पर=सर्वोपरि[1], तेन घर[2]=स्वगृहान्तःकर्णं (करणं) दाहयति। सैव सर्वेषु विनश्यत्सु तिष्ठति। 'न मे भक्तः प्रणश्यति'[3] इति कृष्णेनार्जुनं प्रत्युक्तमित्यर्थः ॥५९॥

मुमुक्षु के मन रूपी विहंग के संकल्प-विकल्पात्मक पंखों को काटने वाला सद्गुरु धन्य है, जिसके अनुग्रह से छप्पर (घर का सर्वोच्च भाग) तो बच जाता है किन्तु अन्तःकरण रूपी घर भस्मसात् हो जाता है (गुरु के ही उपदेश से सर्वश्रेष्ठ सिद्धि उपलब्ध होती है)। तब केवल भक्त ही रह जाता है जैसा कि गीता में भी कहा है ॥५९॥

बूँद जो परा समुद्र में यह जाने सब कोय।
समुद्र समाना बूँद में बूझै बिरला कोय॥६०॥

बूँदेति। बूँद=चिदाभासोऽविद्यासमुद्रे पतति। आचार्याः सर्वे इत्थं वदन्ति। जानेति। समुद्ररूपा अविद्या आत्मैवाहमिति बिन्दौ=चैतन्ये समालीयते इत्यर्थः। ईदृशमनुभवं कश्चिद्विरलो ज्ञानी जानाति। 'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये'[4] इत्युक्तेरिति भावः ॥६०॥

आचार्यों का कथन है कि चिदाभास रूपी बूंद अविद्या रूपी समुद्र में गिरता है। बूंद का समुद्र में समा जाना तो सर्व-विदित है ही, किन्तु समुद्र का बूंद में समा जाना बिरले ही जानते हैं। (यहां बिन्दु से चैतन्य अभीष्ट है, जिसके उदय होते ही अविद्या-रूपी समुद्र अदृश्य हो जाता है ॥६०॥

जहर जिमीदे रोपिया अमि सींचे सत बार।
कबिर खलक नाहीं तजे जामहँ जौन बिचार॥६१॥

जहरेति। विषया एव विषवत्, जिमी=अन्तःकरणे ध्यानमारोपयन्ति। तं विषयिणं सद्गुरुर्ज्ञानामृतेन शतवारं सिञ्चति, तदपि, खलक एव खलः। कः? देहाभिमानी। स विषयिस्वभावं न मुञ्चति। पुनः पुनः [सेवनेन] तृप्तिर्न भवेत्[5]। विषये विषयविचारो भवति, न त्वात्मनीत्यर्थः अत्र प्रमाणं भगवद्गीतोपनिषदि-ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽपि जायते ॥ क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।

---

१. ब्रह्मानन्द (रूपक)।
२. अन्तःकरण, वासना (रूपक)।
३. भ० गी०, ९, ३१।
४. वही, ७, ३।
५. अत्र 'तस्य' इति योज्यम्।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।। इति[1] प्रामाण्यात् सत्यमेवेत्यभिप्रायः ।।६१।।

विषयी के अन्तःकरण को विष-तुल्य वासना इतनी मजबूती से पकड़ लेती है कि सद्गुरु के द्वारा ज्ञानामृत से सौ बार सींचने पर भी देहाभिमानी खल अपने विचार नहीं छोड़ सकता । विषयों के सेवन से उसकी तृप्ति कभी नहीं होती। उसे विषयों का ही विचार होता है, आत्मा का नहीं। गीता में भी कहा है कि विषयों के ध्यान से उनका संग और उससे क्रमशः, काम, क्रोध, सम्मोह, स्मृति-भ्रंश बुद्धि का नाश ये सभी होते हैं और अन्त में विनाश ।।६१।।

धव की डाढ़ी लाकरी ओभी करे पुकार।
अब जो परेउ लोहार घर डाढ़े दूजी बार।।६२।।

धवेति। धव=वृद्धावस्था । लाकरी=शरीरम्, डाढ़ी=जीर्णतां याति । ओभी (ऊभी)=ऊर्ध्वो भूत्वा नानाचिन्तामानयति। अयं हरिरित्यभ्यासं विना पुनः लोहारघर=कालगृहे गच्छति। आब्रह्मादिसर्वेषां काल उपतिष्ठति। दूजी बार=पुनर्जन्मान्तरे, डाढ़ी=जरादिनानादुःखं सहते इति भावः ।।६२।।

वृद्धावस्था में शरीर जीर्ण होकर लकड़ी बन जाता है और 'मैं ब्रह्म हूं' इस अभ्यास के अभाव के फलस्वरूप वह लुहार के घर (कालगृह में) जाकर जन्मान्तर के चक्कर में फंस कर जरा-मरण आदि का दुःख सहता रहता है ।।६२।।

विरह कि ओदी लाकरी सपचे औ धुँधुवाय।
दुख ते तब ही बाँचि हो जब सकलो जरि जाय।।६३।।

विरहेति। विरहो नाम वैराग्यम् । तत् त्रिधा-मन्दतीव्रतीव्रतरेति। मन्दतीव्रयोर्द्वैतापत्तिर्भवति, सधूमकल्पना भयं च। यदा तीव्रतरो जायते तर्हि तस्य निर्विकल्पो भवति; निर्धूमो भवति। यदा सकलवासना चिदहमित्यभ्यासेन दहति तदा सर्वदुःखाग्निर्मुक्तो भवति। अत्र प्रमाणं गीतोपनिषदि—'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुते तथा । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन'[2] ।। इति ।।६३।।

विरह-वैराग्य की लकड़ी पूरी जल जाने पर ही उससे धुआं नहीं निकलता। वैराग्य के तीन प्रकार हैं—मन्द, तीव्र और तीव्रतर । इनमें से अन्तिम प्रकार ही निर्धूम अग्नि 'मैं चिदानन्द हूं' इस अभ्यास द्वारा निर्विकल्प हो जाने के फलस्वरूप विषय वासना को जला डालता है। 'मैं चैतन्य-स्वरूप हूं' इस अभ्यास से सब वासना जल जाने पर ही प्राणी समस्त दुःख से

---

१. भ० गी०, २, ६२-६३।
२. वही, ४, ३७।

मुक्त हो जाता है। गीता में भी कहा है कि तेज आग सब कुछ जला डालती है। उसी प्रकार ज्ञानाग्नि सब कर्मों को भस्मसात् कर डालती है ॥६३॥

दोहरा कतर कहहिं कबीर प्रति दिन समो जु देखि।
मुई गये न बहुरे बहुरि न ऐहैं फेरि[1] ॥६४॥

दोहरेति। दुह=परिपूर्णः। आसमन्तात् परिपूर्णं ब्रह्म तत्सम्बन्धिनीं वाणीं, कबीराः=कवयः, कतर=अनेकविद्यां प्रतिदिनं वदन्ति। भोः आत्मा सर्वेषु समः=तुल्यो वर्तते इति पश्यताम्। मनुष्यदेहः कस्यार्थे धृतस्तद्विचारं कुरु। मुई गये=ये देहाभिमानाद्रहितास्ते मृताः, ब्रह्मैवाहमित्यानन्दे गताः। लीनास्ते पुनरविद्यायां न पतन्ति, 'न स पुनरावर्तते'[2] इत्युक्तेरित्यर्थः ॥६४॥

ब्रह्म परिपूर्ण है यह वाणी अनेक प्रकार द्वारा कही जाती है। मनुष्य-देह धारण करने का उद्देश्य सोचो। देहाभिमान से अलिप्त होकर जो व्यक्ति ब्रह्मानन्द में लीन हो जाता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। वह फिर संसार में नहीं आता ॥६३॥

साँचा शब्द कबीर का हृदया देखि बिचारि।
चित्त दे समुझे नहिं मोहिं[3] कहत भए जुग चारि ॥६५॥

साँचेति। कबीरः=सद्गुरुरुपनिषत्तत्त्वमसि, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'[4] इति सत्यशब्दं हृदये पश्यतां, विचार्यतामेवं ब्रुवन् सन् चतुर्युगाः व्यतीताः। श्रुतिरूपोऽहं कथयामि परं तु चित्ते धारणां न करोति। अतो मूढो=मन्दमतिरित्यर्थः ॥६५॥

'तत्त्वमसि' और 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यही वेद का सत्य वचन है। इसे विचार द्वारा देखो और समझो। कबीर कहते हैं कि कहते-कहते चार युग बीत गए, फिर भी जो इस उपदेश को अपने चित्त में धारण नहीं करता वह मन्दमति ही है। मूर्ख है ॥६५॥

जो ते साँचा बानिया साँची हाट लगाव।
अन्दर झारू देइ के कूरा दूरि बहाव ॥६६॥

जो ते इति। भो मुमुक्षो यदि त्वं सत्यमसि, वणिग्व्यवहारं=इन्द्रियविषयं मृषारूपं मा कुरु। साँची हाटेति। 'सत्यं ज्ञानमनन्तोऽहमिति' सद्वाणिज्यं कुरु। पुनः, अन्दर झारू=अन्तःकरणमार्ज्जनं कुरु, निर्मलं कुरु। आत्मैवाहमित्यभ्यासेन, कूरा=अज्ञानं, दूरी कुरु[5] ॥६६॥

---

१. पा०—कत ऊबरे ... पेख (सं० बी० ब०)।

२. निरालम्बोप०, ३३, आदि। तुलनीय—न स भूयोऽभिजायते (भ० गी० १४-२४)।

३. छन्दोभङ्ग।

४. महावाक्य (तैत्तिरीयोपनि०, २, १, १ आदि)।

५. तुलनीय—भ० गी०, ४: ४२।

मुक्त हो जाता है। गीता में भी कहा है कि तेज आग सब कुछ जला डालती है। उसी प्रकार ज्ञानाग्नि सब कर्मों को भस्मसात् कर डालती है ॥६३॥

दोहरा कतर कहँहि कबीर प्रति दिन समो जु देखि।
मुई गये न बहुरे बहुरि न ऐहैं फेरि[1] ॥६४॥

दोहरेति। दुह=परिपूर्णः। आसमन्तात् परिपूर्णं ब्रह्म तत्सम्बन्धिनीं वाणीं, कबीराः= कवयः, कतर=अनेकविद्यां प्रतिदिनं वदन्ति। भोः आत्मा सर्वेषु समः=तुल्यो वर्तते इति पश्यताम्। मनुष्यदेहः कस्यार्थे धृतस्तद्विचारं कुरु। मुई गये=ये देहाभिमानाद्रहितास्ते मृताः, ब्रह्मैवाहमित्यानन्दे गताः। लीनास्ते पुनरविद्यायां न पतन्ति, 'न स पुनरावर्तते'[2] इत्युक्तेरित्यर्थः ॥६४॥

ब्रह्म परिपूर्ण है यह वाणी अनेक प्रकार द्वारा कही जाती है। मनुष्य-देह धारण करने का उद्देश्य सोचो। देहाभिमान से अलिप्त होकर जो व्यक्ति ब्रह्मानन्द में लीन हो जाता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। वह फिर संसार में नहीं आता ॥६३॥

साँचा शब्द कबीर का हृदया देखि बिचारि।
चित्त दे समुझै नहिं मोहिं[3] कहत भए जुग चारि ॥६५॥

साँचेति। कबीरः=सद्गुरुरुपनिषत्तत्त्वमसि, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'[4] इति सत्यशब्दं हृदये पश्यतां, विचार्यतामेवं ब्रुवन् सन् चतुर्युगाः व्यतीताः। श्रुतिरूपोऽहं कथयामि परं तु चित्ते धारणां न करोति। अतो मूढो=मन्दमतिरित्यर्थः ॥६५॥

'तत्त्वमसि' और 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यही वेद का सत्य वचन है। इसे विचार द्वारा देखो और समझो। कबीर कहते हैं कि कहते-कहते चार युग बीत गए, फिर भी जो इस उपदेश को अपने चित्त में धारण नहीं करता वह मन्दमति ही है। मूर्ख है ॥६५॥

जो ते साँचा बानिया साँची हाट लगाव।
अन्दर झारू देइ के कूरा दूरि बहाव ॥६६॥

जो ते इति। भो मुमुक्षो यदि त्वं सत्यमसि, वणिग्व्यवहारं=इन्द्रियविषयं मृषारूपं मा कुरु। साँची हाटेति। 'सत्यं ज्ञानमनन्तोऽहमिति' सद्वाणिज्यं कुरु। पुनः, अन्दर झारू=अन्तःकरणमार्ज्जनं कुरु, निर्मलं कुरु। आत्मैवाहमित्यभ्यासेन, कूरा=अज्ञानं, दूरी कुरु[5] ॥६६॥

---

१. पा०—कत ऊबरे···पेख (सं० बी० ब०)।

२. निरालम्बोप०, ३३, आदि। तुलनीय—न स भूयोऽभिजायते (भ० गी० १४-२४)।

३. छन्दोभङ्ग।

४. महावाक्य (तैत्तिरीयोपनि०, २, १, १ आदि)।

५. तुलनीय—भ० गी०, ४: ४२।

अगर तू सच्चा साहुकार है तो सच्चा व्यवहार कर। झूठे इन्द्रिय-विषय के पीछे मत पड़। मैं सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म हूं यह समझना ही सच्चा व्यापार है। सर्वप्रथम 'मैं आत्मा ही हूं' इस अभ्यास के द्वारा अन्तःकरण शुद्ध करके अज्ञान के कूड़े को झाड़ दो।।६६।।

कोठी तो यह काठ की ढिग ढिग दीन्ही आगि।
पंडित पढ़ि गुणि झोली भये साकत उबरे भागि।।६७।।

कोठीति। पञ्चकोशा[1] एव कोष्ठानि विद्यन्ते यस्मिन्स कोष्ठी, काष्ठमयः। जडवदयं देहः। यद्वा, कोठी=स्थूलशरीरे कोष्ठ=कायिकवाचिकमानसिकेति त्रिधा कर्माणि सञ्चित-प्रारब्धागामीनि, ढिग=आत्मैवाहमित्यग्निरभ्यासात्सर्वकर्माणि दहति[2]। पुनरन्योऽयं ब्रह्मवार्ता वक्तव्या; सदैव पुनरात्मैवाहमित्यन्तरभ्यासः कर्तव्यः। पण्डिताः समदर्शिनः, पढ़ि=निर्विकल्पकसमाधिं विविच्य विविच्याभ्यासं कुर्वन्ति। गुणी=साक्षाद्रूपा भवन्ति। निरिन्धनाग्निवत् शान्तरूपा भवन्ति। ते सर्वे, साकत=संकेतादुर्वरिताः। ते धन्याः=सभाग्या भवन्ति।।६७।।

देह जड़ है; काष्ठमय है। पञ्चकोश इसके कोठे हैं, अथवा कायिक, वाचिक और मानसिक ये तीनों प्रकार के कर्म अथवा सञ्चित, प्रारब्ध और आगामी—ये भी इसके कोठे कहे जा सकते हैं। 'मैं आत्मा ही हूं' यह अभ्यास-रूपी अग्नि इन सभी कोठों को जला डालती है। इस प्रकार समदर्शी हो जाने पर निर्विकल्प समाधि का उदय होता है। उसके बाद ईंधन न मिलने के कारण गुणी (अपने आप) शान्तरूप हो जाता है। वह धन्य है।।६७।।

सावन के[3] सेहरा बूँद परे असमान।
सब दुनिया वैष्णव भया गुरु नहिं लागा कान।।६८।।

सावनेति। श्रावणः=संसारः। संसृतिः, जन्ममरणयोर्मार्गः। सेहरा=मुकुटम्, अभिमानं ये धारयन्ति, पुनस्ते, बूँद=कथावार्ता सर्वे वदन्ति, शृण्वन्ति [च], परं रन्तु आत्मविचारं न लभन्ते। अस्मिल्लोके एकमाश्चर्यं शृणु। आब्रह्मादिगूर्जराभीरकाच्छीमालीपर्यन्ताः[4] सर्वजातयः स्वस्ववेषपाषं(खं)डमालातिलकं धारयित्वा स्वयमिति मन्यन्ते किं वयं वैष्णवा विष्णुभक्ता इत्यभिमानं मन्यमाना विष्णुरेवेदं सर्वमहं विष्णुरित्थं न जानन्ति। कुतः? सद्गुरूपनिषद्वाक्यानि वर्णयन्तस्तान् कर्णपुटे न शृण्वन्ति, अतोऽज्ञाः। अत्र प्रमाणं गीतासूक्तम् सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः[5]। ते वैष्णवा इति भावः।।६८।।

संसार जन्म-मरण का मार्ग है। उसमें अनेक व्यक्ति अभिमान का मुकुट

---

१. पञ्चकोश=अन्न- प्राण, मनस्- विज्ञान और आनन्दमय।
२. तुलनीय—भ० गी०, ५,१७।
३. छन्द-शुद्धि के लिए प०-'केरा'।
४, 'भी' को ह्रस्व और दीर्घ ये दोनों मात्राएं दी गई हैं।
५. भ० गी०, ६, २९।

धारण कर कथा-वार्ता करते हैं, कहते हैं और सुनते हैं पर वे सभी आत्म-विचार से रहित ही होते हैं। आश्चर्य तो यही है कि सभी जातियां अपना अपना वेष, माला, तिलक आदि को धारण कर स्वयं को विष्णु-भक्त बतलाते हैं, किन्तु वे नहीं जानते कि सारा संसार विष्णु ही है। सद्गुरु और उपनिषद् की बात (उपदेश) न सुनने वाले ये सभी मूर्ख ही हैं। गीता के अनुसार वैष्णव वही है जो समदृष्टि से आत्मा को सभी प्राणियों में और सभी प्राणियों को आत्मा में देखता है ।।६८।।

ढिग बूड़े उछले नहीं इहै अंदेसा मोहिं।
सलिल मोह की धार में का निंदि आई तोहिं ।।६६।।

भोः पश्य निकटम्। मनुष्योऽहमिति स्वयं वदति, [किन्तु] निमज्जति, आत्मैवाहमिति नोच्छलति इत्याश्चर्यम् । अँदेशा=विचारः, महानिति नोन्मज्जतीत्यर्थः । स्वयं परमात्मा वदति-भोः जीव, ममैवांशोऽसि[१] त्वमहमेकोहम्। हंसस्वरूपावावाम्। ईदृशो भूत्वा मोहसलिल-धारायां किं निद्रितोऽसि; मोहितोऽसि। पुत्रकलत्रादिषु ममतां मत्वा मुह्यसे इति भावः[२] ।।६६।।

आश्चर्य है कि व्यक्ति 'मैं मनुष्य हूं' यह मानने पर तो डूबता है, और 'मैं आत्मा हूं' यह मान कर ऊपर नहीं उठता । स्वयं परमात्मा ने कहा है कि इन दोनों (जीव और ब्रह्म) में कोई अन्तर नहीं है, फिर भी तू पुत्र-कलत्र आदि में ममत्व के कारण मोह-सलिल की धारा में डूबा रहता है ।।६६।।

कहंता तो बहु मिला गहंता मिला न कोय।
सो कहंता वहि जान दे जो न गहंता होय ।।७०।।

कहंतेति। चतुर्वेदं षट्शास्त्रं वक्तारो बहवः पौराणिकाः। बहवो वाचकज्ञाने दक्षाः। परं तु तेषां मध्ये आत्मैवाहमिति निश्चयं ग्रहीतुं कोऽपि न मिलितः। अतोऽनेकवाणीविग्लापनेन बहुव्याख्यानेन किं प्रयोजनं यद्यात्मविचारं न गृह्णाति? स व्यर्थमेव जीवति। अत्र श्रुतिः प्रमाणम्-'कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीनास्तु रागिणः तेऽप्यज्ञानतमा नूनं पुनरायान्ति यान्ति च' इति ।। 'कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीनास्तु रागिणः। नानुतिष्ठन्ति मैत्रेयि शिश्नोदरपरायणाः'। इति च[३] ।।७०।।

वेद और शास्त्रों के वाचन में दक्ष पौराणिक अनेक हैं, किन्तु उनमें भी आत्मज्ञान का निश्चय कराने वाले नहीं हैं। यदि आत्म विचार न हो तो वाक्चातुर्य और व्याख्यान का क्या प्रयोजन? वेद में कहा ही है कि ब्रह्मवार्ता में कुशल और रागी ऐसे लोग संसार में जाते हैं और फिर आते ही हैं ।।७०।।

---

१. भ० गी०, १५, ७।

२. राघवदास ने इस साखी का भिन्न ही अर्थ किया है।

१. तेजोबिन्दूप०, १, ४६।

साखी[1] कहे गहे नहिं चाल चली नहिं जाय।
सलिल मोह नदिया बहै पाँव कहाँ ठहराय ॥७१॥

साखीति। भोः, परवाक्यप्रमाणं साखीशब्दं सद्वाणीं पठित्वा, यद्वा, साखीशब्दं बहवः पान्थिनो वदन्ति, यद्वा, श्रुतिस्मृतिवाक्यं बहुविधं कथयन्ति, परं तु ते सर्वे साखीशब्दे महात्मभिर्यदुक्तं, श्रुत्यादिषु च यदुक्तं तन्न गृह्णन्ति। यन्मार्गे पूर्वयोगिनो···[2] स एव मार्गः श्रेष्ठः। तत्पथं विहाय पाष(ख)ण्डपथं देवविप्रतीर्थवेदावताराणां निन्दाकूटिरूपं[3] पथं धारयन्ति तत्र शान्तिः कुतः? ते द्वेषरूपाः। कुतः? यत्र मोहमयी नदी वहति- मम पुत्रः, मम भार्या, मम धाम, मम पशुः, मम मठः, मम कुटी, मम शिष्यः, मम सेवकोऽस्यामेव मोहनद्यां सर्वे वहन्ति, तत्र तेषु, पाँव=आत्मनिश्चयः कथं तिष्ठति? नैव। भागवते प्रोक्तम्—'मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः। कलौ तूत्पथगामिन[4] इति भावः ॥७१॥

साखी (साक्षी) का अर्थ (किसी) दूसरे का कहना अथवा श्रुति और स्मृति का प्रमाण ही होता है। किन्तु श्रुतिवाक्य का या महात्माओं के कथन का ग्रहण नहीं किया जाता, यद्यपि वही मार्ग श्रेष्ठ है। उसे छोड़कर, देव, विप्र, तीर्थ, अवतार के साथ निन्दा का भी मार्ग अपनाया जाता है। उस द्वेष-रूप मार्ग में शान्ति कहां? मेरी स्त्री, मेरा घर, मेरे पशु, मेरा निवास, मेरा शिष्य, मेरा सेवक—इसी मोह-नदी में सभी बह रहे हैं। इससे शान्ति नहीं मिल सकती। भागवत में यह (सब) कलियुग का प्रभाव बतलाया है ॥७१॥

जहँ गाहक तहँ हौं नहीं हौं तहँ गाहक नाहिं।
बिनु विवेक भरमत फिरे देखि शब्द की छाँहि ॥७२॥

जहँ इति। यत्रात्मैवाहमिति ग्राहकस्तत्र, हौं=देहाभिमानो नास्ति। यत्र, हौं=देहाभिमानस्तत्रात्मनिश्चयो न[5]। भोः, सदसद्विवेकं विना सर्वे भ्रमन्ति शब्द=उपनिषज्जन्यं ज्ञानं पश्यताम्। 'तत्त्वमसि'[6] इत्यादिवाक्यं जानीहीति भावः ॥७२॥

मैं आत्मा ही हूं यह भावना जागृत होने पर देहाभिमान दूर हो जाता है। देहाभिमान जब तक रहता है तब तक आत्म-निश्चय नहीं हो पाता। सदसद्विवेक के बिना भटकना ही पड़ता है। अतः उपनिषज्जन्य ज्ञान प्राप्त करके 'तत्त्वमसि' इस का अर्थ जानो ॥७२॥

---

१. 'सा' के स्थान पर पोथी में 'शा' लिखा है।

२. ये दोनों अक्षर अस्पष्ट हैं। 'यान्ति' पढ़ने से अर्थ-संगति होती है।

३. =निन्दादिकोटिरूपम्।

४. भा० पु० १, १, ३२ (भागवत-माहात्म्य)। वही, १२, २ भी देखिए।

५. तुलनीय—भ० गी०, २, ४३-४४

६. महावाक्य, छां० उ०, ६, ८, ७।

चौपाई—जहाँ बोल तहँ अक्षर आया। जहँ अक्षर तहँ मनहिं डिढाया[1]।
बोल अबोल एक है सोई। जिनि एक लखा सो बिरलो होई ।।७३।।

चौपाई इति। अक्षरः=आत्मा। चित्प्रकृतिसंयोगाद्वैखरीवाक्, चतुर्वेदषट्शास्त्रभाषा संस्कृतम्। ताभ्यामक्षरद्वारा वाणी भवति। अस्मिन्नक्षरे परमात्मनि मानसं दृढनिश्चयं कुरु। गीतासूक्तम्—'क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते'[2] इति भावः। बोल=क्षेत्रज्ञ आत्मा; अबोल=परमात्मा; एकरूपौ स्तः। सो=आत्मा, ई=इदं सर्वमहमात्मा। ईदृशमनुभवं यः पश्यति, स कश्चिद्विरलो भवतीत्यर्थः ।।७३।।

चित् और प्रकृति के संयोग से वाणी का उद्‌गम होता है। परमात्म-स्वरूप उस अक्षर में मन दृढ कीजिए। गीता में भी कहा है कि 'बोल' क्षेत्रज्ञ आत्मा है और 'अबोल' परमात्मा। दोनों एकरूप ही हैं। वही मैं भी हूं। इस अनुभव-वाला व्यक्ति बिरला ही होता है।।७३।।

एक एक निरुवारिये जो निरुवारी जाय।
दुई[3] मुख के बोलना घना तमाचा[4] खाय ।।७४।।

एकेति। शरीरत्रयेभ्यः पञ्चकोशेभ्यो भिन्नोऽहम्, चतुर्विंशति-तत्त्वेभ्यो भिन्नोऽहमित्यनया रीत्या यो निश्चिनोति, निर्णीयते, यथेषीकाघनात् त्रिगर्भान्मुञ्जं निष्कासते, तथा त्रिवपुषं च कोशेभ्यश्चात्मानं निष्कासयेद्बुधः सर्वस्मात्। परमेश्वररूपं मनोवादी मन आत्मेति मन्यते। विज्ञानवादी विज्ञानात्मा, प्राणात्मा, इन्द्रियात्मा, देहात्मा, पुत्रात्मा, सप्तभूमिकेत्याद्यनेकमतवादेभ्यः परमहम्। भोः, दुई मुखे=द्वैतभावना। महद्दुःखं जायते। अतो द्वैतं त्यज। अद्वैतं विचार्यतामित्यर्थः ।।७४।।

जैसा सम्भव हो सके, एक-एक बन्धन अलग कीजिए। मैं त्रिशरीर और पंचकोश से भिन्न हूँ, चौबीस तत्त्वों से भिन्न हूँ, आदि, इसी प्रकार मन, विज्ञान, प्राण, इन्द्रिय, देह, पुत्र आदि को आत्मा मानने वाले अनेक मत-वादों और सप्त भूमिकाओं से मैं ऊपर हूं यही निश्चय दुःखदायक द्वैत-भावना को दूर कर सकता है। अतः द्वैत को छोड़कर अद्वैत का विचार कीजिए ।।७४।।

जिह्वा बन्द देवहु बोलना निवारु[5]।
सार थी [सो] संगु कुरु गुरुमुख शब्द विचारु ।।७५।।

जिह्वेति। अतो जिह्वया बहुभाषणं=वादावादं पक्षाग्रहं मा कुरु। न किंचित् (काचित्) शान्तिः। सारथी=आत्मारामाणां परमहंसानां संगं कुरु। तत् गुरुसकाशान्निःसृतं शब्दम्।

---

१. पा०—दृढाया।
२. भ० गी०, १५, १६।
३. प०—'दुइ दुइ'।
४. तम=अविद्यान्धकार; तज्जन्यतापत्रयरूपी आंच (राघवदास)।
५. जिह्वा सो बन्धन देइ बहु बोलन निरुवार। (सं० बी० ब०)।

विचारं कुरु । विश्वासं कुर्विति भावः ।।७५।।

अतः जीभ के बहु-भाषण बन्द करके तथा मन को अशान्त करने वाले वादावाद और पक्षाग्रह का अन्त करके, आत्माराम परम-हंसों की संगति कीजिए और गुरु-मुख से निकले शब्द पर ही विचार कर उस पर विश्वास कीजिए ।।७५।।

प्राणी तो जिभ्ये डिगो क्षण क्षण बोले कुबोल।
मन घाले भरमत फिरे कालहिं देत हिंडोल।।७६।।

प्राणी इति । प्राणी जिह्वोपस्थसुखं बहु मन्यमानोऽतः क्षणे क्षणे तस्य बुद्धिर्नश्यति । तं यः कश्चिन्निवारयति स तं प्रति कुत्सितवाक्यं वदति । अतो मूर्खः स सङ्कल्पविकल्पाभ्यां सर्वतो भ्रमति । पुनः कालः सर्वभक्षकः शरीरं खादति : हिंडोल=आन्दोलवत् स जन्ममरणमार्गे भ्रमतीत्यर्थः । आत्मनिश्चयं विनेति भावः ।।७६।।

जिह्वा और इन्द्रियों के सुख को महत्त्व देनेवाले व्यक्ति की बुद्धि नष्ट हो जाती है। वह क्षण-क्षण में अनुचित बात करता है और मना करने पर भी कुत्सित वाक्य कह ही डालता है। वह केवल काल के फन्दे में झूलता रहता है। क्योंकि उसे आत्म निश्चय नहीं हो पाता ।।७६।।

जाको जिह्वा बन्द नहिं हृदये नाँहीं सांच।
ताके संग न लागिये घाले बटिया माँझ ।।७७।।

जाकी इति । भोः ये शास्त्रज्ञा अनात्मवादिनो जिह्वया बहुबन्धनवाक्यं वदन्तोऽन्यांश्च कर्मणि बन्धयन्ति, स्वयं तु बद्धा [एव], तेषामसद्वादिनां सङ्गं मा कुरु । यदि कुर्याः, बटिया माँझ=कर्मण्यन्धकूपे तृणलोभेन पतिष्यसि पशुर्यथा । तद्वत्पतन्तीति भावः ।।७७।।

शास्त्रज्ञ और अनात्मवादी व्यक्ति अपनी जीभ से अनेक प्रकार के बन्धनों की चर्चा करते हैं, किन्तु वे स्वयं बंधे हैं और दूसरों को भी बन्धन में डालते हैं। उनकी संगति मत कीजिए। यदि करोगे तो पशु की भांति अन्धकूप में गिरना पड़ेगा ।।७७।।

हिलगी भाल शरीर महँ तीर रहा है टूट।
चुम्बक बिनु निकसै नहीं कोटि पाहन गौ छूट ।।७८।।

भाल=चिदाभासः । शरीरत्रय=अभिमानी । तीर=ब्रह्मविचारादिभिन्नः स्यात् । चुम्बक=आत्मैवाहमिति [निश्चयं] विना त्रिशरीरान्न निष्कासो भवति । कोटियोगाभ्यासबहु-साधननियमादि करोतु, बन्धनान्न मुच्यते ।।७८।।

शरीर-त्रय में अभिमान करने वाला व्यक्ति चिदाभास से भिन्न ही होता है। करोड़ों प्रकार के योगाभ्यास तथा अनेक साधन और नियम आदि का आश्रय लेने पर भी आत्म-विचार के बिना बन्धन से मुक्ति असम्भव ही है ।।७८।।

आगे सोढ़ी साँकरी पीछे चकनाचूर।
परदा तर को सुन्दरी रही धकी ते दूर ॥७९॥

आगे इति। 'सदैव सौम्येदमग्र आसीत्',[1] अतोग्रभागोऽहमात्मैवेति विचारः सोपानम्। साँकरी=अतिसूक्ष्मं स्यात्। पश्चादुपशमकाले, चकना=चित्तं, चूर=ब्रह्माण्येकस्वरूपं भवति। परदेति। अन्तःकरणाविद्या; तरकी=तस्यां मलिनवासना तिष्ठति। पुनः शनैः शनैरभ्यासाद् ब्रह्माकारवासना शुद्धा, सुन्दरी=प्रकाशरूपा; ब्रह्मैवाहमित्यनेनाविद्याविनाशिनी जायते। धका=नानामतवादाः। तेभ्यो रहितो भव। दूर=सर्वतोऽलिप्त इति भावः ॥७९॥

ब्रह्म-स्वरूप की उपलब्धि बतानेवाला स्वात्म-विचार का मार्ग अत्यन्त सूक्ष्म है। उसमें अविद्या और मलिन वासना के लिए स्थान नहीं है। (निरन्तर) अभ्यास से ही प्रकाश की उपलब्धि होती है। अतः नाना-मत-वाद के फेर में न पड़ना ही अभीष्ट है ॥७९॥

जेहि मारग सनकादि गे ब्रह्मा विष्णु महेश।
कहहिं कबिर सो मारग थाकिया[2] मैं काहि कहौं उपदेश ॥८०॥

जेहि इति। 'आत्मैवेदं सर्वम्; आत्मैवाहम्' इति मार्गे स्वरूपविचारे सनकादयः सर्वे जग्मुः; वर्तमाने च साधवो गच्छन्ति; तस्मिन्नेव मार्गे ब्रह्मविष्णुमहेशादयो रमन्ते। कहेति= कबीरः आत्माराम इत्थं वदति। भोः, अद्यसमये आत्मज्ञानम्, थाकिया=नष्टम्। अहं केषाञ्चित् प्रत्युपदेशं कथयामि ? न कश्चिन्मुमुक्षुः ॥८०॥

सनकादिक और ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश ने जिस मार्ग का अनुसरण किया वह आत्मज्ञान का मार्ग ही है। उस पर चलनेवाले बिरले ही होते हैं। किसे उपदेश दिया जाय ? ॥८०॥

संसारी समय विचारी कोई बिरही कोई जोग।
अवसर मारे जात हैं ते चेतु बिराने लोग ॥८१॥

संसारीति। भोः संसारिन्, संसृतिं किं गच्छसि ? समे=समयं कालं पश्य। किम् ? अस्य कर्ता क इति विचारं कुरु। केचिदीश्वरं स्वस्माद्भिन्नं मन्यन्ते[3]। वैकुण्ठादिषु परोक्षं मन्यन्ते। परमात्मानं कथं लभन्ते, किं दुर्घटं तस्य दर्शनम् ? केचित्तस्य प्राप्त्यर्थमष्टाङ्गयोगाभ्यासं कुर्वन्ति[4]। भोः मानुष; देहमवसरे प्राप्य किञ्चिन्न विचारयसि ? यदि न विचारयसि, आत्महा भवसि। पुनः बिराने=कालो भक्षयति। तस्माच्छीघ्रं बुध्यतामिति भावः ॥८१॥

हे संसारिन्, यथा-समय विचार करो। संसार को देखो। इसका कर्त्ता

---

१. छान्दोग्य उ०, ६, २, १।

२. छन्द उपयुक्त करने की दृष्टि से—'सो मारग सब थाकिया'।

३. मध्वादि सम्प्रदायवाले।

४. गोरखपन्थ के अनुयायी।

ईश्वर है जिसे कुछ लोग स्वयं से भिन्न और वैकुण्ठ-निवासी मानते हैं। उसका दर्शन दुर्लभ मानते हो? उसकी प्राप्ति के लिए अष्टांग योग आदि अनेक उपाय किए जाते हैं। किन्तु वह तुम स्वयं हो। यह न मानना आत्म-हनन करके काल के मुंह में फंस जाता है। शीघ्र चेतो ॥८१॥

संशय सब जग खद्दिया संशय खदे न कोय।
संशय खधे सो जना जो शब्द विवेकी होय ॥८२॥

संशयेति। इदं सर्वं जगत् संशयेन खादितम्। किं संशयः? इदं जगत् आत्मतः किम्, जीवतो मायातो जायते किम्? अहमात्मा? किम् जीव इति संशयेन भक्षितम्, परन्तु संशयं खादितुं कोऽपि न समर्थः। सो=आत्मैवाहमिति जानाति [यः] तेन संशयः खादितः। स एव विवेकी भवति, शब्दज्ञाता भवति। अत्र प्रमाणम्-'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे'[1] इति श्रुतिः ॥८२॥

यह जगत् अपने आप उत्पन्न हो गया? अथवा जीव या माया ने इसे बनाया? मैं आत्मा ही हूँ या जीव? इस प्रकार के अनेक संशयों ने इसे खा डाला है। किन्तु जो इस प्रकार के संशय को खा जाता है (मिटा सकता है) वही विवेकी है। वेद में भी कहा ही है कि उस परमात्मा के दर्शन से हृदय की गाँठ खुल जाती है, सभी संशयों का अन्त हो जाता है और कर्म भी क्षीण हो जाते हैं ॥८२॥

बोलना है बहु भांति का नैनन नहिं कछु सूझ।
कहहिं कबीर पुकारिके घट घट बानो बूझ ॥८३॥

बोलनेति। षट्शास्त्रज्ञाः स्वस्वमतं बहुविधमारोपयन्ति। विज्ञानचक्षुर्हीना आत्मनोऽनुभवं न जानन्ति। कबीरः=श्रुतिः। ज्ञानी। 'नेति नेति, नेह नानास्ति किञ्चनेति',[2] घट घट=आत्मा सर्वघटेषु व्यापक इत्थं यो जानाति स एव ज्ञानीत्यर्थः ॥८३॥

शास्त्रवादी अपने अपने अनेक (विशिष्ट) मत प्रतिपादित करते हैं किन्तु विज्ञान रूपी चक्षु से वञ्चित होने के कारण वे सभी अनुभव-हीन ही हैं। 'नेति नेति' (वह निःसीम है); एक ही है और घट-घट में व्याप्त है यह जानने वाला ही सच्चा ज्ञानी है ॥८३॥

नष्टा का ई राज है नफरत बरते तेज।
सार शब्द टकसार है हृदये माँहि विवेक ॥८४॥

नष्टेति। नष्टा=अज्ञाता; का? अविद्या। 'ई' इति सर्वत्र सज्जते। अविद्यान्तरमेव वर्तमाना। नफ़र=अहङ्कारो मलिनः। 'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'[3]। अतः सार-

---

१. मुण्डकोपनिषद्, २, २, ८।

२. कठ उ०, ४, ११ आदि।

३, भ० गी०, ३, २७।

शब्दः=निरक्षरः शब्दः। स्तंरत्सहितं[1] यद्भवति तदेव सारं=स्वविचारानुभवः। हृदये बुद्धिर्विवेकं करोतीत्यर्थः ॥८४॥

सब कहीं अविद्या का राज्य है। यही सर्वत्र व्याप्त अविद्या अहंकार की जननी है। इसे दूर कर जो (शास्त्र का) सार जान लेता है वही अनुभवी है। (यह बुद्धि से ही सम्भव है क्योंकि) वही विवेक उत्पन्न करती है।।८४॥

मूल गहंते काम हे ते मति भर्म भुलाय।
मन सायर समुद्र है[2] वहि कतहूँ जनि जाय॥८५॥

मूलेति । मूल=शुद्धबोधोऽहमिति स्वानुभवं=शुद्धवासनां गृह्णीष्व । भोः, ते मतिः=बुद्धिः स्वर्गादि-विषयभोगेषु, भ्रम=मोहिता । सा मलिना। भोः मलिनां त्यज, शुद्धामङ्गीकुरुष्व । मन एव समुद्रः, तेनानन्तकोटिशः कल्पनावृत्तयो रचिताः, अतोऽगाधाः[3]। तस्मान्मनः-सागरे मा पत। स्वात्मैवाहमित्यभ्यासे रमस्व। अन्यत्र मा गच्छेति भावः ॥८५॥

मैं शुद्ध-बोध हूं यह पवित्र विचार मन में रखो। स्वर्गादि विषयों में मोहित हो जाना कुबुद्धि है। इस कु-वासना को छोड़ो । मन जिन-जिन अनेक अगाध कल्पनाओं को जन्म देता है उनके फेर में न पड़ कर 'मैं आत्मा हूं' इसी अभ्यास में रमिये। अन्यत्र कहीं न जाओ ॥८५॥

भंवर विलम्बे बाग में बहु फूलन की बास।
ऐसे जिव बिलमे विषय महँ अन्त हु चले निरास॥८६॥

भ्रमरेति। यथा भ्रमर आरामे पुष्पितवाटिकायां गन्धं गृह्णाति, गन्धलोभेन सज्जति, तथायं जीव इन्द्रियविषयभोगेषु सज्जति। विषये ममतां—ममायं पुत्रः, ममेयं भार्या, ममेदं धनं, ममैतत्सर्वमिति ममतां मत्वा मृगमरीचिवन्मृषारूपं सत्यं मत्वा, विलमे। पुनरन्तकालेऽयं जीवो निराशो भूत्वा एकोऽध्वानं याति। पुत्रादयः संगिनो न भवन्तीत्यर्थः॥८६॥

बगीचे में फल (और फूलों) की सुगन्ध लेनेवाले भौंरे की भाँति, संसार के विषयों में और पुत्र-कलत्र, धन-दौलत आदि में ममता रखना मृग-मरीचिका है। जीव उसमें आसक्त होकर अन्त में सब कुछ छोड़कर एवं च निराश होकर अकेला ही जाता है। पुत्र आदि कोई साथ नहीं जाते॥८६॥

भंवर जाल बग[4] जाल है बूड़े बहुत अचेत ।
कहहिं कबिर ते बाँचि हैं जाके हृदय विवेक॥८७॥

---

१. पोथी में अक्षर स्पष्ट, किन्तु अर्थ अस्पष्ट है।

२. 'मन सायर मनसा लहर' (सं० बी० ब०)।

३. मनसैवेन्द्रजालश्रीर्जगति प्रवितन्यते (महोपनिषद्, ४, ४६)।

१. बग जाल=वक्रजाल (सं० बी० ब०); बक=बगुला (बी० मू० रा०)।

भ्रमरेति। भँवर=आवर्तमोहजाले, बगजाले समस्तमतवादरूपजालेऽविद्यान्धकार-समुद्रे बहवः स्वात्मविचारहीना अचेतनाः निमज्जिताः स्युः। बूड़े इति भाषया प्रसिद्धम्। कहेति कबीराः=धीराः ज्ञानिन इत्थं ब्रुवन्ति—येषां हृद विवेको वर्तते ते भवजालादुर्वरिताः बन्धनमुक्ता भवन्ति। आत्मैवाहमिति विचारे रतास्ते तरन्ति, न त्वन्ये इत्यभिप्रायः ॥८७॥

अविद्यान्धकाररूपी समुद्र में मोह-जाल आवर्त्त के समान है, जिसमें स्वात्मविचार-हीन व्यक्ति अचेतन होकर डूब जाते हैं और विवेकशील व्यक्ति ही इसे पार कर सकते हैं ॥८७॥

तीनि लोक टीड़ी भया उड़े मन के साथ।
हरि जाने बिनु भटके परे काल के हाथ[1] ॥८८॥

तीनि लोकेति। मन एव विहंगस्तस्य संगे शरीरत्रयमेव त्रिलोकी शलभवदुत्पतति। अत्र प्रमाणं श्रीमद्भागवते—'यतो यतो धावति दैवचोदितं मनोविकारात्मकमाप पञ्चसु। गुणेषु मायारचितेषु देह्यसौ प्रपद्यमानः सहते न जायते[2] इति। अहं हरिरिति ज्ञानं विना सर्वे भ्रमन्ति, पुनरयं जीवः कालाधीनो भवतीत्यर्थः ॥८८॥

मन रूपी पक्षी के साथ शरीर-त्रय भी टिड्डी बन कर उड़ता रहता है। मन जिधर जाता है, शरीर भी उसका अनुसरण करता ही है। 'मैं ईश्वर हूं' यही ज्ञान इस भ्रमण से बचाता है ॥८८॥

नाना रंग तरंग हैं मन मकरन्द असूझ।
कहहिं कबीर पुकारिके अकलि कला ले बूझ ॥८९॥

नाना रंगेति। भोः, इदं मनो नानासंगेन नानावर्णं भ्रमति। लोभिसंगे लोभि, कामिसंगात् कामि, क्रोधिसंगात् क्रोधि विषयिसंगे विषयि, वेश्यायाः संगाद्वेश्यागामि, साधुसंगात्साधु, सात्विकसंगात् सात्विकं, राजसं, तामसम्। यत्संगे पतति तद्वद्भवति, यथा स्फटिकमणिर्नीलहरितपीतादिषु तद्वद्भवति। तथायं जीवो नाना रंगे=मायाचमत्कार-सौन्दर्यमोहित मनसस्तरंगे पतितो मधुमकरन्दवद्विषयसुखे असूलितृप्त (?)[3] विस्मृत्य स्व-विचारं, कबीर=आत्मारामः श्रुतिरित्थं वदति—अकलिं=निश्चयात्मिकां बुद्धिं गृह्णीष्व। सोऽहमस्मीति जानीहीति भावः ॥८९॥

मन में अनेक प्रकार की तरंगें उठती रहती हैं और भले-बुरे किसी व्यक्ति के सहवास से वह उसी के सरीखा सात्त्विक, राजस या तामस बन जाता है, जैसे स्फटिक मणि के सहवास से नीला, हरा या पीला रंग दिखाई देता है। मन

---

१. पा०—जाने बिन भटकत फिरे, उड़े काल के साथ (सं० बी० ब०)।

२. भा० पु०, १०, १, ४२।

३. असुतृप्तः (?)।

विषय-सुख में पड़ कर व्यक्ति विषयी बन जाता है। कबीर कहते हैं कि निश्चयात्मक बुद्धि होने पर मन नहीं भटक सकता। मैं वही (परमात्मा) हूं यह जानो ।।८६।।

बाजीगर के वानरा जियरा मन के साथ।
नाना नाच नचाइके राखे अपने हाथ ।।६०।।

बाजीगरेति। यथायं जीवो मनःसंगाद् भ्रमति, मनो यद्यत्करोति तत्तत्कर्तुमुद्यतस्तत्तत्करोति। दृष्टान्तमाह। यथा बाजीगरः=वानरपालो रज्जौ मर्कटं बद्ध्वा स्वहस्ते सर्वेषां गृहे नर्तयत्याजीविकार्थम्, तद्वन्मन इन्द्रियभोगार्थं नर्तयति सर्वानिति भावः[१] ।।६०।।

मन के साथ जीव भी भ्रमण करता ही है। मन एक बाजीगर है, जो जीव रूपी बन्दर को रस्सी से बाँध कर अनेक प्रकार के नाच नचाता है किन्तु रस्सी का मुख्य सिरा अपने हाथ में रखता है ।।६०।।

ई मन चंचल ई मन चोर ई मन शुद्ध ठगहार।
मन मन कहत सुर नर मुनि जहड़े[२] मन के लक्ष दुआर ।।६१।।

ई मनेति। इदं मनश्चञ्चलम्। 'चञ्चलम् हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्' इति भगवदुक्तेः[३] पुनरिदं मन चौरः=प्रज्ञां हरति। पुनः मनुष्योऽहमशुद्धः, ब्रह्मैवाहं शुद्धः इति ठग=वञ्चकः, येन बहवो वञ्चिताः, सुराः, नराः, मुनयः, ये स्वस्वरूपं विस्मृत्य मन एवात्मेति मन्यन्ते। अत्र प्रमाणं श्रुतिः 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासक्तं मोक्षं निर्विषयं स्मृतम्[४] ।। इति प्रामाण्यात् सत्यं मत्वा जहडिताः= विक्षिप्तमनसोऽनेकमार्गं प्राहुः कवय इति भावः ।।६१।।

मन चञ्चल है, जैसा कि गीता में भी कहा गया है। वह प्रज्ञा हरण करने के कारण चोर है, और ठग है क्योंकि वह सुर, नर और मुनियों को भी धोखे में डाल देता है। वही बन्ध और मोक्ष का कारण भी है। मन विक्षिप्त हो जाने के कारण ही कवियों ने अनेक मार्ग अपनाए हैं ।।६१।।

राम वियोगी विकल तन इन दुखवै मति कोय।
छूवत ही मरिजाहिंगे ताला बेली[५] होय ।।६२।।

रामेति। यो रामात् स्वस्ववियोगं मन्यते—भिन्नोऽहमिति, स एव विकलतनुः=

---

१. बृहदा० उ०, ३, २, ७।

२. छन्द के मान से यह शब्द अतिरिक्त है।

३. भ० गी०, ६, ६४।

४. ब्रह्मबिन्दूप०, २, आदि।

५. लज्जा बेली बेल की तरह ताप से त्रस्त (सं० बी० ब०)।

विह्वलचित्तः सर्वतो धावति। इन दुखवै इति । एतान्नरान्प्रति अद्वैतं मा वद। किम् (कस्मात्) ? अद्वैतं श्रुत्वा ते दुःखिता भवन्ति । स्वस्वविचारं विना यः कश्चिन्निर्मलान्तःकर्णः (करणः) मुमुक्षुं प्रति विज्ञानाद्वैतं ब्रूते ज्ञानी, तद्वच्छ्रवणमात्रेण देहाभिमानाद्रहितो भवति, ब्रह्मैवाहमिति, तालाबेली=अधि (ति) तीव्रमात्रमुहूर्तमात्रानुभवेन तत्समाधौ स्थिरो भवति। तत्कालं ब्रह्मानन्दं लभते इत्यर्थः ।।९२।।

स्वयं को राम से भिन्न मानने वाला व्यक्ति विकल होकर इधर-उधर भटकता रहता है। ऐसे व्यक्ति को अद्वैत के बारे में कहना ही व्यर्थ है। उपदेश उसे ही दिया जा सकता है जिसका अन्तःकरण निर्मल हो। तीव्र वैराग्य वाला व्यक्ति ही स्वल्प काल में ही समाधि में स्थिर होकर अपने अनुभव के द्वारा ब्रह्मानन्द प्राप्त कर लेता है ।।९२।।

काला सर्प शरीर में खाई सब जग झारि।
बिरला ते जन बाँचि हे जो रामहिं भजे बिचारि ।।९३।।

कालेति। कृष्णसर्पो देहाभिमानः। तेनेदं सर्वं जगद्दंशितम्। कश्चिद्विरलो जानाति। तस्माद्दुर्वरितो यो 'राम एवेदं सर्वं, रामोऽहम्' इति भजते=जानाति, स एव मुक्तो भवति। अष्टावक्रेण जनकं प्रति उक्तम्—'अहं कर्तेत्यहंमानो महाकृष्णाहिदंशितः। नाहं कर्तेति विश्वासामृतं पीत्वा सुखी भवेति'[2] भावः।

देहाभिमानरूपी कृष्ण सर्प ने सारा जगत् डस रखा है और राम का भजन करने से ही उससे मुक्ति मिलती है। यह बात बिरले ही व्यक्ति जानते हैं। यही उपदेश अष्टावक्र ने जनक को दिया था। उन्होंने कहा था कि मैं कर्त्ता हूँ यह अभिमान काला सांप है जिसने सब को डस रखा है। मैं कर्त्ता नहीं हूँ यह विश्वासरूपी अमृत पीकर सुखी बनिए ।।९३।।

काल खड़ा सिर ऊपरै जागि बिराने मीत।
जाके घर है गेल में सो[3] कैसे सोवे निचींत ।।९४।।

कालेति। भोः, असद्व्यवहारमार्गे मृषाप्रपञ्चे पुत्र-कलत्रादिषु ममतां कृत्वा तिष्ठसि। भोः, तव शिरस उपरि जगद्भक्षकः कालस्तिष्ठति। भोः बिराने मीत= पश्चात्कालाधीनो भवसि। भोः कर्ममार्गे गृहं यस्य, स निश्चिन्तो भूत्वा कथं स्वपिति। अतो जाग्रताम्। अथवा जाग्रस्व, स्वं विविच्यताम्। बिराने=चिदानन्दोऽसि। मीत= सर्वाधारोऽसि। घर=निर्विकल्पकमार्गं निश्चीयताम्। भोः, अज्ञाननिद्रायां कथं शेषे? चैतन्यत्वमानीयतामिति भावः ।।९४।।

मृषा-प्रपञ्च में, पुत्र-कलत्रादि में ममता करके तू अपना असली मार्ग छोड़

---

२. शारीरिकोप०, ७।

३. छन्द के मान से यह शब्द अधिक है।

रहा है, किन्तु याद रख कि जगद्भक्षक काल तेरे सिर पर खड़ा है। कर्म-मार्ग में जिसका घर है वह निश्चिन्त होकर कैसे सो सकता है ? समझो कि तुम स्वयं सच्चिदानन्द हो और सब का आधार हो। चैतन्य का स्मरण करो और निर्विकल्प मार्ग का निश्चय करो। उसी पर चलो ॥९४॥

कलि काठी काले धुना जतन जतन घुन खाय ।
काया मध्ये काल वसत हे मर्म न कोई पाव ॥९५॥

कलि इति। नरतनुं लब्ध्वा यः, कलि=कलह, काठी=क्लेशं, देहाभिमानं कुरुते, कालः धुना=स्वविचारं विनोपलक्षणघटिकामुहूर्तयामाहोरात्रे तत्कालं[1] सूर्योदयास्ताभ्यां ब्रह्मादीनामायुर्हरति। बहुजीवनायैके, यत्नं=आसनप्राणनिरोधनादि वा निर्गुहादिबुद्धिकल्पं साधयन्ति। तथापि घुनः[2]=कालो भक्षयतीत्यर्थः। कायेति। भोः शरीरमध्ये देहाभिमानो वसति। स एव कालोऽस्ति। मर्मेति। देहाभिमानी मर्मं=स्वात्मविचारं कश्चिन्नजानातीत्यर्थः ॥९५॥

मनुष्य-शरीर पाकर जो देह में अभिमान रखता है उसकी आयुष्य का हरण काल करता ही है। लम्बे जीवन के हेतु जो आसन, प्राणायाम, आदि विविध साधन अपनाते हैं, उन्हें भी काल नहीं छोड़ता। यह काल अन्य कोई नहीं किन्तु शरीर के भीतर निवास करने वाला देहाभिमान ही है। सत्य तो यही है कि देहाभिमानी व्यक्ति स्वात्म-विचार से रहित ही होते हैं ॥५९॥

मन माया की कोठरी तन संशय को कोट।
विषहर मन्त्र न माने[3] काल सर्प का चोट ॥९६॥

मनेति। मनश्च माया च मनमाया (मनोमाया)। ताभ्यां निर्मितमिदं शरीरम्। कोठरी=चतुरन्तःकरणम्, तनु=वासना। संशय=ग्रन्थिर्वसति। अन्तरे पुनः शरीरदुर्गे देहाभिमान एव कृष्णसर्पो वसति, स जीवस्य ज्ञानविचारं दंशति। तेन दंशितः सन् पश्चाद्विषहरः=सद्गुरुर्भगवानुपनिषज्जन्यं ज्ञानामृतोपदेशं कथयति. तन्न मन्यतेऽभिमानयुक्तः सगर्वः सः। अतश्चतुराकरे[4] गच्छतीति भावः ॥९६॥

मन और माया द्वारा निर्मित इस शरीररूपी घर में अन्तः करण, वासना और संशय-ग्रन्थि का निवास है और इसी दुर्ग में देहाभिमानरूपी कृष्ण-सर्प भी

---

१. =स कालः।

२. कालोधुना=काष्ठ-कीट (सं० बी० ब०)।

३. मानिये।

४. =चार योनियां, अण्डज, उद्भिज, पिण्डज, स्वेदज। तुलनीय—'आकर चार लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत वह जिव अविनासी॥ तुलसी कृत रामायण, उत्तर कां०, ५८०, २।

रहता है। उस सर्प के दंश से ज्ञान-विचार नष्ट हो जाता है। इस विष के फैल जाने के बाद भगवान् विषहर का ज्ञानामृत रूपी उपदेश भी असर नहीं कर सकता और प्राणी को अपने दुष्कर्म का फल भोगना ही पड़ता है ॥९६॥

मन माया[1] एक है माया मनहिं समाय।
तीनि लोक संशय परे काहि कहौं बिलगाय॥९७॥

मनेति। मनः माया एक एव। इदं सर्वं मनसा=मायया कल्पितं मनोविलसित-मात्रमस्ति, न तु सत्यम्। माया शुद्धमनसि विचारे लीयते, पुनः शुद्धात्परं निर्विकल्पं भवति। तत्र शरीरत्रयं भोक्तृत्रयं च त्रयो लोकाश्च संशये पतिताः। किं न बिलगाय= अन्वयव्यतिरेकस्य कथा किं स्यात्? निर्विकल्पे मयि कोऽपि नास्तीत्यर्थः ॥९७॥

मन और माया एक ही हैं। मन का सभी विलास माया-कल्पित ही है; वह सत्य नहीं है। शुद्ध मन में माया विलीन हो जाती है जिससे निर्विकल्प का उदय होता है। उस निर्विकल्प में शरीर, भोक्ता और संसार का अस्तित्व नहीं रहता ॥९७॥

मन सायर मनसा लहरि बूड़े बहुत अचेत।
कहहिं कबिर ते बाँचिहै जाके हृदय विवेक॥९८॥

मन सायरेति। मन एव समुद्रः, मनसा=चित्तवायुना निर्मिताः अनेकवृत्तयस्तरङ्गा-स्तस्मादुद्भवन्ति। परमात्मनो ज्ञानं विना सर्वे वेषधारिणः पण्डिताः अन्ये च सर्वे बहवो जना अज्ञानसमुद्रे निमज्जिताः। कबीराः=साधवो ज्ञानिनश्चेत्थं ब्रुवन्ति-येषां हृदये आत्मै-वाहमिति विवेको वर्तते, ते उर्व्वरिताः। ते भवबन्धनान्मुच्यन्ते इत्यभिप्रायः ॥९८॥

मन समुद्र है और उसमें चित्त-वायु से अनेक तरंगें उठती रहती हैं। परमात्मा के ज्ञान के बिना इस अज्ञान-समुद्र में अनेक व्यक्ति डूबते रहते हैं। साधु जन कहते आये हैं कि वे भी भव-बन्धनों से मुक्त होते हैं जिनके हृदय में मैं आत्म-स्वरूप ही हूं यह विवेक रहता है ॥९८॥

सायर बुद्धिमान बाए[2] बिचक्षण चौर।
सारी दुनिया जहड़े गया कोइ न लागा ठौर॥९९॥

सायरेति। शरीरेऽहं बुद्धिमान् [इति विचारयति] यः स एव मूर्खः। स एव काबा= निषादः नीचो गिरिकाननचारी। पुनरिन्द्रियविषयभोगेऽसद्व्यवहारे तु विचक्षणो महद्वस्तु-विचारहीनोऽतो ज्ञानहारकश्चौरः। भोः, सर्वे जनाः स्वात्मनिश्चयं विना निमज्जिताः। सद्वस्तुनि कश्चिदपि न तिष्ठति, नदीवेगे तृणकाष्ठादि यथा, तद्वत्। कालवेगेन सर्वे

१. इस शब्द के बाद 'दुइ' पढ़ने से छन्द ठीक बैठता है।

२. पा० — सायर बुद्धि बनाइकै।

वहन्तीत्यर्थः ।।९९।।

स्वयं को बुद्धिमान समझने वाला मूर्ख ही है। वह नीच है। इन्द्रिय-भोग और असद् व्यवहार में चतुर व्यक्ति चोर ही है। आत्म-निश्चय के अभाव में ये सभी डूबते ही हैं। नदी का वेग तृण, काष्ठ आदि सभी वस्तुओं को जिस प्रकार समेट कर बहा ले जाता है उसी प्रकार काल-प्रवाह भी किसी को नहीं छोड़ता ।।९९।।

मानुष ह्वै के नहिं मुवा मुवा सो डाँगर ढोर।
एकौ जीवहिं ठौर नहिं लागा[1] भये सो हाथी घोर ।।१००।।

मानुषेति। मानुषो भूत्वा, ज्ञानविचारवान् जीवन्मुक्तो भूत्वा कश्चिन्न मृतः। मृत्वा पुनर्न मरति। मुवा सो डाँगर=ये ये मृतास्ते सर्वे यावद् द्रव्योपार्जनसक्तास्तावत् दारासु पुत्रादिषु च स्नेहं कुर्वन्ति। मम पितेति पुत्रो मन्यते। पुनर्वृद्धावस्थायां श्रवणदर्शनोत्थानादिष्वशक्तः आमयावी=अल्पाहारः पुत्रदारैरनादृतः सन् यथा तथा भुंक्ते, डाँगरवत्=पशुवत्, कीनाशा इव, गो=जरे। पुनर्मृतः। कश्चिज्जीव एके आत्मनि सर्वाधारे न प्राप्नोति। पुनर्जन्मान्तरे वासनयाश्वगजोष्ट्रादिषु योनिषु जायन्ते इति भावः ।।१००।।

कोई भी व्यक्ति ज्ञानवान् और जीवन्मुक्त होने के बाद डूब नहीं सकता। द्रव्योपार्जन में आसक्त व्यक्ति ढोर के समान ही है जो डूबकर पुनर्जन्म में पशुयोनि में जाते हैं। वृद्धावस्था के कष्ट से कोई भी व्यक्ति आत्मचिन्तन नहीं कर सकता और पुनर्जन्म में उसकी उत्पत्ति अश्व, उष्ट्र, गज आदि की योनियों में होती है ।।१००।।

मानुष बिचारा क्या करे जाके शून्य शरीर।
जो जिव झाखि न ऊपजे तो काहे पुकार कबीर ।।१०१।।

मानुषेति। मानुषं वपुरपि लब्ध्वा यो न चेतते स एव नराकारः पशुः, स एव शून्यः=ज्ञानहीनः। यो जीवः स्वस्य स्वं पश्यति, आत्मैवाहमिति विविच्यते (विवेचयते), तस्योत्पत्तिः पुनर्न जायते। यदि स्वात्मविचारं न कुरुते, कबीर=वेदः, सद्गुरुः किं कुरुते? को दोषः? नैवेति भावः ।।१०१।।

मनुष्य देह पाकर भी जो नहीं चेतता वह शून्य और ज्ञानहीन ही है। यदि वह स्वात्म-विचार करे तो उसका पुनर्जन्म नहीं होता, और यह न करे तो वेद और सद्गुरु भी कुछ नहीं कर सकते ।।१०१।।

मानुष बिचारा क्या करे जाके हृदया शून।
सोनहा चौक बिठाइये फिरि फिरि चाटे चून ।।१०२।।

---

१. यह शब्द अनावश्यक है।

मानुषेति। हृदि=बुद्धौ विचार शून्यो मानुषोऽपि कः भवेत् पुरुषार्थः ?[१] नैव किञ्चित्। सोनहेति। श्वा=देहाभिमानः, मनस्तं प्रति, चौकेति। चिदात्मा त्वमसि, इत्यहं वक्ष्ये। चाटे चून=तर्हि पुनर्देहोऽहमित्यज्ञानचूर्णमास्वादयतीति भावः ॥१०२॥

विचार-शून्य व्यक्ति पुरुषार्थी नहीं हो सकता। देहाभिमान व्यर्थ है और तू चिदात्मा है यह कहने पर भी वह नहीं सुनता; कुत्ते को यदि यह कहा जाय तो वह चून चाटता रहता है ॥१०२॥

मानुष विचारा क्या करे जाके कहे[२] न खुले कपाट।
सोनहा चौक बैठाइए फिरि फिरि एपन चाट ॥१०३॥

मानुषेति। सद्गुरुर्भगवान् मानुषं प्रति पुनरुपदेशज्ञानं कथयति, तथाप्यज्ञानवज्रकपाटं न विदीर्यते। न मुञ्चते इति भाषया प्रसिद्धम्। तदा सद्गुरोः को दोषः ? श्वान इव चेष्टते यस्तं प्रति ब्रवति गुरुः— 'त्वं चैतन्योऽसि, शुद्धबोधोऽसि' इति। बैठाए=वदामि, तदापि पुनः पुनः, एपन=वर्णाश्रमपथसम्प्रदायजात्यभिमानं न मुञ्चति, यथा श्वानो जातिस्वभावं न मुञ्चतीत्यभिप्रायः ॥१०३॥

सद्गुरु भगवान् के बार-बार उपदेश देने पर भी वज्र-कपाट जिसके नहीं खुलते वह व्यक्ति वर्णाश्रम-सम्प्रदाय और जाति के अभिमान को नहीं छोड़ सकता। वह बार-बार एपन चाटता ही रहता है। इसमें सद्गुरुका क्या दोष है ? ॥१०३॥

मानुष ते बड़ पापिया अक्षर गुर्हिं न मान।
बार बार बके कूकरी गर्भ धरे औधान ॥१०४॥

मानुषेति। भगवान्सद्गुरुर्ब्रवीति— भोः मनुष्य, त्वं महत्पापरूपः। कुतः ? उपनिषज्जन्यं ज्ञानं गुरुर्महान् वदति। किम् ? अक्षरोऽविनाशी आत्मा त्वमसि; तन्न मन्यसे। अतो बककुक्कुटश्वानशूकरादिगर्भे पुनर्जायते इति भावः ॥१०४॥

भगवान् सद्गुरु का कथन है कि उपनिषद् की उक्ति (उपदेश) प्रत्येक व्यक्ति को महान् बतलाती है। उसे न मानने वाला व्यक्ति पशु-पक्षी की योनियों मे बार-बार जन्म लेता है ॥१०४॥

रतन का जतनु करि[३] माटी का सिंगार।
आया कबीरा फिरि गया फीका है संसार ॥१०५॥

रतनेति। माटी का=मृण्मयभाजनं यथा, तद्वदयं मानुषदेहः। तं प्राप्यात्मैवाहमिति

---

१. =यदि स भवेत् पुरुषार्थहीनः।

२. छन्द के मान से यह शब्द अधिक है।

३. पा०—रतन का तो जतनु करि (सं० बी० ब०)।

रत्नमभ्यासं कुरु। कबीराः=मुमुक्षव आगत्य सद्गुरोः[1] समीपं, ज्ञानं लब्ध्वा, पुनरिमं संसारम-सद्रूपं ज्ञात्वा स्वान्तर्विचारे तिष्ठन्ति। ब्रह्मरूपा भवन्तीत्यर्थः ॥१०५॥

मनुष्य-शरीर मिट्टी के पात्र के समान है। उसे प्राप्त करके मैं आत्म-स्वरूप ही हूँ" इस (उपदेश रूपी) रत्न का अभ्यास कीजिए। सद्गुरु से ज्ञान प्राप्त करके संसार को असद्रूप जानने वाला ही ब्रह्मरूप हो जाता है ॥१०५॥

हंसा मोति बिकानिया कंचन थार भरे।
जो जस मर्म न जाने सो तस काह करे ॥१०६॥

हंसेति। अविज्ञातसखा सर्वान् श्रेष्ठं वाक्यं ब्रवीति। किम् ? देवदानवगन्धर्वकिन्नरोरग-राक्षसमानुषादयस्सर्वे हंसाः=प्रकाशरूपाः। यूयं सर्वे काञ्चनवन्नरवपुर्लब्ध्वा, तस्मिन्, थार=पात्रं, सदसद्विचारिणी बुद्धिः, तस्यां मुक्ताः=स्वानुभवः, भरे - सर्वतः परिपूर्णः। साधुसभायां विक्रयो भवति। तं क्रीणीहि। भोः, यो मानवस्तं न गृह्णाति, मर्म=स्वात्मविचारं न जानाति, स उपदेशको गुरुस्तस्य किं कुरुते इत्यर्थः ॥१०६॥

देव, दानव, गन्धर्व आदि सभी प्रकाश-रूप हैं। मनुष्य को तो सुवर्ण के समान नर-देह के साथ ही, सदसद्विचारिणी बुद्धि-रूपी सोने की थाली भी मिली है जिसमें अनुभव के मोती भरे हैं। उन मोतियों का (क्रय)-विक्रय साधुओं की सभा में होता हैं। यदि इस कथन का मर्म न जानो तो सद्गुरु भी कुछ नहीं कर सकता ॥१०६॥

हंसा ते सुवरण वरण कहा वरण को तोहिं ॥
तरुवर पाप पहेलहु तब हि सराहौं तोहिं ॥१०७॥

हंसेति। भोः हंस, प्रकाशरूप, अविज्ञातस्य ते सखा सुवर्णवद्वर्णः=प्रकाशात्मासि। अवर्णः= न वर्णो, नाश्रमी। चतुराकराणां[2] मध्ये, वरं=श्रेष्ठं नरतनुं लब्ध्वा स्वविचारं कुरु। 'अच्युतोऽहमनन्तोऽहं गोविन्दोऽहमहं हरिः'[3] इति स्वस्य स्वं ज्ञात्वा संसारसागरमुल्लङ्घ्यताम्। ततः प्रशंसां करोमीति भावः ॥१०७॥

हे हंस, तू 'सु-वरण' (प्रकाश-रूप) है, और साथ ही 'अवरण' अर्थात् वर्णाश्रम-रहित है। श्रेष्ठ नर-योनि प्राप्त करने पर तुझे अपने मन से विचार करके स्वयं को जान कर कि मैं 'अच्युत हूँ, अनन्त हूँ, गोविन्द और हरि हूँ'—इन विचारों द्वारा (संसार से) पार होना चाहिए। तभी तू प्रशस्य है ॥१०७॥

हंसा तू तो सबल था[4] हलकी अपनी चाल।
रंग कुरंगे रंगिया किये और लगवार ॥१०८॥

---

१. पोथी में प्रमादवश या अज्ञानवश 'सद्गुरुहों' लिखा है।

२. 'चतुराकर' के लिए साखी-संख्या ८६ पर टिप्पणी देखिए।

३. ब्रह्मविन्दूपनि०, ८१।

४. पोथी में प्रमादवश 'सबलता' लिखा है।

हंसेति। हंस, प्रकाशरूपोऽसि त्वं, बलेन सह वर्तमानः सबलः। ज्ञानबलोऽसि। भोः, अयं बृहत्पन्थाः अहं हरिः। हलकी=देहोऽहमित्यल्पमार्गः। अस्मिन्भवान् कथं गच्छति? भोः, ते कर्तृत्वं मायाज्ञातम्। किम्, रंग=कुरंगरंगे मायाप्रपञ्चे बाह्यमार्गेमोहितः? यद्वा, कुरंग=विषयकथाशब्दस्वरेण मोहितः? यद्वा, कुरंगो=वासना, तया किम्? ये और लगेति। पुत्रकलत्रधनधामपशुषु स्नेहः। सेव लगवार=सत्यं मत्वा सज्जसे इति भावः ॥१०८॥

हे हंस, इस संसार में आते समय (अपने) ज्ञान-बल के कारण तू सबल था देह से एक-रूप होकर (उसे अपनी मानकर) तू स्वयं को निर्बल क्यों बना रहा है? यह सब माया-जाल है। इस माया-प्रपञ्च से तू क्यों मोहित हो गया? या विषय-चर्चा अथवा वासना ने तुझे जीत लिया? अथवा, पुत्र-कलत्र और धन-धाम आदि को सत्य मानकर तू मोहित हो गया? ॥१०८॥

हंसा ते घट भीतरे बसे सरोवर खोट।
एकौ जीव ठौर नहिं लागा[1] रहा सो ओटहि ओट ॥१०९॥

भोः, त्वं हंसोऽसि। प्रकाशरूपोऽसि। घट भीतर=तवान्तःकरणसरोवरे, खोट=मलिनवासना विषयाकारदुराशा वसति, तया स्वस्य जीवत्वं मन्यसे। कश्चिज्जीव एकोऽपि, ठौर=स्थाणुरूपे आत्मनि न प्राप्नोति। रहा सो ओट इति। ये सर्वे जीवाः पराश्रयाः, वैष्णवा विष्णुं, शैवाः शिवं, शाक्तिकाः शक्तिं, गाणेशा गणपतिं, सौराः सूर्यमुपासनाभेदेन पृथक्पृथगर्चयन्ति; अतः, ओटहि=परवशाः भूत्वा तिष्ठन्ति। साक्षात्कार=ज्ञानस्वरूपाः भावनयैवात्मानं विन्दन्तीति भावः ॥१०९॥

अरे, तू हंस है; प्रकाश-रूप है। तेरे अन्तःकरणरूपी सरो र में जिस मलिन वासना का निवास है, वही तुझे विषयों में प्रवृत्त करती है और उसी से तू स्वयं को जीव समझ कर अपने असली स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकेगा। देख, सभी जीव पराश्रय से जीते हैं। वैष्णव विष्णु की पूजा करते हैं, शैव शिव की, शाक्त शक्ति की, और गाणपत्य गणेश की। ये सभी पराश्रित हैं। ज्ञान-स्वरूप आत्मा के साक्षात्कार (की भावना) से ही चरम लक्ष्य प्राप्त होता है ॥१०९॥

हंसा सरवरि तजि चले देही परिगौ सून।
कहहिं कबीर सुनहु हौ सन्तो[2] ते दर तेई थून ॥११०॥

हंसेति। हंसः=चैतन्यात्मा, सरोवरं=देहं त्यक्त्वा गच्छति। चैतन्यमेकीभूय तिष्ठति तदा देहोऽयं शून्यो भवति। कहेति। कबीराः=ज्ञानिनो ब्रुवन्ति—भोः सन्त, मुमुक्षो शृणु। चैतन्यं विना देहो मृतः। यदहंकारात्पूर्वं मन्यते स सर्वो गतः। पुनर्न वक्ति, न शृणोति, न

---

१. पा०—एकौ ठौर न लागिया (सं० बी० ब०)।

२. कहहिं कबीर पुकारिके (छन्द के मान से)।

पश्यति। ते दर=मुखनेत्रादयो नव गर्ताः थून=उरुजंघादयः स्थूनाः (णाः)। भोः कालेनायं देहो भवति पूर्वावस्थारक्षकः कालः पुनर्दरः=कालेऽन्त्यावस्थायां खादतीति भावः ॥११०॥

हे हंस, चैतन्य-रूपी आत्मा इस देह-सरोवर को छोड़ कर जा रही है। चैतन्य के बिना देह मृत ही होगा। अहंकार के कारण जो सब तू मान रहा है वह जाने वाला ही है। देह के नौ गर्त हैं—मुख, नेत्र आदि। जाँघें उसके खम्भे हैं। अन्तिम अवस्था में काल इन सभी को खा जाता है ॥११०॥

हंस बक दिखिये एक रँग चरे हरियरे ताल।
हंस क्षीर ते जानिये बक उधरेंगे काल ॥१११॥

हंसेति। भोः शृणु। हंसः परमहंसो ज्ञानी मानससरसि ज्ञानह्रदे रमते। आत्मनात्मस्वरूपं भिन्नं करोति, यथा हंसपक्षी नीरक्षीरयोर्विभागं करोति। स एव हंसो ज्ञातव्यः। भोः हंसबकौ द्वावेकरूपौ स्तः। पुनः को हंसः को बकः? नीरक्षीरविवेचनेन हंसो ज्ञातः; तडागे मत्स्यमीनानत्ति स बको ज्ञातः। तथा समस्तविषयवासनाविनिर्मुक्तः स परमहंसः; सर्वशास्त्राणि पठित्वा वेदोक्तं ज्ञात्वापि विषयान् भुञ्जते अतो बकवदग्रे 'उधरति' भाषयेति भावः ॥१११॥

हे हंस, सुन ! परम-हंस ही (यथार्थ) ज्ञानी है जो ज्ञान-सरोवर में निवास करता है। वह स्वयं अपने रूप को अलग रखता है। हंस दूध और पानी को अलग-कर देता है उसी सरोवर में (निवास करनेवाला) जो विषय-रूपी मत्स्य-मीन आदि को अपना आहार बनाता है वह तो बगुला ही है। वह (ऐसा व्यक्ति) सब शास्त्र पढ़कर और वेद-वाक्य को जानने पर भी विषयों में ही लिपटा रहता है ॥१११॥

काहे हरिणी दुर्बली चरे हरियरे ताल।
लक्ष्य अहेरी एक मृग केतिक टारे भाल ॥११२॥

काहेति। हरिणी=बुद्धिः, दुर्बली=ज्ञानहीना, यथा हरिततृणैः शोभिततडागे पशवो लुभ्यन्ते, तथा बुद्धिर्ज्ञानहीना। उपरि स्त्रियः आभरणालङ्काराङ्गसौन्दर्यं दृष्ट्वा विषयसुखं सत्यं मत्वा, चरे=सज्जते। लक्ष्य अहेरी=कालः एको जीवः, केतिक=अहोरात्रं गन्धर्वगन्धर्वीभिर्युज्यति, पश्चात्कालो भक्षयति यथा व्याधो मृगम्। तस्मात् ज्ञानविचारे सावधानो भवेत्यर्थः ॥११२॥

सरोवर के तट पर हरी घास पशुओं को जैसे लोभित करती है, उसी प्रकार कामिनी के बाहरी आवरण को देख कर दुर्बल हरिणी के समान ज्ञान-हीन बुद्धि-वाले व्यक्ति (के मन) में विषय-भावना जागृत होती है। और अन्त में काल-रूपी व्याध उस व्यक्ति का अन्त कर डालता है। अतः ज्ञान-विचार में सावधान होना (स्वयं का स्वरूप ज्ञात करना) आवश्यक है ॥११२॥

तीनि लोक भो पींजरा पाप पुण्य भो जाल।
सकल जियरा सावज भया एक अहेरी काल ॥११३॥

तीनि लोकेति। भूर्भुवः स्वः। यदा शरीरत्रयरूपे पञ्जरे आस्थाय देहाभिमानी बभूव, पुनः

पापपुण्यमये जाले पतितः। तस्मिन्नेव जाले समस्तजन्तवः पतिताः। ज्ञानं विना पश्चात्तेषामेकः, अहेरी = भगवान् कालरूपः सर्वानत्तीत्यर्थः[१] ॥११३॥

शरीर-त्रय रूपी पिंजरे में बन्द हुआ व्यक्ति देहाभिमान के ही कारण पाप-पुण्य के जाल में फँस जाता है; इस में सभी फँसे हैं। उस अज्ञानी व्यक्ति को भगवान् कालरूपी अहेरी खा जाता है (नष्ट कर देता है) ॥११३॥

बेढ़ा दीन्हो खेत को बेढ़ा खेत हि खाय।
तीनि लोक संशय परी काहि कहौं विलगाय[२] ॥११४॥

बेढ़ा इति। बेढ़ा = कालः, क्षेत्रं = सर्वशरीरं रक्षति। बेढ़ा पुनः। स एकः कालोऽन्ते सर्वक्षेत्रं खादति भोः इत्याश्चर्यम्। प्राणी देहत्रयसंशयरूपे बुद्धिः गणनां-पञ्चभूतकोशविषयः, इन्द्रियाणि, चतुर्विंशतितत्त्वानि गणनां करोति[३]। तेभ्यो, विलगा = विलक्षणो भवति। अतः कं प्रत्यहं वक्ष्ये ? नैवेति भावः ॥११४॥

शरीर-त्रयरूपी खेत की रक्षा के हेतु काल (समय) की बीड़ लगाई गई है (समय की गणना की दृष्टि से) यदि वही (कालरूपी) बीड़ अन्त में उस सारे खेत को खा जाती है (शरीर का अन्त कर देती है) और प्राणी देह-त्रय, पञ्च-कोश-विषय, इन्द्रियाँ और चौबीस तत्त्वों से स्वयं को विलक्षण नहीं समझता तो किससे कहा जाए ? ॥११४॥

लोभे जान गमाइया पापे खाया पून।
आधी से आधी कहे ता पर मेरा खून ॥११५॥

लोभेति। ये सर्वे शास्त्रज्ञाः [तैरपि] लोभादिनात्मज्ञानं विस्मृतम्। पापाचरणं परद्रव्य-परस्त्रीहरणादि [कुर्वन्ति] तेन पुण्यं = स्वात्मधर्मः खादितः। स्मृतावप्युक्तम्—'कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्[४]।' आधी = जाग्रतादि साक्षी, तुर्यस्ततोऽधोवर्तिन्यविद्याद्वारा देहोऽहमिति वदति यस्तस्योपरि मम खून = किं श्वानशूकरादियोनिषु जायते इत्यभिप्रायः ॥११५॥

शास्त्र को जाननेवाले भी लोभ-वश आत्म-ज्ञान को भूल ही जाते हैं और पर-स्त्री तथा पर-द्रव्य के हरण में प्रवृत्त रहते हैं। वे अविद्या के कारण स्वयं को देह (ही) समझ लेते हैं। वे भी श्वान-शूकरों की योनि में जन्म लेते हैं ॥११५॥

---

१. यहाँ भ्रमवश 'असति' लिखा गया है।

२. पा०—समुझाय।

३. यहाँ तात्पर्य अस्पष्ट है। सांख्य शास्त्र के २४ तत्त्व प्रसिद्ध हैं।

४. भ० गी०, १६, २१।

आधी साखी सिर खँडे[1] जो निरुवारी जाय।
काहू पंडित की पोथियाँ राति दिवस मिलि गाय ।।११६।।

आधी इति। चतुर्थोऽहं साक्षी सर्वस्याहमित्यभ्यासेन शिरो = देहाभिमानं हरति। मुञ्चतीत्यर्थः। यः पञ्चकोशत्रिदेहात्परं स्वस्वरूपं, निरुवारी = भिन्नोऽहमति मन्यते, स एव ज्ञानी। काहेति। पुराणशास्त्रवक्तारः सर्वे पण्डिता अनेकग्रन्थान् न्यायादीनभ्यस्यन्ति। अतोन्योन्यं सर्वे मिलित्वाहर्निशं विवदन्ति, गायन्त्युच्चैर्नदन्ति । आत्मज्ञानं बिना पठनपानेन किं भवति ? न किञ्चित्। अत्र प्रमाणं विष्णुपुराणे प्रोक्तम्—'मठे मठे पुस्तकभारभारं गृहे गृहे पण्डितयूथयूथम्। वने वने तापसवृन्दवृन्दं न चात्मवेत्ता न च तत्त्ववेत्ता'[2] इति प्रामाण्यात् सत्यमेवाभिप्रायः ।।११६।।

'ओं' इस मन्त्र का अन्तिम अक्षर सिर से विहीन है; 'मैं सब का साक्षी हूँ' इस अभ्यास से वह देहाभिमान से मुक्त कर देता है। स्व-स्वरूप (चैतन्य) तो पंच-कोश और तीनों (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) देहों से पृथक् ही है। पुराण और शास्त्रों के ज्ञाता अनेक ग्रन्थों का अभ्यास और मनन तथा गायन (प्रवचन भी) करते ही हैं, किन्तु इसका कोई प्रयोजन नहीं जब तक वे अपना स्वरूप नहीं जानते। विष्णु-पुराण में कहा है की प्रत्येक मठ में अनेक पुस्तकें रहती ही हैं, घर-घर पण्डित हैं, प्रत्येक वन में तपस्वी हैं, किन्तु आत्म-ज्ञान और तत्त्व-ज्ञान दुर्लभ ही है ।।११६।।

मनुष्य जन्म दुर्लभ है होय न दूजी बार।
पक्का फल जो झरि परै बहुरि न लागे डार ।।११७।।

मनुष्येति। भोः, मानुषं जन्म दुर्लभं सर्वदेहिनां पुनर्भवति न वा भवति। तस्मात् ज्ञानविचारं कुरु। पुनः शरीरं वृद्धं भूत्वा नश्यति। स एव देहः, मनुष्य = मनुष्ययोनिः पुनर्न भवति, यथा वृक्षात्पक्वफलानि पतन्ति। यच्छाखायाः पतितं फलं तस्यामेव कथं लग्नं स्यात् ? कदापि नैव। अत्र प्रमाणं श्रीमद्भागवते—दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः। तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्[3] ।। इति भावः ।।११७।।

मनुष्य-जन्म दुर्लभ है; दूसरी बार मिले या न मिले। अतएव ज्ञान-विचार करना ही योग्य है। शरीर तो जीर्ण होकर छूट ही जाता है। वृक्ष की टहनी से गिरा हुआ फल उसमें फिर नहीं लग सकता। मनुष्य-जन्म की दुर्लभता श्रीमद्भागवत में भी निरूपित की ही है ।।११७।।

---

१. यहाँ तात्पर्य 'अर्धमात्रा' से है। तुलनीय—'अर्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानन्दैकविग्रहः' (रामोपनिषद्, १, ४)।

२. विष्णु पुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित विष्णु पुराण में यह श्लोक नहीं है।

३. भागवत पु०।

बाँह मरोरे जात है सोवत लिया जगाय।
कहहिं कबीर पुकारिकै पिण्ड रहौ कै जाय ॥११८॥

बाँहेति। भोः पश्यत। बाँह=सद्गुरोः सङ्गं ब्रह्मविद्यां वा देहाभिमानेन, मरोरे= निरादरं कृत्वाऽविद्यामार्गे गच्छति। कबीरः सद्गुरुः, श्रुतिश्चोच्चैर्ब्रवीति-देहाभिमाने स्वपिति, तत्त्वमसीति वाक्येन विनिद्रं करोमि। श्रुतयः—श्रीनारायणं योगनिद्राशयानमुत्तमश्लोक-विक्रमैर्बोधयामासुः।—'जय जय जह्यजामजितदोषगृभीतगुणां त्वमसि यदात्मना समवरुद्ध-समस्तभगः'[1] इति परमानन्दं प्राप्तो यदा तत इत्थं ब्रवीति—अयं पिण्डदेहो युगान्तं तिष्ठत्वद्यैव नश्यतु मम चिद्वा। न रूपे हानिलाभौ नैवेत्यभिप्रायः ॥११८॥

देहाभिमान के वश में होकर तुम सद्गुरु के संग और ब्रह्मविद्या का अनादर मत करो। देहाभिमान में सोते रहते हो। उसे दूर करना योग्य है। योग-निद्रा में सोए हुए भगवान् नारायण को भी ऋषि-मुनियों ने उद्बोधित किया ही था। यह देह-पिण्ड चाहे युगान्त तक रहे या आज ही नष्ट हो जाय, किन्तु चित्-स्वरूप को जानना आवश्यक है ॥११८॥

बेरा बाँधिनि सर्प का भवसागर अति माह।
छोड़े तो बूड़े नहीं गहे तो डसे बाँह ॥११९॥

बेरा इति। वर्णाश्रमाभिमान एव सर्प्पः। तन्मयोडुपं कृत्वा भवसागरमध्ये मोचितः= छोड़ितः। तं त्यजति तर्हि न निमज्जति। बूड़े न=अश्व[2] (?) आत्मैवाहमिति ज्ञानं विना अविद्यार्णवे देहाभिमाने निमज्जति। तस्मात् ज्ञानं=विचारं कुरु। नामस्मरणाद्देहाभिमानोऽहिर्न दशति। अभिमानभुजङ्गेवात्मबोधो दंशितस्तस्मादभिमानं जहीति भावः ॥११९॥

वर्णाश्रम रूपी सर्प के घेरे में बँधकर प्राणी भव-सागर में अवतीर्ण हुआ है। उस घेरे को छोड़ देने पर वह मुक्त हो जाता है और न छोड़ने पर बँधा ही रहता है। ज्ञान-विचार और नाम-स्मरण ही अविद्यारूपी सर्प को नष्ट कर देते हैं और इस प्रकार प्राणी अविद्या रूपी समुद्र पार भी कर लेता है ॥११९॥

हाथ कटोरा खोवा भरा मग जोवत दिन जाय।
कबिरा उतरा चित्त सों छाँछ दियो नहिं जाय ॥१२०॥

हाथेति। हाथ=मनुष्यदेहः; कटोरा=ज्ञानस्वरूपा बुद्धिः; खोवा=स्वात्मज्ञानविचारः, तेन भरा=सर्वतः परिपूर्णोऽहम्। इति भावं बिहाय, मग=परोक्षध्यानं वैकुण्ठादिषु दूरम्, जोवत =ध्यायतेऽन्यं कल्पयित्वा, दिन जाय=शरीरायुर्दिने दिने गच्छति। कबीराः, अज्ञानिनो ब्रह्मैवाहमिति चित्तविचारे न प्राप्ताः, 'उतरिते' इति भाषया प्रसिद्धम्। तर्हि छाछि=कर्ममन्त्र-ज्ञानकाण्डेषु चित्तमपि न दीयते। मूढः, यद्वच्छाछि=शास्त्रजन्यज्ञानमेव तक्रं तेषां दुर्लभम्। अत्र

---

१. वही, १०, ८७, १४।
२. पोथी में ये दोनों अक्षर स्पष्ट हैं। अर्थसंगति के लिए पढ़िए—'अथ च'।

प्रमाणं भगवद्गीतोपनिषदि—'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।'[1] इति प्रामाण्यात्सत्यमेवाभिप्रायः ॥१२०॥

तुम्हारे हाथ में खोवा भरा कटोरा है। मनुष्य-शरीर पाया है और ज्ञान-स्वरूप बुद्धि भी तुम्हारे पास है। इसी प्रकार, तुम आत्म-विचार से परिपूर्ण हो। इन (सब) की ओर ध्यान न देकर तुम ईश्वर को वैकुण्ठ-वासी बतलाते हो। और दूर (ईश्वर को) देखते हुए यदि कर्ममार्ग में प्रवृत्त हुए तो छाछ भी नहीं मिलेगी। गीता में भी कहा ही है कि अज्ञ और श्रद्धाहीन व्यक्ति मुक्ति नहीं पा सकता ॥१२०॥

एक कहौं तो है नहीं, दुई कहौं तो गारि।
है जैसा तैसा रहो कहहिं कबीर पुकारि ॥१२१॥

एकेति। निर्विकल्पो ज्ञानी ब्रवीति। उपशमे शान्तिरूपे मयि निर्विकल्पेऽतोऽहमेकं ब्रह्मेति कथयामि वा द्वितीयम्? नैको न द्वितीयः। यद्रूपो यादृशो भवति तादृशस्तिष्ठति। कबीराः—वेदा उच्चैर्ब्रुवन्ति—'नेति नेति, नेह नानास्ति किञ्चनेति'[2] श्रुतिरिति भावः ॥१२१॥

शान्तिरूप उपशम ही मुक्ति है। वहाँ (उस स्थिति पर) पहुंचने पर न तो अद्वैत है और न द्वैत। उसका स्वरूप जैसा है वैसा ही है। वेद भी उसे (परमात्मा को) नेति-नेति आदि कहते ही आए हैं ॥१२१॥

अमृत की मोटरी[3] सिर सों धरे उतारि।
जाहि कहौं मैं एक सो कहे मोंहि चारि ॥१२२॥

अमृतेति। अमृतं=निर्विकल्पानन्दः। तस्य मोटरी=ज्ञानादिसाधनोऽमायी। ततः परा पञ्चम्यवस्था स्यात्। तत्परः सर्वश्रुतिशिरोभागो ब्रह्मैवाहमित्येकं मोक्षं वदामि, तर्हि द्वैतवादिनश्चतुर्धा मोक्षं—सालोक्यं, सारूप्यं, सामीप्यं, सायुज्यं च प्रतिपादयन्तीति भावः ॥१२२॥

ज्ञानादि साधनों से सम्पन्न व्यक्ति सब (कठिनाइयों) को पार कर पाँचवीं अवस्था में पहुँच जाता है और तब उसे निर्विकल्प आनन्द का अनुभव होता है। तब श्रुति के कथन के अनुसार 'मैं ब्रह्म ही हूँ' यह मुक्ति होती है। यही एक ही प्रकार की मुक्ति है, यद्यपि द्वैतवादी चार प्रकार की मुक्ति बतलाते हैं—सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सायुज्य ॥१२२॥

चार चोर चारी चले पग पनही उतारि।
चारों दर थूनी हरी पंडित करहु विचारि ॥१२३॥

चार इति। चत्वारश्चौराः=अन्तःकरणचतुष्टयम्, पनही=पण 'व्यवहारे स्तुतौ' च।

---

१. भ० गी०, ४, ४०।

२. कठ उ०, ४, ११ आदि।

३. पोथी में यह अंश प्रमाद वश दो बार लिखा है। पा०—मोटरी।

ब्रह्मानन्दविचारं त्यक्त्वा सङ्कल्पादिविषयान् हर्तुं गच्छन्ति । पग पनही=स्वशुद्धं चैतन्यम् । तद्विहाय, चार्रो दर=पुनः कामक्रोधलोभमोहरूपगर्त्ते पतन्ति । ततः, थूनी=मनश्चञ्चलं भवति । भोः पण्डित, चिदात्माहमिति विचार्यताम् ।।१२३।।

अन्तःकरण चतुष्टय ब्रह्मानन्द के विचार को छोड़ कर विषयों की ओर दौड़ते हैं; यह बात ठीक उसी प्रकार की है जैसे चार चोर अपनी-अपनी जूतियाँ उतार कर चोरी करने के लिए (किसी मकान के) अन्दर घुसे और वे गर्त में खिर पड़े । यह गर्त काम, क्रोध, लोभ और मोह ही है। इसी प्रकार चञ्चल मन आत्म-विचार को छोड़ कर और विषयोन्मुख होकर पतित हो जाता है। अतः मन को चिदात्मा के विचार में लगाना ही श्रेयस्कर है ।।१२३।।

जाके मुनि वर तप करे वेद थके गुण गाय ।
सोई देव सिखापनो[1] कोई पतियाय ।।१२४।।

जाके इति। भोः शृणु। यत् श्रीनारायणप्राप्त्यर्थे मुनिवराः=नारदसनकादयस्तपश्चर्यां कुर्वन्ति, वेदा यस्य गुणान् गायन्ति, तथापि मायागुणस्य पारं न ययुः । 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'[2] इति, स आत्मा, ई=इदं सर्वं 'तत्त्वमसीति' कस्मैचिद्वदामि स कश्चिन्न प्रत्येति। न मन्यते इति भावः ।।१२४।।

श्रीनारायण की प्राप्ति के हेतु नारद और सनकादिक मुनिवर तपस्या करते हैं और वेद भी उनका गुण-गान करते हैं। किन्तु ये सभी उनकी माया का पार नहीं पा सकते । वस्तुतः यह सब परमात्मा है और वही तू भी है। यह किसे कहा जाय ? ।।१२४।।

एक ते अनन्त एक हो आया[3] ।
परिचय भया जु एक तें अनन्त एकहिं माँह समाया ।।१२५।।

एकेति । एकतरादात्मनोऽनेका जायन्ते; पुनरनन्तान् स्वस्मिन् विलोप्यैको भवामि यावदेको येन, परचे=उभयोर्न ज्ञातस्तावदनन्तः ज्ञाते आत्मनि पुनरनन्तकल्पना लीयते । एकोऽहं बहु स्यां बहव एको भवामीति भावः ।।१२५।।

आत्मा एक ही है, यद्यपि उसके रूप अनेक हैं। अन्त में ये सभी रूप एक ही में समा जाते हैं जिससे अनेक की कल्पना लीन हो जाती है । ।।१२५।।

एक शब्द गुरुदेव को तामे अनन्त विचार ।
थाके मुनिवर ज्ञानी वेद न पावे पार ।।१२६।।

---

१. सोइ देउँ सिखापना (सं० बी० ब०) ।

२. शाण्डिल्योप०, २, ३; तैत्तिरीयोप०, २, ४, ५ ।

३. इस साखी का दूसरा पद लेखक ने जोड़ दिया है। पूरा पद इस प्रकार है—एक हि ते अनन्त हो आया (सं० बी० ब०)। एक ते अनन्त भो, अनन्त एक हो आय (भू० बी० ह०) ।

एकेति। गुरुदेवेनैक शब्दः 'आत्मैवाहम्' इति दत्तः। तस्मिन्नेवाभ्यासेऽनन्तविचारः। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'[1] इति। थाके=पुनस्तस्मिन् ज्ञानी उपरमति। मुनीनां वराः मुनिवरा दत्तात्रेयादयः, वेदोपनिषदो वाण्यो वान्ते विचारादुपरता भवन्ति, तद्ब्रह्मणो वाण्या पारं न प्राप्नुवन्तीति भावः॥१२६॥

गुरुदेव ने 'मैं आत्मा ही हूं' यही एक उपदेश दिया है। उसके अभ्यास से अनेक विचार उत्पन्न होते हैं किन्तु ज्ञानी उसी में रममाण रहता है। दत्तात्रेय आदि सिद्ध भी वेद और उपनिषदों की वाणी से उपरत होते ही हैं। वाणी से ब्रह्म का पार नहीं पाया जा सकता।॥१२६॥

चौगोड़ा के देखते व्याधा भागो जाय।
एक अचम्भा हौं देखा[2] मरा काठ को खाय॥१२७॥

चौगोडेति। अथास्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवन्ति-नाभिः, हृदयं, कण्ठः, मूर्द्धेति[3]। तत्र चतुष्पादं ब्रह्म विभाति-अकारोकारमकारस्तुर्येति। यद्वा, आसमन्ताच्चिदात्माहम्, पश्यता-मित्यभ्यासेन, व्याधः=कालः पलायते। भोः, एकमाश्चर्यं पश्यामि। किम्? वर्णाश्रमाभिमान एव मृततुल्यः सन् काष्ठं=शुभाशुभकर्म खादतीति भावः॥१२७॥

देह के चार स्थान—नाभि, हृदय, कण्ठ और मस्तिष्क, इन सब में अकार, उकार, मकार और तुर्य (अन्त्य)' इस रूप से चतुष्पाद ब्रह्म का निवास है। 'मैं चिदात्मा हूं' यह विचार करनेवाले के सामने काल भाग जाता है (उस व्यक्ति की मृत्यु नहीं होती)। फिर भी, आश्चर्य यही है कि वर्णाभिमानी व्यक्ति शुभाशुभ कर्म को खाता ही है (कर्म के फेर में पड़ा ही रहता है)।॥१२७॥

राउर के पिछुवारे गावें चारों सैन।
जीव परा बहु लूट में नहिं कछु लेन न देन॥१२८॥

राउरेति। भवान् राउरोऽसि (स्ति)। भवतः स्वरूपं चिदात्मानं तत्परोक्षं कथं गायन्ति? चारों सेनेति। चतुर्वेदाः परोक्षं गायन्ति-कर्मोपासनाज्ञानमिति। तेषु त्रिकाण्डेषु सर्वे जीवा भ्रमन्ति। अयं विधिरयं निषेधः, कर्तव्याकर्तव्ये गृहीतव्यो दातव्यः। निर्विकल्पे मयि न भासते इति भावः॥१२८॥

चिदात्मा का स्वरूप परोक्ष कैसे हो सकता है? उसे परोक्ष बतलाने वाले वेदों में तो कर्म, उपासना, ज्ञान आदि सब कुछ है। कर्तव्य का अनुपालन और अकर्तव्य का निषेध भी वेदों में बतलाया ही है—यह करो, यह न करो आदि। पर

---

१. तैत्तिरीयोप०, २, १, १।
२. पा०—एक अचम्भा देखिये (सं० बी० ब०)।
३. इनका सम्बन्ध शरीर के ऊपर चार चक्रों से है।

उसी फेर में सभी पड़े रहते हैं यद्यपि निर्विकल्प में इनका भान ही नहीं रहता। ॥१२८॥

बलिहारी तेहि दूध की जामे निकला घीव।
आधी साखि कबीर की चारि वेद को जीव ॥१२९॥

बलिहारीति। भोः, यस्य दुग्धवन्निर्मलं चित्तं, स एव प्रशंसायोग्यः। पुनः जामहेति। यस्मिन्नात्मैवाहमिति सर्पिः प्रकटं भवेयस्मात्साक्षात्कारो भवति। आधी=अर्धमात्रा सर्वोपरीष्टा[1]। सर्वस्याहं साक्षी। कबीराः-आब्रह्मादीनामनुभवः आत्मैवाहमिति। चतुर्वेदादेकत्वं कुर्वन्ति, तदाधारेण वदन्तीत्यर्थः ॥१२९॥

जिसका चित्त दूध के समान निर्मल है वही व्यक्ति प्रशंसा के योग्य है। उसी को आत्मसाक्षात्कार, दूध में घी के समान, होता है। कबीर की आधी साखी सबके ऊपर है; उसका सार यही है कि वह सब की साक्षी है। (ॐ इस मन्त्र में अनुस्वार सबके ऊपर है और वही प्रमुख है)। ॥१२९॥

बलिहारी तेहि पुरुष की जो[1] परचित्त पेखनहार।
साईं दीन्हों खाँड के खारी बूझे गँवार ॥१३०॥

बलिहारीति। पुरुषः स्वात्मारामः; परचित्तेति निष्काममुमुक्षवे; साईं=अद्वैतं मतं ददाति सद्गुरुः शर्करातुल्यमात्मामृतं पिवेति। तं निश्चयं करोति स एव श्रेष्ठः। तस्य 'बलिहारी' भावाप्र सिद्धम्। अन्यश्च यो 'जीवोऽहमिति क्षारं पिवति स एव मूर्खः, पामरः। अतो बन्धनान्न मुच्यते इति भावः ॥१३०॥

उस पुरुष की बलिहारी है जो अन्य किसी के चित्त को परख लेता है। सद्गुरु शक्कर सरीखा मीठा आत्मामृत और अद्वैत-मत का उपदेश देता ही है और जो उसे मान लेता है वह श्रेष्ठ है किन्तु उसे न माननेवाला वह पामर है जो स्वयं को जीव समझ कर नमक मिला पानी ही पीता रहता है ॥१३०॥

विष के बिरवहिं घर किये रहा सर्प लपटाय।
तातें जियरहिं उर भया जागत रैन विहाय ॥१३१॥

विषके इति। भोः, यो विषयवासनारूपमन्तःकरणं गृहं भवति, वर्णाश्रमाभिमानेन रूपसर्पेण वेष्टितः, तातें=तस्माज्जीवानां भयं भवति। अतः शुद्धबोधोऽहमिति जागरणेन=प्रकाशेनाविद्यायामिनीं विहाय मुक्तो भवेति ॥१३१॥

जिस व्यक्ति का अन्तःकरण विषय-वासना का घर है वह वर्णाश्रम रूपी सर्प से घिरा रहता है। मैं शुद्ध-बोध हूं इस प्रकाश से अविद्यान्धकार को दूर करने से मुक्ति प्राप्त होती है ॥१३१॥

---

१. अर्धमात्रा के लिए पिप्पणी साखी संख्या ११६ में देखिए। =सर्वोपरिष्ठा।

१. छन्द के मान से यह शब्द अधिक है।

जो घर रहै सर्प का ता घर साधु न होय ।
सकल सम्पदा ले गया विषहर लागे सोय ॥१३२॥

जो घरेति। आत्मैवाहमिति शुद्धगृहं साधूनां भवति। देहोऽहमहं वर्णाश्रमीत्यभिमानसर्प-युक्तं गृहमसाधूनाम्। विषहरः=सद्गुरुः 'तत्त्वमस्यादि' सकलसम्पदां मुमुक्षवे ददाति। तां गृहीत्वा मुमुक्षुः स्वयं तद्रूपो भवतीति भावः ॥१३२॥

'मैं आत्मा ही हूं' यह ज्ञान सज्जन का निवास है और 'मैं देह हूं, वर्णाश्रमी हूं', यह सर्पावेष्टित घर असज्जन का है। विष को दूर करनेवाला गुरु 'तत्त्वमसि (तू वही है)' यह मन्त्र-सम्पदा 'मोक्षाभिलाषी', शिष्य को देता है और उसे ग्रहण करके शिष्य भी तद्रूप हो जाता है ॥१३२॥

घुँघुची भर के वोये[1] उपजी पसेरी आठ ।
डेरा परा काल का साँझ सकारो जाय ॥१३३॥

घुँघुचीति। घुँघुची=कुलाचारव्यवहारः, यद्वा सम्प्रदायद्वारस्तम्भपन्थचतुर्मठमठीवेष-धारणादि घुंघुच्यभिमानः। तं सत्यं मत्वा, भरि=पूर्णता भवति। उपजीति। तन्निर्णयमाह। आदौ ब्रह्म-अव्यक्तम्। ततो महत्। महतोऽहंकारः। स त्रिधा-सात्विकराजसतामसभेदात्। चतुर्दश देवाः, चतुर्दश-स्थानानि, पञ्चमहाभूतानि, षष्ठो जीव इति। एवं चत्वारिंशत्तत्त्वानामेकत्र मिलितेन देहो भवतीत्यष्टप्रस्थो भवति। डेरा परेति। अस्मिन् कालो वसति। सायं प्रातर्मध्याह्न-कालेषुशरीरायुर्गच्छतीत्यर्थः ॥१३३॥

कुलाचार आदि व्यवहार और स्तम्भ, पन्थ, मठ आदि का वेष धारण करना तथा सम्प्रदाय-मार्ग का अवलम्बन करना उस किसान के अभिमान के समान है जो थोड़े से (गुंजा भर) बीज बो कर आठ पसेरी धान उत्पन्न करता है। यह अभिमान उस देह का है जिसमें ब्रह्म, महत्, अहंकार, देवता और पञ्चमहाभूत का सन्निवेश है। उस देह पर काल का डेरा पड़ गया है और वह डेरा सायं प्रातः (प्रतिक्षण) उस शरीर की आयु को क्षीण करता रहता है ॥१३३॥

मन भर के बोये घुंघुची परिपूरन नहिं होय ।
कहा हमार माने नहीं अन्त हु चला विगोय ॥१३४॥

मन भरेति। मनसा देहवर्णाश्रमाभिमानो वापितः। ब्राह्मणोऽहं, क्षत्रियोऽहम्, अहं वेष-धारीत्यभिमाने बहु परिश्रमं कृतवान्स्तदपि, घुंघुची=परिपूर्णता न भवति। सद्गुरुर्ब्रवीतिभोस्त्वं शुद्धबोधोऽसि। तन्न मन्यते। पुनरन्ते विहायाभिमानं कालवदने गच्छतीति भावः ॥१३४॥

देह और वर्णाश्रम का अभिमान (बीज) मन ने बोया है। मैं ब्राह्मण हूं, मैं क्षत्रिय हूं, मैं वेषधारी हूं, इस (प्रकार के) अभिमान में अत्यन्त परिश्रम करने पर भी

---

१. पा०—बोइये। इस साखी के पूर्वार्ध और उत्तदार्ध में अन्त्यानुप्रास नहीं है।

परिपूर्णता नहीं होती। सद्गुरु कहते हैं—'तू शुद्ध-बोध है। पर वह नहीं मानता और अन्त में इस अभिमान को छोड़कर काल के मुंह में चला जाता है ॥१३४॥

आपा तजे हरि भजे नख सिख तजे विकार।
सब[1] जीवन से निर्वैरता साधु मता है सार॥१३५॥

आपेति। आपा=अभिमानं जात्यादयः, त्यक्त्वा 'अहं हरिरिति भजति; आनखाग्रशिखा-पर्यन्तं रोमसु रोमसु सर्वविकारं त्यक्त्वा सर्वजीवेषु निर्वैरस्तिष्ठति; साधूनां तदेव सारं=मतं बोध्यम्। [यथा] भगवद्गीतोपनिषदि-'मानापमानयोस्तुल्यः तुल्यो मित्रारिपक्षयोः। सर्वारम्भ-परित्यागी गुणातीतः स उच्यते।'[2] इति भावः ॥१३५॥

जाति आदि का अभिमान छोड़कर जो हरि का भजन करता है और सभी प्रकार के विकार को दूर कर तथा साधुओं के वचन पर ध्यान देकर निर्वैर बना रहता है, वही सच्चा मानव है। गीता में भी कहा है कि गुणतीत वही है जो मान और अपमान में सम (समवृत्ति) हो, मित्र और शत्रु के साथ सरीखा व्यवहार करे और जो शरीर के लिए आवश्यक कर्म को छोड़कर अन्य सभी कर्मों का परित्याग करे ॥१३५॥

पक्षा पक्षी कारणे सब जगत भुलाना।
निरपेक्ष होय के हरि भजे सोई सन्त सुजाना॥१३६॥

पक्षेति। एके परमात्मन्यनेकभेदं, विष्णुं, रामं, कृष्णं, शिवादीनिष्टानिष्टं कुर्वन्ति। केचिच्च सम्प्रदायमतम् देवं भजन्ते]। इत्यादिकारणेनेदं सर्वं जगन्मोहितम्। निरपेक्षं सर्वमत-वादम्। नाहं पन्थी, न सम्प्रदायी, न वैष्णवः, न सन्यासी, न ब्राह्मणः। एवं भूत्वा, इदं सर्वं हरिः। अहं हरिरित्थं भजति स एव सन्तः=साधुः[3]। स एव, सुजान=विद्वानिति भावः ॥१३६॥

यह जगत् मत-वाद में भ्रमित है। कोई विष्णु को मानता है, कोई राम को और कोई शिव को। इस प्रकार परमात्मा के भेद हैं। कोई सम्प्रदायमत के अवलम्बी हैं। इन सभी कारणों से यह सारा जगत् मोहित हो गया है। (किन्तु) मत-वाद निरपेक्ष है। मैं न किसी पन्थ का हूँ, न मेरा कोई सम्प्रदाय ही है, और न मैं वैष्णव, सन्यासी या ब्राह्मण हूँ। ऐसी स्थिति में सभी हरि (हरि-रूप) हैं; मैं भी हरि हूँ, इस प्रकार जो भजन करता है, वही साधु है, वही विद्वान् है ॥१३६॥

बड़ा तो बड़पने गये[4] रोम रोम हंकार।
सद्गुरु के परचे बिना चारों वर्ण चमार॥१३७॥

---

१. छन्द की दृष्टि से यह शब्द अधिक है-
२. भ० गी०, १४, २५।
३. तुलनीय—भ० गी०, १८, ६६।
४. बूड़ै बड़ै वड़ापने रोम रोम हंकार (सं० वी० व०)।

बड़ेति। बड़ा तो बड़पने = पण्डिताः, महन्ताः, योगज्ञाः वयं तपस्विनः, येषां रोम-रोमाहंकारेण पूरितः। अद्यापि, बड़पने = महत्त्वे गच्छन्ति। सद्गुरोः हरेर्ज्ञानं बिना चत्वारो वर्णाः चर्मकाराः स्युः। चर्माभिमानी च चर्मकारः। ब्रह्माभिमानी ब्राह्मण इति प्रसिद्धम् ॥१३७॥

हम पण्डित हैं, हम महन्त हैं, हम योग को जाननेवाले हैं, हम तपस्वी हैं, इस प्रकार रोम-रोम में अहंकार से भरे व्यक्ति अपने मुँह बड़े (मियाँ मिठ्ठू) बनते हैं। किन्तु सद्गुरु हरि को जाने बिना चारों वर्ण चमार हैं—वे चर्माभिमानी हैं। ब्रह्म को जानने वाला ही ब्राह्मण है ॥१३७॥

माया के झक जग जरे कनक कामिनी लागि।
कहँहि कबिर कैसे बाँचिहौ रुई लपेटी आगि ॥१३८॥

माया के इति। भोः, इदं सर्वं जगत्, कनक कामिनी = मायाचमत्कारः, अङ्गसौन्दर्यनेत्र-विलसितरूपाग्नौ पतङ्गवत्, जरे = दहति। दृष्टान्तमाह यथा तूलवेष्टितोऽग्निः किं न तूलं दहति? तद्वत्। कबीराः = महान्त आत्मारामा ब्रुवन्ति, भोः मुमुक्षो, अविद्यां तर्तुमिच्छुश्चेत्, कनकं कामिनीं च परिहरेति भावः ॥१३८॥

यह सारा जगत् कनक और कामिनी-उसके अङ्ग-सौन्दर्य और नेत्र-विलास रूपी-अग्नि में रुई में लपेटी आग की तरह जलता रहता है। कबीर (बुद्धिमान् व्यक्ति और आत्माराम) कहते हैं कि हे मुमुक्षु, अविद्या पार करने की इच्छावाले व्यक्ति को कनक और कामिनी से दूर रहना चाहिए ॥ १३८॥

माया जग सापिनि भई विष ले बैठि आथि[1]।
सब जग फन्दे फन्दिया चले कबिर जी काछि ॥१३९॥

मायेति। मायेयं जगद्भक्षयितुं सर्पिणीवदास्ते। स्वहस्ते विषयान् गृहीत्वा तिष्ठति। सब = तया सर्वं जगत् पाशबन्धने बद्धम्। कश्चित्कबीरः = परमहंस आत्मैवाहमिति, काछि = निश्चित्य पाशबन्धनान्मुच्यते इत्यर्थः[2] ॥१३९॥

माया इस जगत् को भक्षण करनेवाली साँपिन है। वह विषय हाथ में लेकर स्वयं आकर खड़ी हो जाती है। उसने समस्त जगत् को बाँध रखा है; उसका बन्धन दृढ है। 'मैं परम-हंस हूँ' यह दृढ़ निश्चय करने पर ही कोई (बिरला ही) आत्माराम इससे छुटकारा पा सकता है ॥ १३९॥

साँप बिछी को मंत्र है महुरो झारा जाय।
विकट नारि पाले परे काढ़ि करेजो खाय ॥१४०॥

साँपेति दृष्टान्तमाह। यः कश्चित्सर्पवृश्चिकाभ्यां दृष्टः, विषमोहितः, तद्विषहरो मन्त्रैः, झारे जाय = विषं दूरीकरोति। तस्य विषं नश्यति। परंतु विकटं रूपं [यस्यास्तया] नार्या

१ अन्त्यानुप्रास के लिए पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के लिए—'वाटि' और 'काटि' क्रमशः पढ़िए।

२. तुलनीय—भ० गी०, ७, १४।

पिशाच्या दष्टो जगन्मोहितो वशीभूतः क्रीडामृगो यथा। का श्रृङ्खला प्राणभृतां हि नारी शूरान्महाशूरतमोऽस्ति को वा। नार्या पिशाच्या न हि वञ्चितो यः।[1] यद्वा मलिनवासनां, करे= आत्मतत्त्वं विस्मृत इत्यर्थः ॥१४०॥

सांप और बिच्छु का मन्त्र है; उसके विष को उतारने वाला भी होता है। किन्तु विकट नारी (माया) से डसे हुए और उसके विष से मोहित हुए व्यक्ति के लिए कोई मन्त्र नहीं है। माया का रूप विकट है। वह संसार को वश में करके अपना खिलौना बना लेती है, जिससे मनुष्य आत्मतत्त्व भूल जाता है। कहा भी है कि 'नारी प्राणी के लिए एक प्रकार की श्रृंखला है और वह उसे वञ्चितकर देती है।' यह मलिनवासना आत्मतत्त्व को भुला देती है। १४०॥

पीपर एक महा गभान वाकी मर्म कोई नहिं जान।
डार लँबाये कोइ नहीं खाय ससम अछत बहु पीपरे जाय[2] ॥१४१॥

पीपरेति। पिप्पलो=जीवः, एकः परमात्मा। द्वौ सखा॰ौ, यो जीवोऽस्मिन्देहे, गभान=अहङ्कारं करोति, वाकी=तेन जन्मरणाभ्यां रहितो य आत्मा तदहमिति विचारोऽज्ञानान्नानुभूयते इति शेषः। डारेति। देहगत आत्मा, लभाये=देहस्य सुखदुःखेप्सया लोभायमानो भोक्ता भवति। अहं सुखी, अहं दुःखीत्याद्यभिमाने पिप्पलो=जीवः शरीराभिमानी भवति। कोई=ईश्वरो ज्ञानी वा पिप्पलं=विषयं न खादति अतोऽभोक्ता। ख=आकाशवत्, सम=तुल्यः, सर्वत्रानुस्यूतः। अक्षतेति। प्रत्यक्षं बहुनोक्तेन किम्? अत्र श्रुतिः-'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यन्योऽनश्नन्नभिचाकशीति'[3] इत्युक्तेरित्यर्थः ॥१४१॥

जीवात्मा परमात्मा से भिन्न नहीं, किन्तु इस देह में प्रविष्ट होने पर वह अहंकारी बन जाता है और स्वयं भो जन्म-मरण-रहित परमात्मा से भिन्न मानने लगता है। देह की सुख-दुःख की बुद्धि से वह स्वयं को भोक्ता भी मानने लगता है। वह इस देहाभिमान में कारण ही भोक्ता है जब कि परमात्मा भोक्ता नहीं है। वह तो आकाश के तुल्य (स्व-सम) निर्मल है और सर्वत्र व्याप्त है। यही सिद्धान्त वेदों में भी प्रतिपादित किया गया है ॥१४१॥

साहू से भे चोरवा चोरन्हि ते भए शुद्ध।
तब जानिहुगे जीयरा जबहिं परेगा तुज्झ ॥१४२॥

साहू से इति। स्वात्मविचाराच्चौरो=विमुखो भवति। चौरः=विषयभोक्ता अभिमाने

---

१. सुभाषित।

२. लेखन अत्यन्त त्रुटिपूर्ण। प०—पोंपरि एक जो महा गभानी, ताकर मर्म कोई नहिं जानी ···पियरे जाय (वी० मू० रा०)।

३. ऋग्वेद, १, १६४, २०।

शुद्धः=सन्मुखो भवति । अतो यदा त्रिधातापैः पीड्यमानो भवसि तदा त्वं जानीषे इत्यर्थः ॥१४२॥

यदि स्वात्मविचार से विमुख होता है तो तू चोर है। इसी कारण तू विषयों का भोक्ता (स्वयं) बन जाता है। किन्तु जब (जन्म-मरण के आवर्तन-रूपी) मार पड़ेगी तब तुझे मालूम होगा ॥१४२॥

ताकी पूरी[1] का परे गुरु न लखाई बाट।
ताके बेरा बूड़हीं फिरि फिरि औघट[2] घाट ॥१४३॥

ताके इति। गुरुणा यं प्रति आत्ममार्गो न दर्शितस्तस्य पूर्णता कथं भवति? 'सद्गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्म निष्ठम्'[3] इति श्रुतेः। तस्य चित्तं, बेरा=विषयार्णवे निमग्नं भवति। स पुनः पुनर्जन्ममरणनद्यां भ्रमतीत्यर्थः ॥१४३॥

गुरु ने जिसे आत्ममार्ग नहीं बतलाया उसकी पूर्णता नहीं होती। ऐसे व्यक्ति का चित्त विषयार्णव में निमग्न होकर जन्म-मरण-रूपी समुद्र में घूमता रहता है ॥१४३॥

चारि मास घन वर्षिया अति अपूर जल नीर।
पेन्हे चढ़त न बखतरी चुभे न एको तीर ॥१४४॥

अहं चतुर्वेदपाठीत्यभिमानघनो वर्षति। वेदेष्वप्यपूरं=विज्ञाननीरं पूर्णं, तेन रहितः। पेन्हे=ब्राह्मणोऽहमिति जडत्वकवचं दधाति। ब्रह्मैवाहमित्येकः शरोऽन्तर्विचारे न चुभे=नैव भिनत्तीत्यर्थः। 'न मे प्रियश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः'[4] इत्युक्तेरिति भावः ॥१४४॥

चारों वेदों को पढ़कर तू चतुर्वेदी होने का अभिमान करता है। किन्तु वेद तो विज्ञान-नीर के समुद्र हैं और तू उससे अपूर्ण ही है। तू शरीर पर जडत्व का कवच धारण करता है अतः ब्रह्म-विचार तेरे भीतर नहीं बैठ सकता। गीता में भी भगवान् ने कहा ही है कि वेद-पाठी नहीं किन्तु मेरा भक्त, यद्यपि वह नीच जाति का भी हो, मुझे प्रिय है ॥१४४॥

गुरु की भेली जिव डरे काया छीजनि हार।
कुमति कमाई मन बसे लागु जु वाकी लगार ॥१४५॥

गुरु की इति। गुरुः=ब्रह्म, अविद्यायां मिलित्वा जीवो भवति। अज्ञानवशात् डरे=कालाद्भयं करोति। काया छीजनीति। शरीरं नाशवत् स्योदेवेति। यः कुमतिर्भूत्वा मनसा

---

१. =पूर्ण पद की प्राप्ति।

२. अव+घट्ट=औंधा घड़ा।

३. मुण्डकोप०, १, २, १२।

४. तुलनीय—भ० गी०, १२, १४-१७।

काममिच्छति, वाकी=आद्यन्तमध्ये एकरस आत्मा यस्मिन्सर्वे विलग्नाः, लगार=अज्ञानवृत्तिषु स्वयमेको व्यापी यं विनान्यः कः सर्वज्ञः सर्वप्रेरक आत्मेति भावः ॥१४५॥

ब्रह्म (ही) अविद्या में मिलकर जीव बनता है और वह अज्ञान-वश होकर काल से डरता है। शरीर नाशवान् है, किन्तु सब उसी के पीछे लगे हैं। वह आत्मा नहीं है। आत्मा तो आदि से अन्त तक एकरस है। वह सब कहीं व्याप्त है। उसे छोड़ कर सर्वज्ञ कोई नहीं है। वही सब का प्रेरक है॥ १४५ ॥

तामस केरे तीन गुण भँवर लेहि तहँ वास ।
एकहि डारे तीन फल भाटा ऊख कपास ॥१४६॥

तामसेति। तामस=मायाविद्ययोः, गुणास्त्रयः=सत्त्वरजस्तमांसि। त्रिगुणमयः सर्वमतवादः स्यात्। तत्र भ्रमराः=शास्त्रार्थवादिनः सर्वे परोक्षवादमयं गन्धं गृह्णन्ति। एकहि=एकप्रणवशाखायां प्रकृतौ वा, अकारोकारमकार इति विश्वतैजसप्राज्ञ[1] इति फलत्रयम्। यद्वा, भटा=वृन्ताकं तमोगुणः, सत्त्वगुण इक्षुरसः, रजोगुणः कार्पास इति भावः ॥१४६॥

माया और अविद्या के तीन गुण हैं— सत्त्व, रज और तम। सारा मतवाद इसी त्रिगुण पर आश्रित हैं। भौंरे शास्त्रार्थ करते रहते हैं और परोक्षवाद में गन्ध ग्रहण करते हैं। केवल प्रणव शाखा या प्रकृति में अकार, उकार और मकार—ये तीन फल हैं; बैंगन (तमोगुण), इक्षु-रस (सतोगण) और कपास (रजोगुण) यही विश्व, तैजस और प्राज्ञ है॥ १४६ ॥

मानुष के अथाइया मति कोइ पैठे धाय ।
एक हि खेत चरत है बाघ गदहरा गाय ॥१४७॥

मानुषेति। भोः मुमुक्षो, पञ्चशास्त्रवादिनामनात्मवादिनाम्,[2] अथाइया=समूहे क्वचिन्मा तिष्ठ, पुनस्तत्र तेषां मते चित्तं मा दीयताम्। कुतः ? मुमुक्षोरुपनिषत्स्वात्मतत्त्वं वेदान्तशास्त्रमुपग्रहीतुमधिकारः। भोः, येऽनात्मवादिनः, [ते] अभिमानद्वारा कर्तृत्वभोक्तृत्वज्ञातृत्वजडत्वविभुत्वदुःखित्वसुखित्वाद्यात्मनि मन्यन्ते इति। गदो=महदज्ञानम्; तेनैव रोगेण हतो विचारो येषाम्; बाघ=अनात्मदेहाभिमानः, गाय=पुनः सर्वे मिलित्वाऽन्योऽन्यमनात्मविषयवार्ता गायन्तीत्यर्थः ॥१४७॥

हे मुमुक्षु, शास्त्रवादियों और अनात्मवादियों के समुदाय में न तो जाओ और न उनकी बातें सुनो। वे अपने अभिमान के कारण कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व, जडत्व, विभुत्व, सुखित्व, दुःखित्व आदि सब धर्म आत्मा में ही मानते हैं। वे अज्ञान के रोग से ग्रस्त हैं; वे सभी मिलकर अनात्मविषय की वार्ता का ही गायन करते रहते हैं॥१४७॥

---

१. स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर के व्यष्टि अभिमानी जीव की संज्ञाएँ, क्रमशः।

२. शास्त्र ६ कहे जाते हैं; यहां पञ्च से कदाचित् 'पञ्चतत्त्व' या 'पंचप्राण' अभीष्ट हैं।

मन गयन्द माने नहीं चले सुरति के साथ ।
महावत बिचारा क्या करे जो अंकुश नहिं हाथ ॥१४८॥

मन गयन्देति। मनोमातङ्गो बृहच्चञ्चलरूपो न मन्यते। चञ्चलतां न त्यजति। श्रुतिसङ्गे न चलति। महावत=महान् भूत्वायं नरः आत्मैवाहमिति ज्ञानाङ्कुशं विना किं करोति? अङ्कुशं विना हस्ती यथा। मनो मातङ्गरूपेण ज्ञानाङ्कुशमेव[1]चेति भावः ॥१४८॥

मन एक चञ्चल हाथी है। वह अपनी चञ्चलता नहीं छोड़ता और न वह वेद के उपदेश के अनुसार हो चलता है। 'मैं आत्मा ही हूँ' यह विचाररूपी अंकुश पास न होने पर बिचारा महावत भी कुछ नहीं कर सकता ॥१४८॥

मन मसनन्द गयन्द है मनसा भो संचार ।
जंत्र तंत्र माने नहीं उड़ि उड़ि लागे खान (र) ॥१४९॥

मनेति। मनः संकल्पविकल्पात्मकम्। मसनन्द=अहंयुक्तः। गैयर[2]=बुद्धिहन्ता, मनसा चित्तं सञ्चरति। जंत्रेति। पुनः, जंत्र=श्रुतिवाक्यम्, मन्त्र=गुरुवाक्यम्, न मन्यते। पुनः पुनरुड्डीयेन्द्रियद्वारा शब्दादिपञ्चविषयान् खादति, यथा पक्षी सर्वत्र। तस्मान्मनोनिरोध एव परमोपाय इति भावः ॥१४९॥

मन हाथी के समान है। वह बुद्धि को नष्ट कर देता है। उसके साथ ही चित्त भी स्थिर नहीं रहता ऐसी स्थिति में वेद और गुरु के वाक्य भी प्रभाव-हीन हो जाते हैं। मन बार-बार विहंग की भाँति उड़कर शब्दादि विषयों की ओर दौड़ता है। अतः मनोनिरोध ही सर्वोत्कृष्ट उपाय है ॥१४९॥

ई माया है चूहड़ी और चुहड़े की जोय ।
बाप पूत अरुझावे[3] संग न काहुक होय ॥१५०॥

ई मायेति। भोः इयं माया चाण्डालीवदास्ते। दानपुण्यभोगं विना यो मां (मा); यथा दानपुण्यादिकं करोति, सा माया शुद्धा माया प्रकाशरूपा। योऽधर्मेण संग्रहं करोति, दानादिकं न करोति, स एव चाण्डाल, तस्य भवति माया चाण्डाली। भोः, तस्या निमित्तं पितृपुत्रयोः, गुरु-शिष्ययोः, पति पत्न्योर्युद्धं, राजसु युद्धम्। भूम्यर्थे कौरवपाण्डवा अन्योन्यं युयुधुः। बहुषु विरोधं कृतवती सा कस्यापि सङ्गे न गच्छतीत्यभिप्रायः ॥१५०॥

माया चुड़ैल है। दान-पुण्य आदि करनेवाले व्यक्ति की माया शुद्ध (प्रकाश रूप) होती है। यह न करनेवाला चाण्डाल है और उसकी माया चाण्डाली है। जो अधर्म से संग्रह करता है और दान-पुण्य नहीं करता, वह चाण्डाल है। इसी माया के कारण पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य और पति-पत्नी में वैर हो जाता है। इसी के

---

१. =ज्ञानाङ्कुशमेवावश्यकम् ।
२. पोथी में 'गयन्द' लिखा है, जबकि व्याख्या में 'गेयर' है। गैयर=हाथी ।
३. पा०—'अरुझावई', जो छन्द में उपयुक्त भी होता है।

कारण कौरव और पाण्डव लड़े थे। माया सब का विरोध करती है पर किसी के साथ नहीं जाती ॥१५०॥

कनक कामिनी देखि के तू मत भूल सुरंग।
मिलन बिछुरन दुहेलरा केंचुलि तजे भुजंग ॥१५१॥

कनकेति। भोः मुमुक्षो, कनककामिनीं दृष्ट्वा मा विमुग्धो भव। त्वं सुष्ठु=शोभनं, रंग=आत्मनिरंजनं कुरु। मिलन बिछुरनेति। संयोगवियोगौ देहस्य धर्मौ। तौ सत्यौ मत्वा पुत्रकलत्रादिषु ममतां करोषि। अन्ते सर्वं त्यक्त्वा गच्छसि। दृष्टान्तो यथा भुजगः कंचुकम्, तद्वत् इति भावः ॥१५१॥

हे मुमुक्षु कनक ओर कामिनी को देखकर मोहित मत हो। तू यह सब छोड़-कर केवल आत्म-रंजन कर। मिलना और बिछुड़ना तो देह-धर्म है। उसे सत्य मानकर पुत्र और कलत्र आदि में ममता मत कर। अन्त में यह सब छूट ही जाता है जैसे साँप की काँचली ॥१५१॥

माया के बस परे[1] ब्रह्मा, विष्णु, महेश ।
नारद शारद सनक सनन्दन गौरी और गणेश ॥१५२॥

माया के इति। ब्रह्मादयोऽपि मायया वशीकृताः, तत इतराणां का कथेत्याशयेनैतदाह। ब्रह्मा सरस्वतीं दृष्ट्वा मुमोह। विष्णुः ब्रह्मपुत्रं शशाप। महेशो मोहनिरूपेण मुमोह। नारदोऽम्बरीषकन्यायाः शारदायाः गायने, सनकादयो जयविजयौ शेपुः। गौरी चित्रकेतुं च, गणेशः सरस्वत्यंभिमोऽनयद्वा (?)। चित्प्रकृतिसंयोगान्मायायां शुद्धचैतन्यबिम्बं पतति, ईश्वरनामेति। अविद्यायां चिद्बिम्बो जीवनामेति। प्रकृतेर्गुणास्त्रयः। गुणत्रयाभिमानिनस्त्रयो देवा आसन्, ब्रह्म-विष्णुमहेशाः। अन्यच्च, नारदशारदासनकसनन्दनगौरीगणेशादीन्यन्यानि बहून्येकस्माच्चैतन्याच्च-तुरशीतिलक्षाणि नामरूपाणि जायन्ते इति भावः ॥१५२॥

ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी माया के वशीभूत हो गए तब दूसरों का क्या कहना ? नारद, शारदा, सनक, सनन्दन, गौरी और गणेश भी उसके वश में हो गए थे। चित् और प्रकृति के संयोग से माया में शुद्ध चैतन्य का जो बिम्ब पड़ता है उसे ईश्वर कहते हैं। अविद्या में वही बिम्ब जीव कहलाता है। प्रकृति के तीन गुण हैं—सत्त्व, रजस् और तम। उन्हीं का अभिमान करनेवाले त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु और शिव) हैं। अन्य सभी केवल एक चैतन्य ही उत्पन्न हुए हैं, जिनके पृथक्-पृथक् नाम और रूप हैं ॥१५२॥

तन संशय मन सुनहा काल अहेरी नीत।
एक हि डांग बसेउबा कुशल पूछहु काहू मीत[2] ॥१५३॥

---

१. छन्द ठीक करने के लिए प०—'बस सब परे'।

२. छन्द के मान से यहाँ अक्षर अधिक हैं।

तन संशयेति। तनुः=शरीरं संशयरूपम्। मनः शुनहा=श्वान इव चेष्टते। शरीरं प्रतिदिनं याति। काल आयुर्हरति। डाँग=एकाविद्यायां सर्वे वसन्ति जीवाः। मित्र=प्रिय, केषां कुशलं पृच्छसीति भावः ॥१५३॥

शरीर संशय रूप हैं और मन की प्रवृत्ति कुत्ते जैसी है। शरीर प्रतिदिन नष्ट होता रहता है और काल आयुष्य का हरण करता है। अविद्या में सभी जीव रहते हैं; फिर किसकी कुशल पूछी जाय ? ॥१५३॥

साहु चोर चीन्हे नहीं अन्धा मति के हीन ।
पारख बिना बिना सहे करि विचार हो भिन्न ॥१५४॥

साहु इति। साहुचौरयोः किं न जानासि ? साहुः=चिदात्माहम्; चौरः=देहोऽहमिदमेव निर्णयज्ञानं विना, अन्धा=बुद्धिहीनः, आत्मैवाहमिति पारखं बिना विनाशो भवति। अतो विचारं कुरु। एभ्यो भिन्नोऽहमिति जानीहीति भावः ॥१५४॥

'मैं चिदात्मा हूं' यह विचार स्तुत्य है, और 'मैं देह हूं' यह विचार गर्हित है। इन दोनों के अन्तर का निर्णय किए बिना मनुष्य अन्धा और बुद्धि-हीन है। उसका विनाश निश्चित है। यह सोचने योग्य है ॥१५४॥

गुरु सिकलीगर करि लेहु मन हि मसकला देइ ।
शब्द बोलना छोलिके चित्त दर्पण करि लेइ ॥१५५॥

गुरु इति। सद्गुरुर्मुमुक्षो मलिनमानसं जीवत्वमुपनिषज्जन्यज्ञानमेव, मसकला[1], तेन मसकलेन पुनः पुनर्मोचयति। शब्द एव छोलना; छोलिके, चित्त दर्पण करि लेइ=आत्मैवाहमित्यभ्यासेन मुकुरवत् चित्तमुज्ज्वलं भवति, यथा सिकलीगर=असिमञ्जकः मसकलेनासिमुज्ज्वलं करोति तथा गुरुर्दयालुरात्मविद्यया मुमुक्षोरन्तः करणमलं मार्ज्जयति। परमानन्दं ददाति मुमुक्षवे इत्यर्थः ॥१५५॥

सिकलीगर को गुरु समझो जो मुमुक्षु के मलिन-मानस को उपनिषज्जन्य ज्ञान का माँजा देकर चमका देता है। शब्दों के फेर में पड़ना छोड़कर (अपने) चित्त को दर्पण बनाइए और उसमें आत्मा का प्रतिबिम्ब देखकर स्वयं को आत्म-स्वरूप समझिए। सिकलीगर के समान गुरु आत्मविद्या का उपदेश देकर अन्तःकरण का मैल धो डालता है और मुमुक्षु को परमात्मा का अनुभव कराता है ॥१५५॥

मूरख को समुझावते ज्ञान गाँठ का जाइ ।
कोयला होय न ऊजरो नव मन साबुन लार ॥१५६॥

मूर्खेति। यदि गुरुर्मूर्खं ज्ञानोपदेशं ददाति=ज्ञापयति ततः स्वस्य ज्ञानं नश्यति। यद्वा, अज्ञानग्रन्थिः, अहंग्रन्थिः, कर्मग्रन्थिः, संशयग्रन्थिः। मूर्खस्य किं गतम् ? किमपि नैव नश्यति। स

१. तुलनीय—'मस्क्' गमने (जाना)।

ज्ञानी न भवति । यथा कोयला=कपटो यस्यान्तरे वर्तते, नवव्याकरणानि[1] शास्त्राणि पठित्वापि हृदयं शुद्धं न भवति ज्ञानं विनेति भावः ॥१५६॥

मूर्ख को ज्ञानोपदेश देना स्वयं का ज्ञान नष्ट करना है। मूर्ख के हृदय में चार प्रकार की गांठे रहती हैं, वे हैं—अज्ञान, अहंकार, कर्म और संशय की ग्रन्थियां। वह ज्ञानी नहीं हो सकता। चाहे जितना साबुन लगाने पर भी कोयला (अपना) रंग नहीं बदल सकता; उसी प्रकार मूर्ख का मन उज्ज्वल नहीं बन सकता। शास्त्र पढ़ने पर भी ज्ञान (अनुभव) के बिना हृदय शुद्ध होना असम्भव ही है ॥१५६॥

गुरु बिचारा क्या करे जो शिष्य हि में है चूक।
शब्दबाण वेधे नहीं बाँस बजावे फूंक ॥१५७॥

गुरु इति। गुरुः शिष्यायोपनिषज्जन्यशब्दबाणेन विध्यति। बाणो= ब्रह्मशरः। स यस्मिन् न भिनत्ति, तर्हि गुरुः किं करोति ? शिष्यस्य दोषः। यथा मुखेन शुष्कवंशं वादयति, पवनो बहिर्निष्क्रमति। स्थिरो न भवति, तद्वदिति भावः ॥१५७॥

यदि शिष्य ही गलती करता है तो बिचारे गुरु का क्या दोष ? शब्दरूपी बाण यदि शिष्य को बींध नहीं सकता, उसका असर नहीं होता (तो गुरु तो निर्दोष ही है)। पोले बाँस में एक ओर से भरी फूंक दूसरी ओर निकल ही जाती है ॥१५७॥

मूढ़ कर्मिया नख शिख पाखर आहि[2]।
वाहनहारा का करे जो बाण न लागे ताहि ॥१५८॥

मूढेति। हे मूढ, अनेककर्म=सन्ध्योपासनादीनि करोषि त्वम्। अहं कर्मीत्यभिमानः ? आनखाग्रशिखापर्यन्तं देहाभिमानो वर्तते। वाहनहारा=सद्गुरुर्वक्ति-'तत्त्वमसीति'। ब्रह्मैवाहमित्यस्मिन् लक्ष्ये यस्य मनो नैव तिष्ठति तस्य को दोषः; नैवेति भावः ॥१५८॥

मूर्ख मनुष्य सन्ध्योपासना आदि कर्मों के कारण कर्म-मार्ग में प्रवृत्त होता है। उसकी सारी देह में अभिमान व्याप्त रहता है। सद्गुरु द्वारा 'तू ब्रह्म ही हैं' इस उपदेश के देने पर भी उसका मन इसमें स्थिर नहीं होता, तो गुरु का कोई दोष नहीं। ॥१५८॥

सेमर का सुगना[3] छिहुले बैठा जाय।
चंचु सँवारे सिर धुनै वोए उसी का भाय ॥१५९॥

सेमर इति। शाल्मलीव शरीरत्रयम्। तस्मिन् सुगना=शुकश्चिदाभासः पतितः। शरीरत्रयाभिमानी भवति; पुत्रकलत्रादीन् सेवमानः सत्यं मत्वा, चंचु=चित्तं, संसारे दीयते।

---

१. कदाचित् यहाँ 'न्यायव्याकरण' अभीष्ट है।

२. मूढ़ कर्मि माने नहीं नख-शिख पाखंड आदि (सं० बी० ब०)।

३. पा०- केश सूगना।

अहं कर्ताहं ज्ञातेति मन्यते। पुनरन्ते पश्चात्तापं करोति। किम्? पुत्रकलात्रादयः सुखाय न भवन्ति। ततः शिरो धुनुते। परमानन्दमज्ञात्वा यथा शुकः शाल्मलिं बहुकालं फलेच्छया सेवते, पश्चान्निराशो भवति। किं यदा फले चञ्चुमार्दवतश्चञ्चुश्चूर्णतां गतः? तूलं फलादुद्भवतीत्यभिप्रायः ॥१५९॥

शरीर-त्रय सेमर के फूल के समान है। उसके फूल देखने की अभिलाषा से तोता उसी के पास बैठा ही रहता है; ठीक उसी प्रकार मनुष्य अपना चित्त सदा संसार में देकर पुत्र, कलत्र आदि में मोहित हो जाता है, अन्त में उसे उसी तरह पश्चात्ताप करना पड़ता है, जैसे तोता उस फल में (बार-बार) प्रहार करके अपनी चोंच ही तोड़ डालता है ॥१५९॥

सुगना सेमर सेइया दुई ठेंठि की आस ।
ठेंठी फूटि चनाक दे सुगना चले निरास ॥१६०॥

सुगनेति। शुकः=जीवो देहोऽहमिति (विषयान्) सेवते। दुई ठेंठि = प्रवृत्तिः निवृत्तिश्च, यद्वा स्थूलसूक्ष्मशरीरे विनाशमाने । ठेंठी फूटीति। अन्ते देहो विनश्यति। शुको=देहाभिमानी जीवो निराशो भूत्वा गच्छति। शाल्मलिसेवी शुको यथा निराशो भवति, यद्वा देहभावं त्यक्त्वा ब्रह्मैवाहमिति विचारे निराशो भवेद् बुद्धिमानित्यर्थः ॥१६०॥

प्रवृत्ति और निवृत्ति मय अथवा विनाशशील स्थूल और सूक्ष्म शरीर की आशा में शुक रूपी मनुष्य सेमर-वृक्ष रूपी संसार में मग्न रहता है। शुक की भाँति देहाभिमानी जीव नष्ट हो ही जाता है ॥१६०॥

सुगना सेमर बेगि तजि धने विगूची पाँख ।
ऐसा सेमर सेइया जाके हृदय न आँख ॥१६१॥

सुगनेति। भोः शुक=जीव, वर्णाश्रमाभिमानं, शीघ्रं त्यज। ईदृशं देहाभिमानमज्ञानी सेवते। तस्य हृदये विज्ञानचक्षुर्न। अतः सावधानो भवेति भावः ॥१६१॥

अत एव हे शुकरूपी जीव, देह, वर्ण और आश्रम का अभिमान दूर कर के तू हृदय में अपने ज्ञान-नेत्र खोल। इस प्रकार के देहाभिमान के पीछे अज्ञानी हो पड़ता है। सावधान हो जा ॥१६१॥

चक्की चलती हौं देखा मेरे नयन आया रोय ।
दो पाटन के अन्तरे सालिम बचा न कोय ॥१६२॥

चक्कीति। भोः, संसारचक्रे कालवेगेन स्वस्वकर्म मार्गे सर्वे गच्छन्ति। दो पाटन=मायाऽविद्यान्तरे वर्तमाना जीवा अन्धेन नीयमाना यथान्धा गर्ते पतन्ति। सालिम इति। कालचक्रात्कश्चिन्न मुक्तः। अतो वैराग्यद्वाराऽभिमानं त्यज। आत्मैवाहमित्यभ्यासं कुर्वित्यर्थः ॥१६२॥

यह संसार-चक्र चलता देखकर मेरी आँखों में आँसू आ जाते हैं। माया और अविद्या इन दो पाटों के बीच जीव पिसे जा रहे हैं। काल-चक्र से कोई भी छूट नहीं सकता। अन्धे को ले जानावाला अन्धा भी उसके साथ गर्त में गिरता ही है।

अतः वैराग्य का आश्रय लेकर 'मैं आत्मा ही हूँ', यह अभ्यास कीजिए ॥१६२॥

लोग भरोसे कवन के बैठ रहे अरगाय ।
जियरहिं लूटत जम फिरे मेढ़हि लुटै कसाय ॥१६३॥

लोगेति । भोः, सर्वे जनाः शृण्वन्तु । कस्याश्रयं कृत्वा स्थाणुरिव तिष्ठथ । पुत्रकलत्रादयः सत्यं नैव । यथा प्रपायामेकीभूत्वा, यम=कालस्वत्सहितान् सर्वान् लुटचति=भक्षयति । यथा पशुघ्नो बस्तमेषादीन्[1] मारयति, यद्वा, यम = रागद्वेषौ ज्ञानधनं मुष्णत इति भावः ॥१६३॥

लोग किसके भरोसे चुपचाप बैठे हैं। पुत्र, कलत्र आदि का जमघट तो वैसा ही है जैसे प्याऊ पर सभी एकत्र होते हैं। काल तुम्हारे साथ ही सब का भक्षण करता ही है, जैसे कसाई बकरी-भेड़ों का अन्त कर डालता है। राग-द्वेष ज्ञान-धन का अन्त कर डालता है ॥१६३॥

जानि बूझि जड़ होय रहो बल तजि निर्बल होय ।
कहहिं कबिर तेहि सन्त के पला न पकरे कोय ॥१६४॥

जानि इति । सर्वशास्त्रं पठित्वा, ज्ञात्वा, मुहुर्मुहुर्विचार्य, पश्चाज्जडवत् भवति=तिष्ठति स्वात्मविचारे देहाभिमानं बलं त्यक्त्वा निर्बलो भवेति भावः । कहेति । कबीरः=ब्रह्मरूपः साधुः को निषेधं करोति ? न कोऽपीत्यर्थः[2] ॥१६४॥

सभी शास्त्रों का मनन करने पर भी, जान बूझ कर चुप रहना ही श्रेयस्कर है। जिसने स्वात्म-विचार करके देहाभिमान का बल छोड़ दिया, उसका पल्ला कोई नहीं पकड़ सकता ॥१६४॥

हीरा सोइ सराहिये सहे जो घन का चोट ।
कपट कुरंगी मानवा परखत निकला खोट ॥१६५॥

हीरेति । सद्गुरोः समीपं वहव आगच्छन्ति । स परीक्षां करोति । परीक्षणे कपटी वा निर्मलो वेति ज्ञायते । अयमात्मविद्याया ग्राहकोऽयं नेति । दृष्टान्तमाह हीरा इति । हीरापरि लोहघनस्य, चोट = उपरि आघातं ददाति । घनासक्तः स श्रेष्ठः । स्फुटितस्स एव कुत्सितः । 'खोटा' इत्यर्थः ॥१६५॥

सद्गुरु के समीप अनेक व्यक्ति जाते ही हैं। तब वह अपने परीक्षण से निश्चित करता है कि कौन योग्य है और कौन अयोग्य। घन की चोट से न फूटे वही सच्चा हीरा है ॥१६५॥

हाड़ जरत जैसे लाकरी केस जरे जैसे घास ।
कबिरा जरे रामरस कोठी जरे कपास ॥१६६॥

---

१. बस्त=बकरा (सं०)।

२. तुलनीय—भ० गी०, ३, १७।

हाड़ेति । भोः अस्थीन्यग्नाविन्धनं यथा, जरेति=दहति । तद्वच्च केशा जरन्ति शुष्कतृणवत् कबीराः=ज्ञानिनो रामरसमत्ताः विचाराग्नावन्तःकरणवासनां दहन्ति, मृण्मयकोष्ठयां कार्पासो यथा । भगवद्गीतासूक्तम्—'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः[1]' इत्यर्थः ॥१६६॥

हड्डियां लकड़ी जैसी जल जाती हैं और केश कपास के समान आग पकड़ लेते हैं। कोठी के भीतर रखा कपास भी जलता ही है। उसी प्रकार सन्त लोग अन्तः-करण की वासना को भस्म कर डालते हैं। गीता में भी कहा ही है कि विद्वान् वही है जो ज्ञानाग्नि से अपने सभी कर्मों को भस्म कर देता है ॥१६६॥

पाँवहिं पहुनी नापते दरिया करते फाल ।
हाथन्हि पर्वत तोलते तेहि धरि खायो काल ॥१६७॥

पाँवन्हि इति वैराग्यं ज्ञापयति । पृथ्वादिभिः राजभिः पृथिव्याभिमानः कृतः । तत्र पृथुना समीकृता; सगरात्मजैः सागराः कृताः; हिरण्याक्षादिभिः समुद्रास्फालनं कृतम् । स्वहस्तैः कैलासा-दिपर्वतोन्मानं कृतं रावणादिभिः । ते सर्वे कालेन भक्षिताः कथामात्रावशेषिता इति भावः ॥१६७॥

सारी पृथ्वी अपने वश में करने वाले पृथु सरीखे राजा, सागरों का निर्माण करने वाले सगरात्मज और कैलास को अपने हाथों पर तौलने वाला रावण ये सभी काल के ग्रास बन ही गए ॥१६७॥

सन[2] कागद छूवो नहीं कलम धरो नहिं हाथ ।
चारिहुँ युग के महातम मुखहिं जनाई बात ॥१६८॥

सनेति । ये पण्डिताः शास्त्रज्ञाः सर्वंशास्त्रं वेदं च पठित्वा चतुर्युगधर्म-नीतिवर्णाश्रम-मार्गं राजधर्म्मादि सर्वं पुराणेषु गायन्ति, यः कश्चिदनुभवानन्दी स्वहस्तेन पत्रं न, लेखनीं न, कस्यापि पुस्तकं गृह्णाति, चातुर्युगमाहात्म्यं धममार्गमनायासेन वाणीद्वारा वर्णयति, वर्णने विरोधो नैव, यथार्थं पठति । विद्याया अन्तोऽनुभवस्य (च) अन्तो नेति भाव.[3] ॥१६८॥

जिन्होंने स्याही, कागज और कलम का स्पर्श भी नहीं किया था ऐसे (उन) अनुभवी व्यक्तियों ने चारों युगों के धर्म, नीति, वर्णाश्रम आदि का वर्णन पुराण आदि ग्रन्थों में अपनी वाणी द्वारा कर दिया था। विद्या का अन्त है किन्तु अनुभव का नहीं ॥१६८॥

आपनि आपनि शीर की सभनि[4] लीनो मान ।
हरि की बात दुरन्तरे परी न काहू जान ॥१६९॥

---

१. भ० गी०, ४, १९ ।

२. पा०—मसि ।

३. इस साखी से जो निष्कर्ष निकाला है कि कबीर पढ़े लिखे नहीं थे, सिद्ध नहीं होता। व्याख्याकार की व्यांख्या देखिए ।

४. प०—सबहिन ।

आपनि इति । लोके सर्वे जनाः स्वस्ववर्णाश्रमाभिमानं मन्यन्ते । अहं हरिरिति वार्त्तां दूरं वैकुण्ठदिषु ध्यायन्ति । हरिं न कश्चिज्जानातीत्यर्थः ॥१६९॥

वर्णाश्रम के सम्बन्ध में अपने-अपने विचार सबने कहे हैं किन्तु हरि के विषय में (निश्चित रूप से) कोई नहीं जानता। वे सभी (अग्रज) हरि का निवास वैकुण्ठ में मानकर उनका ध्यान करते हैं, किन्तु मैं स्वयं हरि हूं यह भूल ही जाते हैं ॥१६९॥

घाट भुलाना वाट बिनु वेष भुलानी कानि ।
जाकी मांडी जगत महँ सो न परा पहिचानि ॥१७०॥

घाटेति । वाट=आत्मनि विचारं विना, घाट=देहोऽहमित्यभिमानेन गच्छन्ति सर्वे जनाः । वेषधारिणः सर्वे षट् दर्शनाः स्वस्ववेषपाषं(खं)डे सम्प्रदायपान्थमते महिताः । आब्रह्मस्तम्भपर्यन्तं जगन्मध्येऽनुस्यूतमेकं ब्रह्म सोऽहमिति यैर्न ज्ञायते इत्यर्थः ॥१७०॥

आत्म-विचार न करके स्वयं को देह मानने के भुलावे में सभी पड़े हैं। षट्-दर्शनों में रत सभी जन अपने अपने वेष धारण करके पाखण्ड और सम्प्रदाय-मतों में मोहित हैं. वे समस्त जगत् में व्याप्त 'सोऽहं' रूपी ब्रह्म को नहीं जानते ॥१७०॥

मूरख सों का कहिये शठ सों कहा बसाय ।
पाहन में का मारना चोखे तीर नसाय ॥१७१॥

मूर्खेति । मूर्खं देहाभिमानिनं प्रति गुरुः किं ब्रवीति ? नैव । शठः=धूर्तो महान्; स कदाचिन्नैव मन्यते । यथा धनुर्धरः पाषाणे बाणं सन्धत्ते चेत्, बाणो भग्नो भवति । अतः पाषाण-वद्हृदये पुरुषे ज्ञानशरो न विद्ध्यतीति भावः ॥१७१॥

देहाभिमानी मूर्ख ही है; गुरु उसे क्या कहें। वह धूर्त है। कहा हुआ नहीं मानता; उसे (कुछ भी) कहना ही व्यर्थ ही है। जैसे पत्थर पर धनुर्धर के द्वारा छोड़ा हुआ तीर। पाषाण के समान (कठोर) जिसका हृदय है उसे ज्ञान-शर वेध नहीं कर सकता ॥१७१॥

जैसी गोली गुमज की नीच परे ठहराय ।
ऐसा हृदया मूर्ख का शब्द नहीं ठहराय ॥१७२॥

जैसीति । गुम्भज=उच्चस्थानोपरि लोहस्य गोलाकारं सूक्ष्ममखण्डमारोपितम्, तन्न तिष्ठति, तद्वन्मूर्खस्य हृदयम् । तस्मिन्न शब्दज्ञानं तिष्ठतीत्यर्थः ॥१७२॥

जिस प्रकार किसी ऊँचे स्थल पर लोहे का गोला नहीं ठहर सकता, उसी भाँति मूर्ख के हृदय में शब्द (उपनिषद्) का ज्ञान घर नहीं कर सकता ॥१७२॥

ऊपर की दोऊ[1] गई हिय की गई हिराय ।
कहहिं कबिर जाके चारों गईं तासो कहा वसाय ॥१७३॥

---

१. दीर्घ मात्रा का चिह्न इस अक्षर के ऊपर रेफ की तरह अंकित किया है।

ऊपरेति । उपरि=व्यवहारमार्गे नेत्रे उभे नष्टेति । हृदये विज्ञानमपि नष्टं यस्य स अन्ध एव । जाके इति । कबीरः=ज्ञानीत्थं ब्रवीति, यस्य चत्वार्यपि नेत्राणि स्फुटितानि-श्रुतिस्मृती, उभे नेत्रे[1]-गुरूपदेशो बुद्धिश्चेति, तस्यात्मज्ञानं कुतः स्यात् ? नैवेत्यर्थः ॥१७३॥

मूर्ख का ज्ञान उसी व्यक्ति के समान है जिसकी दोनों आँखें चली गई हों और हृदय का ज्ञान भी नष्ट हो गया हो । कबीर कहते हैं कि जिसकी बुद्धि ही नष्ट हो गई उसे वेद, स्मृति और गुरु के उपदेश से आत्मज्ञान कैसे हो सकता है ? ॥१७३॥

मैं रोवों एहि जगत को मोको रोवे न कोय ।
मोको रोवे सो जना जो शब्द-विवेकी होय ॥१७४॥

मैं रोवों इति । ज्ञात्रादिजगत्साक्षी अहम्, 'रु'=शब्दे , प्रेरकोऽहमेकः । मोको=मां ज्ञातारं जगन्न जानाति । कुतः ? जडत्वात् । मां=चैतन्यं यो जानाति स एव विवेकी । उपनिषद्वेत्ता=धीरो भवति ॥१७४॥

मैं जगत् का प्रेरक हूं पर मुझे कोई नहीं जानता। मुझे जो चैतन्य-रूप जानता है, वही सच्चा जानकार है। वही उपनिषदों का वेत्ता है ॥१७४॥

साहेब साहेब सब कहें मोहिं अँदेशा और ।
साहेब से परचा नहीं बैठहुगे केहि ठौर ॥१७५॥

साहेब इति । ये सर्वे शास्त्रज्ञा इतरे वा, साहेब=श्रेष्ठं नारायणं, रामं, कृष्णं, परोक्षं दूरे गायन्ति अन्यत्र वैकुण्ठादिषु । अँदेशा=आश्चर्यम्, । साहेब इति । अहं हरिरिदं सर्वमिति परिचयं विना कस्मिन् स्थाने तिष्ठति ? स्थिरो भवतीत्यर्थः ॥१७५॥

कोई तो नारायण को अपना स्वामी कहता है और कोई राम और कृष्ण को। किन्तु वे (भक्त) इन्हें परोक्ष ही समझ कर उनका गुण-गान करते हैं। यह आश्चर्य ही है। मैं स्वयं हो हरि हूँ, इस परिचय के बिना उनका कोई ठौर नहीं है। ॥१७५॥

केतिक दिन ए ही गए अनरूचे का नेह ।
ऊसर बोये नहिं जमे जो घन बरसे मेह ॥१७६॥

केतिक इति । भोः, ये सर्वे शालिग्रामार्च्चनं साधुब्राह्मणसेवादानपुण्यव्रतयोगयज्ञ-सन्ध्यादिकं सर्वं रुचिं विना, स्वविचारं स्नेहं [च] विना कुर्वन्ति, बहवो दिवसा व्यतीताः ज्ञानं विना व्यर्थं गताः। यथोसरभूमौ बीजम्, उत्पन्न - उत्पद्यते नैव । घनाः बहु वर्षन्ति तथापि नाङ्कुरोत्पत्तिरिति भावः ॥१७६॥

रुचि, सद्विचार और सच्चे स्नेह के बिना अर्चन, साधु और ब्राह्मणों की सेवा, दान-पुण्य, व्रत-योग, यज्ञ-याग और सन्ध्या आदि करने वाले अनेक व्यक्ति

१. दे०—श्रुतिस्मृती तु विप्राणां नयने द्वे प्रकीर्तिते (अत्रि-स्मृति, ३, ४५)।

हो गए, किन्तु ज्ञान के बिना (ना समझ से) यह सब व्यर्थ ही गया। यह ऊसर-भूमि में बीज बोने के समान है। वर्षा होने पर भी उस बीज में अंकुर उत्पन्न नहीं होता ।।१७६।।

हरि हीरा जन जोहरी सबनि पसारी हाट ।
जब आए जन पारखी तब हीरा की साट ।।१७७।।

हरि इति। वाचकज्ञाने दक्षा बहवः। सर्वशास्त्रज्ञैः, हाट=अनेकधर्मकर्मरुचिपूर्वकं व्यवहारमार्गो विस्तारितः। पुनः सभामध्येऽहं ब्रह्मज्ञानीति वदति। स्वान्तरे विचारो नैव। स तु किं ज्ञानी भवति? नैव। अहं हरिः=प्रकाशरूपोऽहमिति यो वेत्ति स एव परीक्षकः, यथा शुकाचार्यो भगवान्, दत्तात्रेयादयश्च सर्वे, पारखीजनाः=ब्रह्मवेत्तारः। ततो हीरावदात्मज्ञानं मुमुक्षवे ददतीत्यर्थः ।।१७७।।

शास्त्रकारों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अनेक प्रकार के धर्म-कर्म आदि बतला कर व्यवहार-मार्ग का विस्तार किया है। उसके वाचक भी सभाओं में स्वयं को ब्रह्मज्ञानी बतलाते ही हैं। किन्तु उनके भीतर आत्म-विचार का अभाव ही है। शुकाचार्य और दत्तात्रेय आदि की भाँति जो स्वयं को प्रकाशमान हीरा जानने की अनुभूति रखते हैं, वे ही सच्चे पारखी हैं। उस प्रकार के साधु ही हीरे के समान आत्मज्ञान का उपदेश दे सकते हैं। ।।१७७।।

नहिं हीरा की बोरियां नहिं हंसन की पाँति ।
सिंघहु के लेहड़ा नहीं साधु न चले जमात ।।१७८।।

हीरेति। हीरा=वज्रक-नामकरत्नम्। तत्समूहः किं वृषभोष्ट्राश्वतरीष्वुपरि वाह्यते? नैव। मानससरसि हंसानां पंक्तिः=समूहः कुत्र दृश्यते? नैव। वने सिंहसमूहो मार्गे चलति? नैव। सिंह एक एव तिष्ठति गच्छति वा। न द्वितीयः। एतत् सर्वं दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिकेन द्रढयति। साधुः=आत्मारामो ज्ञानी उष्ट्राश्वगजसेनयानकगोमुखसमाजैः सह बहुवेषपाषण(ख)ड-मध्ये न चलति। यश्चलति स साधुर्नैव। अत्र प्रमाणमात्मरहस्ये 'शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे। साधवो न हि सर्वत्र चन्दनं न वने वने'[1] ।। इति प्रामाण्यात् सत्यम् ।।१७८।।

हीरे थैलों में नहीं रखे जाते, और हंसों की भी पंक्तियाँ नहीं होतीं। सिंह भी अकेला ही रहता है। सच्चे साधु एकाकी ही विचरते हैं; उनकी जमात नहीं होती। आत्माराम साधु के साथ हाथी, घोड़े, ऊँट, बाजे-गाजे आदि नहीं होते। कहा भी है कि माणिक, मोती, साधु और चन्दन के वन सब कहीं नहीं (विरले ही) होते हैं ।।१७८।।

---

१. चाणक्य-नीति, २, ९।

नव मन दुग्ध बटोरिके टिपके भया विनास।
दूध फाटि काँजो भया भया घृतहु को नास ॥१७९॥

नव मनेति। नव मन=नवतत्त्ववासना मयोऽयं देहो,[1] दुग्धवत् बटोरि, बीजवत्=यत्र बीजे स्थूलो वसति। टिपके इति। आत्मैवाहमिति विचारे सा वासना विनश्यति, तदनन्तरं मलिनान्तःकरणचित्तं दुग्धं विनश्यति=भग्नं भवति। काँजी=विचारैकरूपो भवति। घृतहु=अन्तःकामनाऽविद्या विनश्यति, यथा पयसि विदीर्णे काँजी। ततो घृतं विनश्यतीति भावः। यद्वा, अज्ञस्याविद्यया दुग्धं=ज्ञानामृतं, घृतं=शान्तिर्विनश्यति ॥१७९॥

नव-तत्त्व-मय वासना का यह स्थूल शरीर दूध के समान है। इसमें आत्म-विचार का एक बिन्दु गिरने पर वासना नष्ट हो जाती है तब मलिन अन्तःकरण रूपी दूध फट जाता है और असद्विचार रूपी काँजी उत्पन्न होने पर (विद्यारूपी) घी नष्ट हो जाता है ॥१७९॥

जिव बिनु जीव जिवे नहीं जिव को जीव अधार।
जीव दया के पालिये पण्डित करहु विचार ॥१८०

जिव बिनु इति। जीवं विना जीवो न जीवति[2]। जीवस्याधारो जीवः। मनुष्याणां श्वासरहितमन्नादि प्रोक्तम्। पशूनां तृणं, तपस्विनां कन्दमूलादि, शिशूनां दुग्धं, पक्षिणां फल-कीटादि, सिंहस्य पशुभक्षणं, क्रव्यादानां क्रव्यमामिषं, देवानां हविः, पितॄणां कव्यम्[3]। आत्मनोऽन्नं मनःप्राणो ज्ञानिनामनुभवः। सर्वेषां भोजनं सकृदेव निर्मितं हरिणा। भोः पण्डित, जीव-दयां कुरु। मत्स्यमेषादीन् किं खादसि? विचारं कुर्विति भावः ॥१८०॥

जीव का आधार जीव है; उसके बिना वह रह नहीं सकता। ईश्वर ने मनुष्य के लिए अन्न उत्पन्न किया है, और उसी प्रकार पशु, तपस्वी, शिशु, पक्षी, मांस-भोजी, देव, पितृ, ज्ञानी आदि के लिए क्रमशः तृण, कन्द-मूल, दूध, फल और कीड़े, पशु, हवि, कव्य और अनुभव आदि पैदा किए हैं। अतः हे पण्डित, जीवों पर दया कर, मछली बकरा आदि मत खा। विचार कर (देख) ॥१८०॥

हौं तो सब ही की[4] कही मो कहँ कोइ न जान।
तब भी अच्छा अब भी अच्छा युग युग होउँ न आन ॥१८१॥

हौं तो इति। सर्वस्याहं साक्षी; ब्रह्मादीनां सर्गं विसर्गमहं कथयामि। बुद्धादिः कश्चिन्मां न जानाति। तब भी=भूतकाले, अक्षयरूपोऽहम्। वर्तमानकाले एकरसोऽहम्। भविष्य-

---

१. पंचतत्त्व (५), सात्त्विक, राजस, तामस मन (३) और अहंकार (१)=९।

२. जीवो जीवस्य जीवनम् (भागवत, १, १३, ४६)।

३. देवान्नं हव्यम्; पित्रन्नं कव्यम् (अमरकोश)।

४. ये दोनों अक्षर लिपिकार ने छोड़ दिए हैं, यद्यपि 'की' के पहले बाण-चिह्न अंकित है। यहाँ पूर्त्ति सं० बी० ब० से की गई है :

त्काले सर्वेषु व्यापी चिदहम्। 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'।[1] युगे युगे भवामि-'धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे'[2] इति गीतोपनिषद्युक्तम्। कश्चिन्मत्तः परं न; 'एकोऽहं बहु स्याम्; बहव एको भवामी'ति श्रुतेः ॥१८१॥

मैं सब का साक्षी हूँ। ब्रह्म आदि के सर्ग-विसर्ग कहता हूँ। मैं भूत काल में अक्षय-स्वरूप, वर्तमान में एक-रस और भविष्यत् में सर्वव्यापी 'चित्' हूँ। मुझ से पर कोई नहीं है। मैं एक से अनेक और फिर अनेक से एक होता हूँ। यही गीता में भगवान् की उक्ति है॥१८१॥

प्रकट कहौं तो मारिया परदा लखे न कोय।
सहना छपा पुवार तर को कह बैरी होय ॥१८२॥

प्रकटेति। कस्मैचिदहं ब्रह्मैवाहमिति साक्षात्कारं वदामि चेत्तर्ह्यज्ञो विषादं करोति कुप्यति च। परदा – अविद्यया स्वविचारो न दृश्यते। सहना=सच्चिदात्मा; पमार=अविद्यान्तरे देहाभिमाने विक्षिप्तो भवति। स्वसच्चिदानन्दं विस्मरति। तं प्रति 'तत्त्वमसीति कथनेन शत्रुः स भवति। तस्मान्न वदामीति भावः ॥१८२॥

'मैं ब्रह्म ही हूँ' यह कहने पर मूर्ख मनुष्य विषण्ण और क्रुद्ध हो जाता है। वह (अपनी) अविद्या के कारण सोच नहीं सकता। वह सच्चिदानन्द को भूल जाता है। उसे 'तत्त्वमसि' का उपदेश देकर शत्रुता क्यों की जाय? अतः (ऐसे प्रसंगों में) चुप रहना ही ठीक है ॥१८२॥

कलि खोटा जग आँधरा शब्द न माने कोय।
जाहि कहौं हित आपना सो उठि बैरी होय। १८३॥

कलीति। भोः, अस्मिन् कलौ जनाः बहवः कुत्सिताः मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्याः। जग आँधरा=विज्ञानचक्षूरहिताः। 'तत्त्वमसि' इति शब्दं कं प्रति वदामि तर्हि न मन्यते कश्चित्। आत्मैवाहमिति हितोपदेशं ब्रवीमि, तर्ह्यज्ञान्युत्थाय शत्रुवदाचरति। अतो मुमुक्षुं प्रति वक्तव्या ब्रह्मविद्येत्यर्थः ॥१८३॥

कलि-काल में जन कुत्सित होते हैं और जग अन्धा है। वह विज्ञान-चक्षु से हीन है। 'तत्त्वमसि' का उपदेश किसी को देने पर वह उसे मानने को तैयार नहीं होता। 'मैं आत्मा ही हूँ' यह हितावह उपदेश देने पर अज्ञानी उठकर शत्रु बन जाता है। अतः ब्रह्मविद्या का उपदेश मुमुक्षु को ही देना चाहिए ॥१८३॥

देश विदेश हम फिरे मन ई भरा सुकाल।
जाके ढूँढत मैं फिरौं ताके परा दुकाल ॥१८५(१८४)॥[3]

---

१. छां० उ०, ६, २, १ आदि।

२. भ० गी०, ४, ८।

३. लेखक ने प्रमाद-वश यहाँ १८४ के बदले १८५ लिखा है। यह जानने का कोई साधन नहीं

देशेति। भोः यत् पृथिव्यां सर्वत्र देशे विदेशेषु च भ्रमामि, अनन्तकोटिशो मनुष्य-समुदायो मया दृष्टः, शास्त्रज्ञा बहवः षड्जादिवेत्तारो[1] वाचनज्ञाने कुशलाः। ईदृशानां सुकाल=सुभिक्षमस्ति। आत्मारामं ज्ञानिनं तरणतारणरूपमेतद्गुणयुक्तमहं मृग्यामि सर्वत्र। तेषां दुकाल=दुर्भिक्षं वर्तते। 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः'[2] इति गीतोपनिषदुक्तम् ॥१८५(१८४)॥

देश और विदेश में भ्रमण करने पर मैंने ऐसे करोड़ों (अनेक) व्यक्ति देखे, जिनमें अनेक शास्त्रज्ञ हैं और वाचन-ज्ञान (व्याख्यान) में भी पटु हैं। किन्तु जिस तरण-तारण, आत्माराम ज्ञानी की खोज में मैं हूँ, वह नहीं मिला। गीता में भी कहा है कि 'सब कुछ वासुदेव ही हैं'—यह जानने वाला व्यक्ति दुर्लभ ही है ॥१८५(१८४)॥

फहम आगे फहम पीछे फहम बायें डेरे।
फहम पर जो फहम करे सोइ फहम है मेरे ॥१८६॥

फहमेति। फहम=आत्मा सर्वत्र राजते— अग्रे, पृष्ठे, वामे, दक्षिणे, आसमन्तादधः, ऊर्ध्वं पिण्डब्रह्माण्डे व्यापकोऽहं स ब्रह्मैवाहमस्मीति मे मतिः। अतः श्रेष्ठोऽहमिति भावः ॥१८६॥

आत्मा सब कहीं विद्यमान है—आगे, पीछे, दाएँ, बाएँ, ऊपर और नीचे। पिण्ड और ब्रह्माण्ड व्यापक मैं ब्रह्म ही हूँ। अतः मैं सर्व-श्रेष्ठ हूँ ॥१८६॥

हद चले ते मानवा वेहद चले ते साधु।
हद बेहद दोनों तजे ताकी मती अगाधु ॥१८७॥

हदेति। हदे=शास्त्रप्रमाणे प्रवृत्तौ मनुजाश्चलन्ति ते श्रेष्ठाः। बेहदे=निवृत्तिमार्गे विधिनिषेधरहिते ये चलन्ति ते साधवः। हदं विहदमुभयं त्यक्त्वा ये, उपशमे = निर्विकल्पक-शान्तिरूपसमाधौ रमन्ति(न्ते) तेषामगाधा मतिः। सैव लोकवन्दनीया भवति। सर्वत्र त एव पूज्या भवन्तीति भावः ॥१८७॥

शास्त्र-प्रमाण के अनुसार, जो मनुष्य प्रवृत्ति-मार्ग पर चलते हैं, वे श्रेष्ठ हैं। निवृत्ति-मार्ग का अनुसरण करने वाले (आत्मानुभूति को महत्त्व देने वाले) साधु हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दोनों मार्गों को छोड़ कर जो निर्विकल्प शान्त समाधि में रममाण हैं, उनकी मति अगाध है। वे संसार में वन्दनीय और पूजनीय हैं॥१८७॥

समुझे की गति एक है जिहि देखी सब ठौर।
कहहिं कबिर ये बीच के कहैं और की और[3] ॥१८८॥

कि एक साखी छोड़ दी है या केवल संख्या बढ़ा दी है। यहाँ लेखक का ही क्रम आगे जारी रखा है।

१. षड्शास्त्रवेत्तारः (?)   २. भ० गी०, ७, १९।

३. पोथी में इन दोनों स्थानों पर 'अवर' लिखा है।

समुझे इति। भोः, निश्चयात्मिका मतिरेकैव, यथा सर्वं दृश्यते 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति'। ब्रह्मैवाहमिति विचारं कुरुते। कहेति। कबीरः=आत्मारामो वदति— भोः, येऽन्तरिता जनास्तेऽन्यदन्यद्भ्रमात्कथयन्ति। अत्र प्रमाणं रामगीतासूपनिषत्सूक्तम्—यदन्यदन्यत्र विभाव्यते भ्रमादध्यासमित्याहुरमुं विपश्चितः। असर्पभूतेऽहिविभावनं यथा रज्ज्वादिके तद्वदपीश्वरे जगत्[1] ॥१८८॥

निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही है जिससे सब कुछ दृष्टिगोचर होता है। अन्तरित जन भ्रम के कारण वस्तु को अवस्तु (अन्य) ही बतलाते हैं। जैसा कि रामगीता में भी कहा है, भ्रम के कारण जो वस्तु अन्य ही दिखाई देती है उसे 'अध्यास' कहते हैं, जैसे असर्पभूत रज्जु में सर्प की भावना। वैसा ही ईश्वर में जगत् है ॥१८८॥

राह बिचारी क्या करे जो पन्थि न चले सुधारि।
अपनी मारग छाँडि के फिरे उजारि उजारि ॥१८९॥

राहेति। राह=मार्गः; पन्थी=ब्रह्मपथमाहर्तुमिच्छुः। स ब्रह्मविद्यामार्गे न चलति चेत्तदा मार्गस्य को दोषः? अपनी=स्वविचारमार्गं विहाय देहाभिमानमार्गेऽन्यत्रान्यत्र भ्रमतीत्यर्थः ॥१८९॥

ब्रह्म-पद की प्राप्ति का इच्छुक यदि ब्रह्म-मार्ग पर न चले तो मार्ग का क्या दोष है? वह अपना (विचार-) मार्ग छोड़ कर देहाभिमान के मार्ग में भटकता रहता है ॥१८९॥

जो मोहि जाने ताहि मैं जानौं। लोक वेद का कहा न मानौं ॥१९०॥

जो मोहिं इति। यो मत्स्वरूपं जानाति तमहं जानामि। लोकवेदोक्तं न मन्ये। लोकवेदात्परोऽहम्। अत्र भगवद्गीतोपनिषद्युक्तम्—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'[2] इति भावः ॥१९०॥

जो मुझे जानता है उसे मैं जानता हूँ। मैं लोक और वेद से परे हूँ। गीता में भी कहा है—जो जिस रूप में मुझे भजता है मैं (भी) उसी रूप में उसे भजता हूँ ॥१९०॥

बोली हमारी पूर्व की हमें लखे नहिं कोय[3]।
हमें लखे सो जना जो धुर पूर्वीआ होय ॥१९१॥

---

१. रामगीता, श्लोक ३७।

२. भ० गी०, ४, ११।

३. इस साखी में 'पूरबी' शब्द को लेकर माना गया है कि कबीर 'पूर्व' दिशा के निवासी थे। किन्तु बोधानन्द की व्याख्या के अनुसार इस मत की पुष्टि नहीं होती। राघवदास (साखी सं० १९४) और पूरननास (साखी सं० १९४) से भी इस भ्रान्त मत की पुष्टि नहीं होती है।

बोली इति। यत्पूर्वं ब्रह्म तदहमिति सत्यम्। बोली हमारी 'तत्त्वमस्यादि' वाक्यं मम। अज्ञानी मे वाक्यं स्वरूपं च न जानाति। यादृशं तादृशमेव जानीते। य आत्मविद्याधुरीणः स मां वेत्ति स्वान्तरेण न त्वन्य इति भावः ॥१६१॥

हमारा कथन जैसा पहले था, वैसा ही (आज भी) है। वह यही कि 'तू वही है'। अज्ञानी मेरा वाक्य और मेरा असलो स्वरूप नहीं जानता। जैसा वह (ऊपर से) देखता है, वैसा ही जानता है। आत्म-विद्या में पारंगत व्यक्ति ही मेरा यथार्थ स्वरूप जान सकता है ॥१६१॥

सब ही ते लघुता भली लघुता ते सब होय।
ज्यों द्वितीया के चन्द्रमा शीश नवावै सब कोय ॥१६२॥

सब इति। आब्रह्मतृणकीटमशकश्वानगोखराश्वगजपर्यन्तं सर्वं प्रणमेत्, ब्रह्मदृष्ट्येति। लघुता=नम्रता श्रेष्ठा। लघुतेति। लघोर्भावो लघुता। लघुतया सर्वं कार्यं भवति, नान्योपायेन। भगवद्गीतायामुक्तम्—'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः'।[1] इति प्रमाणम्। ज्यों इति दृष्टान्तमाह। यथा सर्वे जनाः द्वितीयायाश्चन्द्रमसं प्रति शिरोभिः प्रणमन्ति न तु पूर्णं चन्द्रम्। अतो लघुता कार्येति भावः ॥१६२॥

लघुता (नम्रता) सबसे बढ़ कर है, अतः स्वयं को लघु समझकर (नम्र बनाकर, ब्रह्म-दृष्टि से तृण, कीट-पतङ्ग और सभी पशुओं को भी नमस्कार करो (अपने समान समझो)। इसी से सब कार्य सिद्ध होता है; अन्य किसी उपाय से नहीं। नम्रता धारण करो। गीता में भी यही कहा है। सारा संसार द्वितीया के चन्द्र को सिर नमाता है। अतः स्व को लघु समझना सर्वश्रेष्ठ है ॥१६२॥

मानुष का गुण ही बड़ा माँस न आवे काज।
हाड़ न होते आभरण त्वचा न बाज नवाज ॥१६३॥

मानुषेति। मानुषतनुं प्राप्य यो ब्रह्मविचारं करोति स एव महान् गुणः[2]। अस्मिन्नेव सर्वमन्तर्गतम्। मांसेति। नरस्य मांसं शृगालादिना न भक्ष्यते। अन्य=मृगादिजीवानां मांसमामिषभोजिनोऽदन्ति। नरास्थीनामलङ्कारोऽपि नैव। गजदन्तस्यालङ्कारः। नरस्य त्वक्चर्मणा मृदङ्गादिवाद्यान्यपि न भवन्ति। पश्वादिचर्म वेष्टयित्वानकादीन् ध्मान्ति। भोः, अतो नरदेहेन सेवापूजासत्कारदानव्रततीर्थहरिस्मरणातिथिभोजनादि यः कारयति करोति च, स एव श्रेष्ठो नान्य इत्यर्थः ॥१६३॥

नर-देह पाकर ब्रह्म-विचार करना महान् गुण है; इसी के अन्तर्गत सब कुछ है। आमिष-भोजी मृग आदि जीवों का मांस तो भक्षण करते हैं, किन्तु नर-मांस किसी काम नहीं आता। न तो उसकी हड्डियों के अलंकार ही बनते हैं और न उसकी चमड़ी से वाद्य ही तैयार किये जाते हैं। अतः नर-देह से सेवा-पूजा अतिथि-

---

१. भ० गी०, ४, ३४।
२. ='गुणी' या 'गुणवान्' चाहिए।

सत्कार, दान, व्रत, तीर्थ, हरि-स्मरण और अतिथि-भोजन आदि का प्रबन्ध करने और कराने वाला सर्व-श्रेष्ठ है ।।१६३।।

मूवा हे मरिजाहुगे बिनु सर थोथे भाल।
परेहु करायल वृक्ष तल आज मरहु के काल।।१९४।।

मूवेति। भोः, देहोऽहमित्यनेन भावेन पूर्वं मृत एव त्वम्। अन्तेऽयं स्थूलदेहोऽपि मरिष्यति। बिनु शर = स्वात्मविचारशरं विना, थोथे शल्यहीनेन धर्मकुलाचारबाणेन म्रियमाणो भवति। भाले = आत्मज्ञानं विना देहाभिमाने गर्त्ते प्रसभं पतिष्यसि। शल्यं विना यथा बाणः। वृक्षे = संसारे नानादुःखानि भुङ्क्ते, आर्तोऽहमिति वक्ति, ज्ञात्वापि संसारं न मुञ्चति। 'करतलभिक्षा तरुतलवासस्तदपि न मुञ्चत्याशापाशम्'[१] इति प्रमाणं सत्यम्। अतो देहाभिमानं त्यज। देहोऽद्य [श्वो]वा विनश्यतु। बहुकालं परमानन्दे रमस्वेति भावः।।१९४।।

मैं देह हूँ यह विचार मनुष्य को पहले ही मार देता है। अन्त में यह स्थूल देह भी मर ही जायगा। आत्म-विचार-रूपी शर न लगने के कारण धर्म और कुलाचार के थोथे मार्ग का अनुसरण करके मनुष्य मरता है और आत्म-ज्ञान के बिना वह देहाभिमानरूपी गर्त्त में गिर जाता है। 'मैं त्रस्त हूँ' यह कहता जाता है पर संसार नहीं छोड़ता। अतः देहाभिमान छोड़ देना चाहिए। देह चाहे आज ही नष्ट हो जाय; हर व्यक्ति को परमानन्द में निरत होना चाहिए।।१९४।।

झालि परे दिन आथये अन्तर परिगो साँझ।
बहुत रसिक के लागते वेश्या रहि गइ बाँझ।।१९५।।

झालि परे इति। यदा अविद्यान्तरे वर्तमानस्तर्हि, साँझ = सन्ध्या अज्ञानतामिस्रे प्राप्ते, दिन आथये = स्वात्मविचारभास्करोऽस्तं गतः। पुनः, बहुत रसिक = अनेकमतवादे विषयसेवने रताः। वेश्यावत् बुद्धिर्वन्ध्या भवति। विचारहीना तिष्ठति। यथा बहुपुरुषसेवनेन गणिका वन्ध्या, तद्वदिति भावः।।१९५।।

अविद्या में रहते रहते शाम हो जाती है और आत्म-विचार का सूर्य अस्त हो जाता है। मत-वाद और विषय-सेवन के चक्कर में पड़ रहने के कारण बुद्धि भी काम नहीं करती, ठीक उसी प्रकार जैसे कि अनेक पुरुषों के सेवन से गणिका वन्ध्या रह जाती है।।१९५।।

जाके चलते रवदे परा धरती होइ बेहाल।
सो सावन्त घर में[१] जरे पण्डित करहु विचार।।१९६।।

---

१. शंकराचार्यः -चर्पटपञ्जरी।

१. रौंदे = पदमर्दन करना; या धमाका। पा०—घर्मे = गर्मी में जलना। राघवदास और पूरणदास ने इस साखी का भिन्न ही अर्थ किया है। देखिए क्रमशः सं० १९५ और सं० १९५।

जाके इति। भोः, अयं जीवः कर्ममार्गे कर्मैव भवति। रवदे=तस्मिन्नेव पतति। पुनः, धरती=धरित्री शरीरं बहुक्रियाभिः खिन्नं भवति। सामन्तपुरं घर्मे,=त्रिधातापेन[1], जरे= दह्यमानो भवति। अतः भोः पण्डित, स्वात्मविचारं कुर्वित्यर्थः ॥१९६॥

जीव कर्म-मार्ग में पड़कर कर्म ही हो जाता है। अनेक प्रकार की क्रियाओं से शरीर भी खिन्न हो जाता है। धर्म के ताप से त्रस्त होना भी स्वाभाविक ही है। अतः हे पण्डित, स्वात्म-विचार कर ॥१९६॥

सबकी उत्पति धरती जीवन को प्रतिपाल।
धरती न जाने आप गुण ऐसो गुरू विचार ॥१९७॥

सब की इति ! धरित्र्यां सर्वे जायन्ते, तिष्ठन्ति, विनश्यन्ति। सर्वेषां जीवानां प्रतिपालरूपा भूमिः। पुनर्धरती। सा धरित्री स्वगुणाभिमानं न जाने=न मन्यते। अतोऽस्या नाम क्षमेति। ईदृग्गुरुर्महान् बहुभ्यो ज्ञानोपदेशं ददाति, परं त्वभिमानं न मन्यते। सद्गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमिति[2] श्रुतेरिति भावः ॥१९७॥

इस धरती पर सभी जन्म लेते हैं; इसी पर खड़े होते हैं और इसी पर विलीन भी होते हैं। यह सब का प्रतिपालन करती है, पर कभी भी अभिमान नहीं करती। वह स्वयं अपने गुणाभिमान (गुण की महत्ता) नहीं जानती। इसी कारण इसका नाम 'क्षमा' है। इसी प्रकार महान् सद्गुरु बहुतों को उपदेश देता है, किन्तु वह भी अभिमान नहीं करता। (इसका सम्बन्ध साखी सं० १९२ से है, जिसमें नम्रता के विषय में कहा है) ॥१९७॥

धरती जानति आप गुण कबहुँ न होती डोल।
तिल तिल बढ़ि गरहु होती ठीकहु के मोल[3] ॥१९८॥

धरित्री=धारणा स्वगुणं 'ब्रह्मैवाहम्' इति न जानाति। तदा बुद्धिरचला भवति, शनैः शनैरात्माभ्यासं वर्धयतीति। पुनः ठीक - सत्यस्वरूपोऽहम्. अमोल=मनोवाण्याः परं तिष्ठामि। अत्र प्रमाणं भगवद्गीतासूक्तम्—'शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया। आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्'[4] इति प्रामाण्यात् सत्यम् ॥१९८॥

धारणा का गुण यही जानना है कि 'मैं ब्रह्म ही हूँ'। किन्तु स्वयं धारणा अपना यह गुण नहीं जानती। वह धीरे-धीरे अपना अभ्यास बढ़ाती है। तब अभ्यासी जानता है कि मैं सत्य-स्वरूप और मन तथा वाणी से परे हूँ। गीता में भी कहा है कि धैर्य से बुद्धि को वश में करके धीरे धीरे उपरामता प्राप्त करना योग्य है ॥१९८॥

---

१. त्रिधाताप=आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक।

२. मुण्ड० उ० १, २, १२।

३. पा०—तीले तील गरुह होति ढिको की मोल (सं० बी० ब०)। ढीक=पराधीनता।

४. भ० गी०, ६, २५।

तहिया कृत्रिम न होता धरती होति न नीर।
उतपति परले नहिं होता तब की कही कबीर॥१९९॥

तहिया इति। तदा काले पूर्वं न भूमिः, नापः, नाग्निः, न चाम्बरं, न सृष्टिः, न प्रलयः, न कृत्रिमं नानाकारमेतत्सर्वम्, नानेकप्रपञ्चमतवादोऽपि। एके=केवले शान्तिरूपे मय्येतत्सर्वं न भासते। तब की=कबीरः श्रुतिरित्थं वदति—'आद्यन्तमध्येष्वेकरसम्'। स्वरूपं ज्ञापयन्ति=सर्वेभ्यः श्रावयन्ति श्रुतयः—'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'[1] इति॥१९९॥

कबीर पूर्वतम काल का वर्णन ईश्वर के मुख से करते हैं। उस समय न तो पथ्वी थी और न जल, आकाश, सृष्टि और प्रलय। आजकल की कोई वस्तु नहीं थी—न यह सारा कृत्रिम नानाकार, और न अनेक प्रपञ्च और मतवाद। उस समय कवल शान्तिरूप मुझ (ईश्वर) में यह सब भासित नहीं होता था। यही बात वेद में भी कही गई है, जिसमें ईश्वर का स्वरूप आदि, अन्त और मध्य में एकरस (सदैव एक सरीखा) बतलाया गया है जो 'सत्' ही था और है॥१९९॥

जब लगि तारा जगमगे तब लगि उगे न सूर।
जब लगि जीव कर्म बस डोले तब लगि ज्ञान न पूर॥२००॥

जब इति। तावदेव मतवादाः प्रकाशन्ते यावत् ज्ञानभास्करो नोदेति। दृष्टान्तमाह—यथा तावत्तारागणा राजन्ते यावन्नोदेति सूर्यः। 'सूरसूर्यर्यमा पूषे'त्यमरे। जब लगि इति। यावज्जीवः कर्मवशगस्तावत्पूर्णज्ञानी नैव। 'कर्मभिर्भ्राम्यमाणोऽपि न विन्दति परं सुखम्'[1] इति भावः॥२००॥

जब तक ज्ञानरूपी सूर्य का उदय नहीं होता तब तक ही मत-वाद का अँधेरा छाया रहता है। इसी प्रकार जब तक जीव कर्म के फेर में रहता है, तब तक वह पूर्ण ज्ञानी नहीं हो सकता॥२००॥

नाम न जाने ग्राम को भूली मारग जाय।
काल्हि गड़ेगा कण्टक अगु मन कस न खुराय॥२०१॥

नामेति। नाम=शुद्धबोधोऽहमिति विचारशान्ति न जानाति येन स एव मार्गे विस्मृतः। कुतः? यो वर्णाश्रमाभिमाने गच्छति, काल्हि कण्टकः, ब्रह्मादीनां सर्वेषां कालोऽपि[2] भक्षकः। तस्य गतिर्न ज्ञायते। कदागमिष्यत्यद्यैव, शीघ्रं वा, कतिवर्षान्तरे वेति। ततः अगुमन=भोः मनः, अस्माद्देहात्पूर्वं निराशो भव। आत्मानं ज्ञातुं सर्वथोत्सुको भव। देहान्ते विनश्यतीति भावः॥२०१॥

जहाँ जाना है उस गाँव का नाम मालूम न करके चल देना और मार्ग में भटकते रहना (सचमुच) आश्चर्य है। मैं शुद्ध-बोध हूं, यह जान लेना ही शान्ति का

---

१. छान्दो० उ०, ६, २, १ आदि।

२. प०···सर्वेषामपि कालः।

मार्ग है। इसे भूल कर लोग कर्म-मार्ग पकड़ लेते हैं, वेभी काल के ग्रास बनते ही हैं। अतः हे मन, इस विनश्वर देह में आसक्ति छोड़कर आत्म-स्वरूप को समझने का प्रयत्न कर ॥२०१॥

तीनि लोक चोरी भया सर्वस सब का लीन्ह।
बिना मूँड का चोरवा परा न काहू चीन्ह ॥२०२॥

तीनि इति। त्रयो लोका उपरीति प्रसिद्धाः। शरीरत्रये जीवः प्रविश्य देहाभिमान्यभूदतो ज्ञानतस्करः। सर्वस—सर्वो देहोऽहमित्यज्ञानचौरेण सर्वेषां स्वात्मविचाराच्छ दनं करोति। बिना मूंड का=आत्मैवाहमिति ज्ञानं विना अज्ञानचौरश्चौर्यं=विचारद्रव्यमन्तराद्धरति तद(म)पि तस्करं कश्चिन्न जानातीत्यर्थः ॥२०२॥

जीव, शरीर में प्रवेश करते ही उसका अभिमान (ममत्व) करने लगता है। उसका ज्ञान लुप्त हो जाता है। यह अज्ञानरूपी चोर आत्म-विचार को आवृत कर दता है। इस ज्ञान के अभाव में अज्ञानरूपी चोर विचाररूपी द्रव्य को चुरा लेता है और इस चोर को कोई भी पहचान नहीं सकता ॥२०२॥

संगति ते सुख ऊपजे कुसंगति से दुख होय।
कहहिं कबिर तँह जाइये जँह अपनी संगति होय ॥२०३॥

संगति इति। सत्सङ्गात्सुखं जायते। अत्र प्रमाणं भागवते—'सत्सङ्गान्मुक्तदुःसङ्गो हातुं नोत्सहते बुधः' इति।[1] कुसङ्गति=कुत्सितानां देहाभिमानिनां नीचानां सङ्गाद् दुःखं भवति, तत्र न गन्तव्यम् कदाचित्। कुतः ? अत्र ज्ञापकं धर्मशास्त्रे प्रोक्तम्—'न स्थातव्यं न गन्तव्यं क्षणमप्यधमैः सह। पयोऽपि शौण्डिनीहस्ते मदिरां मन्यते जनः'[2] इति। कहहिं कबीर=महानात्मारामो वदति। तत्र गन्तव्यं यत्र ज्ञानिनां समाजोऽष्टसु यामेषु हरिगुणानुवर्णनं स्वान्तरे मननं च कुर्वन्ति (कुर्वंति)। तत्र गन्तव्यमिति भावः ॥२०३॥

सत्सङ्ग से सुख और कुसङ्ग से दुःख होता है। धर्म-शास्त्र में भी यही कहा है। मदिरा बेचने वाली स्त्री के हाथ में दूध का लोटा देखकर उसे शराब ही कहेंगे। कबीर कहते हैं कि जहाँ ज्ञानियों का समाज आठों प्रहर हरि-कीर्तन और परमात्मा का वर्णन करता हो उसी स्थल पर जाना योग्य है ॥२०३॥

जैसी लागी पेड़ की तैसी निबहै छोर।
कोड़ी कोड़ी जोरि के कीन्हों लक्ष करोर ॥२०४॥

जैसी इति। भोः, यद्ब्रह्म परमात्मनि श्रीनारायणोऽहमिति विलगति, सा वृत्तिः शरीरावधिपर्यन्तं तिष्ठति। प्रतिदिनं नवीनो नवीनो विचारः कर्तव्यः। ततः पूर्णज्ञानी भवति। दृष्टान्तमाह—यथा कश्चिद्वणिक् प्रतिदिनं, कोड़ी=कपर्दिकानां सञ्चयेन ताम्रखण्डानि, पुनरेवं रजत-

---

१. तुलनीय—सत्सङ्गात् भवति हि साधुता खलानाम् (सुभाषित)।
२. म० भारत, शान्तिपर्व, ३२४।

खण्डानि शतसहस्रशः, पुनर्लक्षाधीशः, कोटिसंख्यको धनसञ्चयो भवति। अत्र प्रमाणं नीति शास्त्रे—'जलबिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः। स हेतुः सर्वविद्यानां धर्मस्य च धनस्य च'[1] ॥ इति प्रामाण्यात्सत्यमेवेत्यभिप्रायः ॥२०४॥

'मैं ब्रह्म ही हूं' यह वृत्ति (क्षणिक न होकर) शरीर के अन्त-समय तक सतत रहनी चाहिए। प्रतिदिन इसी सम्बन्ध में नवीन विचार करने से मनुष्य पूर्ण-ज्ञानी बन जाता है, जैसे एक-एक कौड़ी ज़ोड़ने से वह धनवान् बन सकता है। पानी की एक-एक बूंद के सञ्चय से घड़ा पूरा भर जाता है ॥२०४॥

आजु काल दिन कइक में स्थिर नाहिं शरीर।
केतिक दिन नल(र) राखिहौ काचे वासन नीर ॥२०५॥

आजु इति। भोः, इदं शरीरं स्थिरं न। अद्यैव बहुकाले वा नाशवान् स्यात्। …[2] शतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः। इति। यथा दृष्टान्तः—अपक्वमृण्मयभाजने नीरं कति दिनं तिष्ठति? क्षणमपि न। तद्वद्देहः। तस्मात्स्मरणं कुर्विति भावः ॥२०५॥

यह शरीर शाश्वत नहीं है। मृत्यु तो निश्चित ही है, आज ही या सौ वर्ष बाद—कभी वह होगी ही। मिट्टी के कच्चे घड़े में पानी कब तक रह सकता है? वही स्थिति देह की भी है। अत एव हरि का स्मरण करो ॥२०५॥

करु बहिया बल आपनी छाँडु बिरानी आस।
जे (घर) अँगना नदिया बहे सो कस मरत पियास ॥२०६॥

करु इति। भोः स्वसामर्थ्यं कुरु। त्वं चैतन्यमसि। अन्यत्राशां त्यज। तव हृदये परमानन्दो राजते। दृष्टान्तः—यस्याङ्गणे नदीधारा वहति स पिपासया कथं म्रियते? नैव। तथा प्राणघोषे स्मरणरूपात्मनदी सहस्रधारया वहति। तां पिब। त्वं बलवान् भूत्वा[3] तृषार्तः कथं स्या इति भावः ॥२०६॥

अरे, तू चैतन्य है। अन्य सब विचार छोड़कर यही ध्यान में रख। परम आनन्द तेरे हृदय में ही है। जिसके प्राङ्गण में नदी बहती है वह प्यास से कैसे मर सकता है? प्राण-घोष में स्मरण-रूप आत्म-नदी सहस्र-धार बनकर सदा बहती रहती है, तब तू प्यासा कैसे रह सकता है? ॥२०६॥

बहु बन्धन के बंधिया एक विचारा जीव।
के छूटे बल आपने के छूड़ावे पीव ॥२०७॥

बहु बन्धनेति। जीव एको बहुबन्धनैर्बद्धः। पञ्चकोशत्रिशरीरेषु बद्धः—अन्नादभ्यन्तरः

---

१. चाणक्यनीति, १२, १६।
२. यहाँ दो अक्षर अस्पष्ट लिखे हैं। प० - 'अब्द' (भागवत, १०, १, ३८)।
३. 'भूत्वा' शब्द हिन्दी के मुहावरे के अनुसार प्रयुक्त किया है।

प्राणः प्राणादभ्यन्तरं मनः । ततः कर्ता ततो भोक्ता गुहा सेयं परम्परा"[1] इत्यादि ब्रह्मैवाहमिति स्वबलविचारेण मुञ्चति । अथवेश्वरोपासनया सद्गुरोः सेवनया वा मुच्यते । भोः स्वसामर्थ्यं विना न मुच्यसे । 'न शास्त्रैर्नापि गुरुणा दृश्यते परमेश्वरः । दृश्यते स्वात्मनैवात्मा स्वया सत्त्वस्थया धिया'[2] इत्युक्तेरिति भावः ॥२०७॥

शरीर के भीतर रहने वाला जीव अनेक (कल्पित) बन्धनों से बँधा है। उसका छुटकारा 'मैं ब्रह्म ही हूं' इस विचार से, अथवा सद्गुरु की कृपा से, अथवा ईश्वरोपासना से ही सम्भव है। किन्तु इन सब के होते हुए भी, अपने स्वयं के प्रयत्न के बिना मुक्ति असम्भव ही है ॥२०७॥

जीव जनि मारहु बापुरा सब का एक हि प्राण।
हत्या कबहुं न छूटि है कोटिक सुनउ पुराण ॥२०८॥

जीवेति । भोः मृगमेषादिजीवान् किं हसि ? सर्वेषु प्राणरूपेणान्तर्यामी तिष्ठति । हत्यापापं कदापि न मुञ्चति । भोः कोटिशः पुराणानि शृण्वन्तु, तथापि न मुञ्चतीति भावः ॥२०८॥

अरे, हरिण और मछलियों सरीखे (दयनीय) जीव क्यों मारता है ? ईश्वर प्राण-रूप से सभी के भीतर विद्यमान है। वह अन्तर्यामी है। करोड़ों (बार) पुराण-श्रवण से हत्या दूर नहीं हो सकती ॥२०८॥

तीरथ गए द्वी जना चित चंचल मन चोर।
एको पाप न काटिया मन दस लादे और ॥२०९॥

तीर्थेति । तीर्थं=गङ्गादिसाधुसेवाश्रवणकीर्त्तनादिभक्तिव्रतनियमैतद्रूपं सर्वं तीर्थं सर्वे कुर्वन्ति तथापि चञ्चलं चित्तं परधनपरस्त्र्यादिषु गच्छति । मनश्चौरो विवेकं द्रव्यं मुष्णाति । किमिदं कर्मोचितम् ? नोचितम् । अतो विना विचारं सर्वं क्षीयते । आश्चर्यं यदेकपापनाशनार्थं तीर्थादिमहात्मभिरुक्तम् तत्सेवनादेकोऽपि पापो न गतः, मनोद्वारान्यच्च बहुपापं गृह्णाति । सर्वपापं तीर्थे मुञ्चति, तीर्थकृतं वज्रलेपो भविष्यतीति भावः[3] ॥२०९॥

चञ्चल चित्त और चोर मन ये दोनों तीर्थ-यात्रा के लिए रवाना हुए। गंगादि-स्नान, साधु-सेवा, श्रवण-कीर्त्तन, भक्ति, व्रत और नियम आदि सब तीर्थ करने पर भी चंचल चित्त पर-धन और पर-स्त्री में ही अटका रहा और मनरूपी चोर ने विवेक का हरण कर लिया। यह सब विचार-रहित होने के कारण अनुचित ही है। तीर्थों आदि से पापों का नाश होता अवश्य है; किन्तु उपरि-वर्णित स्थिति में पापों का नाश नहीं होता, अतिरिक्त अनेक पाप लद गए, वे भी तीर्थ-स्थलों पर ॥२०९॥

---

१. द्रष्टव्य कठोपनिषद्, ३, ११ ।

२. अज्ञात ।

३. तुलनीय—भर्तृहरि, नीतिशतक, 'शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम् ?' श्लोक ५५ ।

तीर्थ भई विष बेलरी रही जुगन जुग छाय।
कबिरनि पेड़ निकंदिया क्यों न हलाहल खाय ॥२१०॥

तीर्थेति। विषयरूपा वल्ली स्त्रियादीन् तीर्थवत्सेवते। विषयान् प्रति मनो धावति युगे युगे। अतो वपुषि धारयन्ति। कबीराः=ज्ञानिनो मूलवासनां खनित्वा शुद्धान्तःकरणा भवन्ति। कवनेति। हलाहलविषवद्विषयं किमश्नाति? नैवेति भावः ॥२१०॥

स्त्री विषय-लता है। उसका तीर्थ की तरह सेवन करना और विषयों में मन दौड़ाना कहाँ तक उचित है? ज्ञानी-जन मूल वासना को नष्ट करके अपना अन्तःकरण शुद्ध करते हैं, हलाहल के समान विषय-सेवन वे नहीं करते ॥२१०॥

ए गुणवन्ती बेलरी तव गुण वर्णि न जाय।
जो काटे सो हरियरी सींचे ते कुम्हलाय ॥२११॥

ए गुणवन्ती इति। इन्द्रियगुणाः विषयाः, वल्ली कर्ममयो देहः। तेषां गुणस्यान्तो न येषां छिन्दनाद्विचारो हरितो=नवीनो भवति। पुनः सींचेति। विषयजलसिञ्चनेन ज्ञानं शुष्यतीत्यर्थः ॥२११॥

इन्द्रियों के गुण विषय हैं (इन्द्रियाँ विषयोन्मुख होती हैं)। कर्म-मय देह लता के समान है। उसे काटते ही (वह फैलती है और) नवीन विचार उत्पन्न होते हैं। उसे विषय-जल से सींचने पर ज्ञानरूपी पुष्प कुम्हला जाता है ॥२११॥

पाणी ते अति पातला धूम्र ते अति छीन।
पवनहु ते उतावला दोस्त कबीरनि कीनि ॥२१२॥

पाणी ते इति। सर्वकारणं मनः कीदृशम्? जलादति सूक्ष्मं, धूम्रादतिक्षीणतरं, पुनः पवनवेगादतिवेगवान्। कबीराः=केचिदाचार्या मन एवात्मानं वदन्ति—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासक्तं मोक्षे निर्विषयं स्मृतम्'[1] ॥२१२॥

इस सबका कारण मन है। (यही देखकर) कबीर ने उसे (अपना) मित्र बनाया है। वह जल से भी अधिक सूक्ष्म, धुएँ से भो अधिक क्षीण और पवन से भी अधिक वेगवान् है। (गीता में भी कहा है कि) मन ही बन्ध और मोक्ष का कारण है। विषयासक्त होने पर वह बन्धन का और निर्विषय होने पर मोक्ष का उत्पादक है ॥२१२॥

परदे पाणी दाधिया सन्तो करहु विचार।
सरमा सरमी पचि मुवा काल घसीटनि हार ॥२१३॥

परदे इति। अविद्यावशाद्देह आत्मा, इन्द्रियाण्यात्मा, प्राण आत्मा, मन आत्मा, बुद्धिरात्मा, आनन्द आत्मेत्यादिभिर्मतैः, पाणीयम्=आत्मज्ञानं शुष्यति। लज्जया बहुकर्तव्यतां

---

१. ब्रह्मविद्योपनिषद्, २, आदि।

(कर्तव्यं) करोति। पुनः पुनः कृत्वा पश्चात् कालो भक्षयति। अतः भोः साधो, चिदात्माहमिति विविच्यतामन्तरे इति भावः ॥२१३॥

अविद्या के कारण, देह, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि और (सांसारिक) आनन्द को आत्मा मानने वाले व्यक्ति का आत्मज्ञान सूख जाता है। लज्जा के कारण कुछ करना ही पड़ता है। यह सब करते-करते काल ग्रस लेता है। अतः, हे साधु, 'मैं चिदात्मा हूँ' यही विचार कीजिए ॥२१३॥

आस्ति कहौं तो कोइ न पतीजे विआस्ति[1] का सिद्धा।
कहहिं कबीर सुनहु हे सन्तो हीरी हीरहिं विद्धा ॥२१४॥

आस्ति इति। आस्तीति='तत्त्वमसीति' वदामि कस्मैचित्तर्हि कश्चिन्न प्रतीयते। विना आस्तिकं ज्ञानरहिता जना वर्णाश्रम्यहमिति सिद्धं कुर्वन्ति। हीरी=अविद्या, हीरा=आत्मा, तया विद्धः। अतोऽज्ञः। ज्ञानी स्वरूपमाह। हीरो ब्रह्मविद्यया, हीरा=आत्मयुक्तो भवति। कबीरः=ज्ञानी ब्रवीति— भोः सन्त, मुमुक्षो, एवं जानीहि ॥२१४॥

'तू वही है (तत्त्वमसि)' इस कथन पर कोई विश्वास नहीं करता और ज्ञान-विहीन सभी लोग 'मैं वर्णी हूं, मैं आश्रमी हूं' यह सिद्ध करने के लिए कटि-बद्ध रहते हैं। (वस्तुतः) हीरा (आत्मा) हीरी (अविद्या) से ढका हुआ है। कोई भी व्यक्ति ब्रह्म-विद्या से ही आत्मयुक्त हो सकता है। कबीर कहते हैं कि यह जानो ॥२१४॥

सोना सज्जन साधुजन टूटि जुरहिं शत बार।
दुर्जन भाँड कुलाल का एकहिं धके दरार ॥२१५॥

सोना इति। यथा सुवर्णस्य शतखण्डानि कृत्वा स्वर्णकार ऐक्यं कृत्वा कटकाद्याभरणं करोति। कोमलत्वात्। दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिकेन द्रढयति। तथा सज्जनाः सद्वस्तुवेत्तारस्साधुजना जीवेश्वरावेके ब्रह्मणि योजयन्ति। तान्प्रति दुर्जना दुर्वाक्यं शतवारमपि ब्रुवन्ति; ते सहन्ते. नोद्वेगो भवति क्रोधश्च। सकामक्रोधोद्भवे वेगे यः सोढुं शक्नोति स एव योगी, स एव सुखी। दुर्जनानां सभासु न गन्तव्यम्। एक=अनहितवाक्ये भुजङ्गवत्कोपं कृत्वोत्तिष्ठन्ति यथा कुलालनिर्मितमृण्मयभाजनमेकेनैव प्रहारेण भग्नं भवतीत्यर्थः ॥२१५॥

सुवर्ण, सज्जन और साधु-जन सौ (अनेक) बार टूट कर (पृथक् होकर) भी फिर जुड़ जाते हैं। सोने के टुकड़े करके फिर उन्हें जोड़ कर सुनार आभूषण बनाता है; उसी प्रकार साधु-जन भी जीव और ईश्वर से केवल (निर्गुण-निर्विकार) ब्रह्म से जोड़ते हैं। अज्ञानी दुर्जन इस विचार से सहमत नहीं होते और क्रुद्ध होकर उठ खड़े होते हैं, जैसे कुम्हार का बनाया हुआ मिट्टी का घड़ा एक ही प्रहार में टूट जाता है ॥२१५॥

---

१. विनास्ति=विना अस्ति (अस्तित्व से रहित), सं० बी० ब०।

काजर की ही कोठरी काजर ही का कोट।
तोंदी कारी ना भई रही सो ओट हिं ओट ॥२१६॥

काजर की इति। कज्जलं=सूक्ष्मशरीरम्, कोठरी=कारणशरीरम्। पुनः, कज्जलस्य दुर्गं स्थूलशरीरं त्रिषु वर्तते, तथापि ज्ञानिनो बुद्धिः, तौंदी=गुणत्रयाणां शुक्लरक्तकृष्ण-स्वाभाविकी न भवति। कुतः? ओटहि=ब्रह्मविचारे तिष्ठति। अत्र प्रमाणं श्रीमद्भगवद्गीतोप-निषद्युक्तम्—कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि। योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्म-शुद्धये[1] इति ॥२१६॥

कज्जल (सूक्ष्म शरीर) की कोठरी (कारण शरीर) और कज्जल का किला (स्थूल शरीर) इन तीनों में ज्ञानी की बुद्धि का निवास है। फिर भी वह निर्गुण ही रहता है। ऐसी कोठरी में रखे वर्तन की तोंदी रंग पकड़ लेती है (सफेद, लाल या काला—जो तीनों गुणों के रंग हैं), पर ज्ञानी इन सबसे अलिप्त ही रहता है, क्योंकि वह ब्रह्म-विचार में ही मग्न है, और उस पर असर नहीं होता। भगवद्गीता में भी कहा है कि योगी निःसंग होकर अपने शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों से कार्य करता रहता है ॥२१६॥

काजर की ही कोठरी बुड़ता ई संसार।
बलिहारी ताहि पुरुष की पैठि जु निकल निहार ॥२१७॥

काजर इति। कज्जलकोष्ठी त्रिशरीरम् कारणं स्थूलसूक्ष्मे च। लयम्=इन्द्रियगण ज्ञात्रादि सर्वमात्मविचारे निमज्जति। यद्वा, वपुस्त्रयं पञ्चकोशाद् भिन्नं भवति। तदेव धन्यम्। अत्र श्रुतिः —'त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोग्यश्च यद्भवेत्। तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मा-त्रोऽहं सदाशिवः'[2] इति ॥२१७॥

अन्त में, यही क जल की कोठरी—तीनों शरीर, इन्द्रियाँ और उनके साथ ही ज्ञाता आदि (ज्ञेय और ज्ञान), ये सभी आत्म-विचार में लीन हो जाते हैं। कहा भी है कि तीनों लोकों में भोक्ता, भोग्य आदि से विलक्षण मैं (ईश्वर) केवल चिन्मात्र हूँ, सदाशिव हूं ॥२१७॥

अर्व खर्व लौं द्रव्य हैं उदे अस्त लौं राज।
भक्ति महातम ना तुले ई सब कौने काज ॥२१८॥

अर्वेति। एकादशशतसहस्रायुतलक्षप्रयुतकोटयः क्रमशोऽर्बुदखर्वपद्मनिखर्वमहापद्मपर्यन्तं तस्य द्रव्यं=लक्ष्मीर्भवति। सूर्योदयास्तपते राज्यो[3]। तथापि किम्? हरिज्ञान बिना=भक्ति[4]

---

१. भ० गी०, ५, ११।
२. कैवल्योपनि०, १८।
३. अशुद्ध लेखन। प०—सूर्योदयास्तपर्यन्तं राज्यम्=उदयाचल से अस्ताचल तक अर्थात् निःसीम।
४. शाङ्कर मत के अनुसार 'ज्ञान' और रामानुजीय मत के अनुसार 'भक्ति'।

विना सर्वं व्यर्थमतो भक्तिरेव गरीयसीति भावः ॥२१८॥

अर्व-खर्व तक गिनने योग्य (अतुल) सम्पत्ति और उदय से अस्ताचल तक (अपार) राज्य होने पर भी हरि के ध्यान और भक्ति के बिना सब व्यर्थ ही है। भक्ति ही (मोक्ष का) सर्वोत्कृष्ट साधन है ॥२१८॥

मच्छ बिकाने सब गये धीमर के दरबार।
अँखियाँ तेरी रतनारी तुम क्यों पैन्ही जाल ॥२१९॥

मच्छेति। मत्स्य=मीनवदिदं जगत्, अनात्माभिमानिनो, धीमर=कालवदने गच्छति। अंखियेति। अक्षि=बुद्धिः, सत्त्वरजोगुणेन रक्ताक्षी, देहाभिमानरूपे जाले त्वं किं पतसि, यथा धीमरजाले मत्स्याः पतन्तीति भावः ॥२१९॥

मत्स्य और मीन की तरह यह जगत् है; इसमें आत्म-विचार न करके जो अभिमानी (केवल शरीराभिमानी) मृत्यु के मुख में जाता है। तू बुद्धिमान् होकर भी इस देहाभिमान के जाल में क्यों गिरता है जैसे मछलियाँ स्वयं ही धीमर के जाल में फँस जाती हैं ? ॥२१९॥

पाणी भीतर घर किया सेज्या किया पताल।
पासा परा करीम का ते मे पेन्ही जाल ॥२२०॥

पाणी इति। पाणी=अविद्यान्तरे गृहासक्तः सन् देहाभिमानरूपायां शय्यायां, पाताले=अज्ञाने शेते। वर्तते इति शेषः। पाशा=कर्म,[1] त्वदीयं मदीयमिति मृषाजालेऽज्ञो बलात्पततीत्यर्थः ॥२२०॥

अविद्यारूपी पानी में, देहाभिमानरूपी शय्या पर तू, पाताल में ही सोया पड़ा है। कर्म-पाश में तू बँधा है ॥२२०॥

बिनु रसरी गृह खल बँधा तासू बँधा अलेख।
दीन्ह दर्पण हस्त मधे[2] चसम बिना का देख ॥२२१॥

बिनु रसरी इति। रसरी=विचारं विना गृहमेधादिसमस्तवर्णाश्रमाः (मैः) अविद्यामोह-बन्धनैर्बद्धाः। इदं सर्वं खलको यद्बन्धने सर्वे बद्धाः। लक्ष्यं[3] न ज्ञायते। भोः, ईश्वरेण हस्त-पादादिमान् मनुष्यदेहो दत्तः, तस्मिन्मुकुरवत् धीरपि। परं तु स विना स्वानुभवानन्दं=स्वविचारं

---

१. मूल साखी में 'करीम' लिखा है। व्याख्या में 'कर्म'।

२. छन्द की शुद्धि के लिए पढ़िए—'दीन्हो दर्पण हस्त में'। इसी प्रकार पूर्वार्ध में 'खल' के स्थान पर 'खर' पढ़ना उचित प्रतीत होता है। लिपिकार ने अनेक स्थलों पर 'र' के बदले 'ल' लिखा भी है।

३. लिपिकार ने प्रमादवश यहाँ 'अलक्ष्यं' लिखा है।

विना, का देख ? स्वरूपदृष्टिः कथं भवेत् ? यथा, यस्य नेत्रेऽल्पदृष्टिनी, हस्ते मुकुर=दर्पणं विना किं दृश्यते ? नैवेति भावः ॥२२१॥

वे सभी गृहस्थी और वर्णाश्रमी जो विचार नहीं करते, अविद्या-मोह के बन्धन से बँधे हैं। ईश्वर ने हाथ-पाँव वाला मनुष्य-शरीर दिया है और दर्पण के समान (निर्मल) बुद्धि भी। उससे विचार न किया तो स्वरूप-दर्शन कैसे होगा ? आँखों की ज्योति कम होने पर दर्पण में भी (स्वच्छ प्रतिबिम्ब) कैसे दिखाई देगा ? ॥२२१॥

तीरथ गए ते बहि मुये जूड़े पाणि नहाय।
कहहिं कबीर पुकारि के राक्षस होय पछताय॥२२२॥

तीरथ इति। ये जनाः स्त्रीपुत्रबान्धवपश्वादीन् विषयाभिलाषेण सेवन्ते, तीर्थसेवी तीर्थं तद्वत्, ते बहि मुये, अतश्चतुराकरेषु[1] जायन्ते। जूड़े = जडलतायां सज्जन्ते। कबीरः=श्रुतिर्ज्ञानी वा ब्रवीति—इत्थमुच्चैरात्मज्ञानं विना राक्षसबुद्धयस्ते मलिना भवन्ति। पश्चात्तापं कुर्वन्तीति भावः॥२२२॥

स्त्री-पुत्र आदि में अभिमान करनेवालों की तरह तीर्थसेवी भी हैं, जो जल (जड़) में नहाते हैं। कबीर कहते हैं कि आत्म-ज्ञान के बिना ये सभी राक्षसबुद्धि-वाले और मलिन होते हैं और इन्हें चार योनियों में फिर जन्म लेना पड़ता है॥२२२॥

बेलि कुढंगी फल निफरो[2] फुलवा कुबुधि गँधाय।
ओर विनष्टी तुंबिका सरो पात करुवाय॥२२३॥

बेलि इति। बेली कुढंगी=कुत्सितवासना, तस्याः फलानि धर्मकामार्थानि जायन्ते, न तु मोक्षः। फुलवेति। पुष्पिता सकामा बुद्धिर्दुर्गन्धकारिणी भवति। पुनः कीदृशी ? तुम्बिका-वन्महत्कटुकी। स्वर्गनरककारिणी भवतीत्यर्थः॥२२३॥

कुत्सित वासना एक बेढंगी बेल है जिसके फल धर्म, अर्थ और काम हैं; मोक्ष नहीं। इसके पुष्प (सकाम अतः) दुर्गन्ध देने वाले होते हैं। यह तूम्बी के समान अत्यन्त कटु होती है और इसके फल स्वर्ग और नरक हैं। मलिन व्यक्ति ही इसका सेवन करते हैं॥२२३॥

समुझाये समुझे नहीं पर हथ हाथ विकाय।
मैं खींचत हौं आपु को चला जमपुर जाय॥२२४॥

समुझाये इति। अविज्ञातसखा ईश्वरो जीवं बोधयति। भोः हंस, श्रुतिस्मृतिद्वारा बहुविधं

---

१. चार योनियाँ। साखी ९६ पर पाद-टिप्पणी देखिए।

२. =निष्फल; बुरा।

त्वां बोधियामि, तदपि न बुध्यसे । पर हथेति । जीवोऽहमिति मन्यसे । मैं खीचेति । भोः, स्वस्मिन् त्वां ब्रह्मैवाहमित्यस्मिन् गृह्णामि[1] तथापि चला=यमे, द्वैतेऽज्ञाने गच्छसि; न मन्यसे त्वमतो मम को दोषः ? न कोपीत्यभिप्रायः ॥२२४॥

ईश्वर जीव को कहता है :—हे हंस, तुझे वेद और स्मृतियों द्वारा मैं अनेक प्रकार के बोध देता हूं फिर भी तू नहीं चेतता। मैं कहता हूं कि तू 'ब्रह्म' है पर तू स्वयं को 'जीव' ही मानता है। इस प्रकार तू यमपुर (द्वैत के अज्ञान) की ओर जा रहा है। इसमें मेरा कोई दोष नहीं है ॥२२४॥

नित खरसान लोह धन फूटे।
नित के गुष्टि माया मोह टूटे ॥२२५॥

नितेति। दृष्टान्तमाह। यथा लोहशिल्पिनोऽन्योन्यं मिलित्वा प्रतिदिनं लोहधनं खरसान-मध्ये मोचयन्ति। विद्यास्फुरणार्थं दार्ष्टान्ते योजयति। नित्यमात्मविचारं वेदशास्त्रपुराण श्रवणाद्यन्योन्यं गायन्ति, कथयन्ति च, तदा नित्यज्ञानगोष्ठीविचारेणः मायायाः मृषामोहो विनश्यतीति भावः। 'यत्कीर्त्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं यद्वन्दनं यच्छ्रवणं तदर्हण'मित्युक्तेरिति'[2] भावः ॥२२५॥

जैसे लोहे का घन भट्टी में डालने पर तेज पकड़ता है, उसी प्रकार आत्म-विचार, वेद-शास्त्र और पुराणों का पठन-पाठन और गायन तथा ज्ञान-चर्चा से माया का झूठा मोह छूट जाता है। परमात्मा का स्मरण, दर्शन आदि हितावह है ॥२२५॥

सज्जन तो दुर्ज्जन भयो सुनि काहू के बोल।
काँसा ताँबा होय रहा हता हिरण के मोल ॥२२६॥

सज्जनेति। सज्जनः=सुखप्रकाशरूपजनो ज्ञानरूपः तस्य सङ्गं त्यक्त्वा कस्यचित्सकामस्य वाक्यं श्रुत्वा गाढसङ्गात्तस्यापि, दुर्जना=दुर्बुद्धिर्भवेत्। हाटकः कांस्यं यथा ताम्रं भवति, स्वयं तु हीरा=प्रकाशरूपस्तथापि स्वस्य जीवत्वं मन्यते इत्यर्थः ॥२२६॥

सज्जन वह है जो प्रकाश-रूप और ज्ञानवान् हो। दुर्जन की संगति से वह भी दुर्जन बन जाता है। काँसा हीरा बनने के बजाय ताँबा हो जाता है। ऐसा व्यक्ति स्वयं को जीव मानने लगता है ॥२२६॥

लोहा केरी नावरी पाहन गरुहा भार।
सिर पर विष की पोटरी उतरन चाहे पार ॥२२७॥

लोहेति। लोहा=शरीरमयी नौका। पाहन=देहाभिमान एव भारः। विष की=

---

१. =यह विचार तेरे मस्तिष्क में भरता हूं सांसारिक व्यक्ति के प्रति कबीर की उक्ति।)

२. भागवत, २, ४, १५। उत्तरार्ध—'लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः' ॥

विषयासक्तः सन् भवार्णवपारमिच्छुः। स कथं तरति ? नैवेति भावः ॥२२७॥

शरीर लोहे की नाव है; उसमें देहाभिमान यह पत्थर का भार लदा है। विषयरूपी विष की गठरी तुम्हारे सिर पर रखी है। इस प्रकार भव-सागर पार उतरना चाहते हो ? यह कैसे सम्भव है ? ॥२२७॥

कृष्ण समीपे पाण्डवा गले हिमालय जाय।
लोहा के पारस मिले तो काहे काई खाय ॥२२८॥

कृष्णेति। कृष्णे = चिदात्मनि स्वनिकटे, पाण्डवाः = पञ्चमहाभूतानि, हिमालये = महत्यानन्दे लयं प्राप्ताः। गलिता भवन्तीत्यर्थः। लोहा = अन्तःकरणम्, पारस = पार्श्वं ब्रह्मौ-वाहम्, मिलिते सत्यहङ्कारेण सह कर्म तदेव काई = कं खादति ? नेवैति भावः ॥२२८॥

चिदात्मा (कृष्ण) में पंच महाभूत (पाण्डव) प्रचुर आनन्द (हिमालय) में गल जाते हैं। (किन्तु) लोहा (अन्तःकरण) और पारस मिलने पर (पार्श्व = पास पास होने पर) अहंकार और कर्म किसी को नहीं खा सकता) ॥२२८॥

पूर्व उगे पश्चिम विशवे भखे पवन को फूल।
ताको काल गरासे मानुष काहे भूल ॥२२९॥

पूर्वेति। पूर्वम् = आदौ ब्राह्मणादयो वर्णाः ब्रह्मचर्यादि च। उगे = स्वस्वधर्ममार्गेषु प्रवर्तन्ते। पश्चाद् गृहं विहाय विविदिशा मुमुक्षुर्भूत्वा, पश्चाद्विद्वत्परमहंसधर्मे, विशवे = विलीयन्ते। सर्वे, पवन = स्वभजने, फूल = प्रफुल्लिता भवन्ति। ते[1] निष्कामतयाऽमलिनाः; काल = समयं प्राप्य = ग्रसति, निजात्मनि विलीयन्ते। काहे = कस्मान्मनुष्योऽहमिति (बुद्धिः) ? ब्रह्माहमस्मीत्यनुभवादिति भावः ॥२२९॥

प्रथमतः (प्रारम्भ में ही) ब्राह्मण आदि वर्ण और ब्रह्मचर्यादि आश्रम अपने-अपने धर्म-मार्ग में प्रवृत्त होते हैं। फिर मुमुक्षु बनकर और घर छोड़कर विद्वानों और परमहंसों के मार्ग में लगकर विलीन हो जाते हैं। सभी अपने-अपने भजन (पवन) में प्रफुल्लित रहते हैं। वे सब कामना-रहित हैं, अतः निर्मल हैं; काल उन्हें भी ग्रस ही लेता है; फिर तू स्वयं को मनुष्य मानकर क्यों मोहित हो रहा है ? 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह अनुभव कर ॥२२९॥

नयन के आगे मन बसे पलक पलक कर दौर।
तीनि लोक मन भूप है मन पूजा सब ठौर ॥२३०॥

नयन के इति। नेत्राग्रभागे मनो वसति। जीवन्मुक्तेः प्राप्ति विना मलिनवासनया सर्वार्थेषु मनो धावति। तीनि लोके = शरीरत्रयस्य, मनो राजा। सर्वेन्द्रियविषयेषु मनः सञ्चारः। तस्मान्मनोनिरोध एव परमोपाय इत्याह श्रुतिः—तावन्मनो निरोद्धव्यं हृदि यावद्गतं

---

१. = तान्।

क्षयम् । एतत् ज्ञानं च ध्यानं च शेषोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः[1] ।।२३०।।

मन आंखों के आगे चलता है और जीवन्मुक्ति की प्राप्ति के बिना मलिन वासना के कारण वह विषयों की ओर दौड़ता रहता है। इन्द्रियों के सभी विषयों में मन का सञ्चार होता है। अतः मनोनिरोध ही श्रेष्ठ उपाय है। यही वेद में भी कहा गया है और यही ज्ञान और ध्यान है। शेष केवल ग्रन्थ-विस्तार है।।२३०।।

कासी गति संसार की ज्यों गाडर के ठाट।
एक परे जेहि गाड़ में सबै गाड़ में जाय[2] ।।२३१।।

कासी इति। संसारी एकः=कश्चिज्जनः काशीसेवनार्थं गतः। गङ्गादिसर्वक्षेत्रे शुभं कर्म यः करोति, तद् दृष्ट्वेतरेऽपि कुर्वन्ति। अशुभाचरणं दृष्ट्वाऽशुभं—'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः'[3] इति गीतायाम्। यद्वा, 'कासृ दीप्तौ। कासी=आत्मनि मुमुक्षोर्मनो विगलति यर्हि गाडर=इन्द्रियठाठः। विषयसमूहः। एके परे आत्मनि यस्य चित्ते पतति तर्हि गाड़=अवयवे, सर्व इन्द्रियसमूहः पतति। लीयते इत्यर्थः ।।२३१।।

संसार अनुकरणशील है। काशी में किसी को स्नान करते देखकर और भी स्नान करने लगते हैं। अशुभ आचरण में भी देखा-देखी करते ही हैं, जिस प्रकार एक के पीछे दूसरी गाडर। एक के खड्डे में गिरने पर पीछे वाली सभी गाडरें उसी खड्डे में गिरती हैं। मुमुक्षु का मन परमात्मा में लीन होने पर उसके साथ इन्द्रिय-समुदाय भी लीन हो जाता है।।२३१।।

मारग तो अति कठिन है तहँ कोई मति जाय।
गया होत बहुरा नहीं कुशल कहै को आय।।२३२।।

मारग इति। मार्गः=स्वविचारः कठिनः स्यात्। तस्मै कस्यचिद्विरलस्य मतिर्गच्छति। आत्मस्वरूपं ये गतास्ते पुनर्नावर्त्तन्ते। अत्र प्रमाणं भगवद्गीतोपनिषदि—'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन। मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।'[4] स्वयं तु कुशलरूपो ज्ञानी यर्हि भवति, पुनरागत्य को वदति? न कोऽपीत्यर्थः ।।२३२।।

आत्म-विचार का मार्ग अत्यन्त दुरूह है और उसमें बिरले की ही गति होना सम्भव है। परमात्म-स्वरूप होकर जो गए उनमें से (अपना अनुभव) कहने के लिए कोई वापिस नहीं आया। वे सभी मुक्त हो गए। गीता में भी भगवान् ने कहा ही है कि विश्व में पुनरावर्तन होता है किन्तु मुझे (परमात्मा को) प्राप्त करने पर किसी का पुनर्जन्म नहीं होता। वह संसार में फिर नहीं आता। तब उस (आनन्दमय)

---

१. ब्रह्मबिन्दूपनिषद्, ५, आदि।
२. पा० —सबै पढ़े वहि गाड़ (सं० बी० ब०)।
३ भ० गी०, ३, २१।
४. वही, ८, १६।

स्थिति को बताने के लिए कौन आवे ॥२३२॥

मन स्वारथी आपु रस विषम[1] लहरि फहराय।
मन के चलाये तन चले ताते सरबस जाय॥२३३॥

मन इति। मन एव स्वारथी,[2] आपु=स्वयं रसवेत्ता। विषय=तरङ्गाः। मनः उद्गम-मिति (उद्गम इति)। मन के=इन्द्रियाणि मनसा चलन्ति तदा तनुरपि चलति।[3] तस्मादात्म-विचारो न भवतीति भावः ॥२३३॥

संसार-सागर में विषय तरङ्ग के समान हैं, जो मन से उठते रहते हैं। इन्द्रियाँ और शरीर भी मन की प्रेरणा से ही चलते हैं। ऐसी (अस्थिर) स्थिति में स्वात्म-विचार नहीं हो सकता ॥२३३॥

मारी मरे कुसंग के केला साथे[4] बेरि।
झाहे हाले झोहे चीरवे विधिना संग निवेरि॥२३४॥

मारी इति। कुसंग=देहाभिमानः। केला=बुद्धिः; साथ=सङ्कल्पविकल्पात्मकं मनः; बदरी=इच्छा पुनः पुनरुत्तिष्ठति। पुनः कदली = शान्तिः, चीरवे=नश्यति। अतः सकाम-कर्मणो विद्वान् निवृत्तो भवेत्, यथा कदलीबदर्येकसङ्गे बदरीहनने[5] कदलीपत्रविनाश इति भावः॥२३४॥

मन का स्वभाव संकल्प-विकल्पों को जन्म देना है। उसमें उद्भूत होने वाली इच्छा बेर के झाड़ के समान है और बुद्धि कदली-वृक्ष के तुल्य है। देहाभिमान से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है; तब मन और बुद्धि ये दोनों एक साथ रह नहीं सकते। इस प्रकार मन की शान्ति उसी प्रकार नष्ट हो जाती है जैसे बेर का झाड़ हिलने-डुलने से केले के पत्ते चीर डालता है ॥२३४॥

हीरा तहाँ न खोलिए जहँ हो खोटी हाट।
सहज हि गाँठी बाँधिये लगिये अपनी बाट॥२३५॥

हीरेति। हीरा=स्वजीवन्मुक्तता तत्र न प्रकाश्यते यत्र द्वैतवादिनां समाजः। ज्ञानी स्वसहजानन्दे तिष्ठति। तन्मध्येऽपि तिष्ठति। स्वविचारमार्गे रमति(ते) इत्यर्थः ॥२३५॥

अपनी जीवन्मुक्त-अवस्था (उसका अनुभव) वहाँ प्रकाश में लाना योग्य नहीं जहाँ द्वैत-वादियों का समाज (खोटी हाट) हो। ज्ञानी का यह काम नहीं है; वह तो अपने सहज आनन्द में मग्न रहता ॥२३५॥

वस्तु अनत खोजे अनत कैसे आये हाथ।
ज्ञानी सोइ सराहिये पारख राखे साथ॥२३६॥

---

१. प०—सारथी, विषय। २. प०—सारथिः। ३. दे०—भ० गी०, २, ३३।
४. पा०—संग। ५. =चलने।

वस्तु इति। वस्तु=आत्मप्राप्तिः, स्वबुद्ध्यन्तरेऽस्ति । अन्यत्र=वैकुण्ठादितीर्थव्रतादिषु मृगयति, तत् किं लभ्यते ? नैवं । यः पारखः=सद्गुरोः सङ्गेनोपनिषज्जन्यज्ञानं लब्ध्वा ज्ञान-स्वरूपो भवति स एव ज्ञानी प्रशंसायोग्यः, वन्दनीयः, धन्योऽस्तीति भावः ॥२३६॥

आत्म-प्राप्ति रूप वस्तु का निवास (अनुभव) बुद्धि में है और उसे (पर-मात्मा को)। वैकुण्ठ, तीर्थ, व्रत आदि में ढूँढ़ना वैसा ही है, किसी एक स्थल पर रखी वस्तु को अन्यत्र ढूँढना। सद्गुरु की संगति करके जो व्यक्ति उपनिषज्जन्यज्ञान से ज्ञान-स्वरूप बन जाता है, वही प्रशंसा के योग्य और धन्य है ॥१३६॥

सुनिये सब की वारता निवेरिये अपनी।
सिन्दूर का सिधौरा झपनी का झपनी॥२३७॥

सुनिये इति। भोः शृणु। सर्वाचार्याणां मतं ज्ञातव्यं, पुनर्ब्रह्मानन्दशान्तौ स्वसुखे स्थीयते। सिन्दूर=विषय सिन्धावन्तःकरणे, झपनिका=अविद्यातमो रजोगुणमयी बुद्धिः; पुनः झपनिका= चित्तामसी बुद्धिरश्वमेधादिकारिसकामा[1] हि सा प्रायो ज्ञानविचारमाच्छादयतीत्यर्थः ॥२३७॥

सब आचार्यों का मत जानकर (और स्वयं का मार्ग निश्चित करके) ब्रह्मा-नन्द में मग्न रहने पर (ही) सुखावाप्ति होती है। विषयों के सेवन (सिन्दूर) से अन्तः-करण में अविद्या रूपी तम के कारण बुद्धि रजोगुणमयी हो जाती है और वही तामसी बुद्धि ज्ञान का आच्छादन करके कुमार्ग में ढकेल देती है ॥२३७॥

छव दर्शन में जो जो प्रमाणा[2] तासु नाम बनवारी।
कहहिं कबिर ई खलक सयाना इनमें हमहिं अनारी॥२३८॥

छवेति। षट्शास्त्रोक्तं यत्प्रमाणं तदेव प्रमाणीक्रियते। तस्य ब्रह्मण एकं नाम सगुणं,—वनवारी=वनमाली। तादृशान्यनन्तनामानि। वने=शास्त्रे विवर्णने बद्धो भवति, स एव वनवारी। एष्वहंव्यापी चित्। कबीर=साधवो ब्रुवन्ति—ई खलक=स्वस्वमतवादे चतुराः। एषामुपदेशकथनेनार्यः कथं भवामि ? नैवेति भावः ॥२३८॥

शास्त्रों के प्रमाण के अनुसार सगुण ब्रह्म का नाम बनवारी (वनमाली) भी है, फिर भी उसमें भी चैतन्य अनुस्यूत है ही। सभी आचार्य अपने-अपने मत को प्रतिष्ठित करने में चतुर होते ही हैं। उनके उपदेशों से विभ्रान्त न होना ही उचित है ॥२३८॥

गावे कथे विचारे नाहीं अनजाने का दोहा।
कहहिं कबिर पारस परसे बिना ज्यों पाहन भीतर लोहा॥२३९॥

गावे इति। ये सर्वशास्त्रवेदपुराणानि पठन्ति, वदन्ति, गायन्ति अनेकशब्दसाखीदोहा-कवित्तरागरागिण्या गायन्तूच्चैर्मुखेन, परं तु विचारे यदुक्तं तन्न जानन्ति; जानन्ति चेत् सर्वस्मा-

---

१. इस पद में लिपिकार ने बहुत अशुद्धियाँ की हैं।

१. एक प्रमाना (सं० बी० ब०)।

ब्रहिता भवन्ति। कबीरः=ज्ञानी इत्थं ब्रवीति । दृष्टान्तमाह—यथा लोहमय्यां पट्टिकायां, पारस=लोहस्य सुवर्णकृदुपलोऽनेकवस्त्रादिवेष्टितो निबद्धः । सा पेटिका सुवर्णमयी न भवति, किं तत्स्पर्शं विना ? तथाऽविद्यापञ्चकोशाद्यावरणाद्यात्मा न ज्ञायत इति भावः ॥२३९॥

अनेक व्यक्ति उच्च स्वर में पदों का गायन करते हैं, किन्तु उन पदों में जो प्रतिपादित किया गया है उस पर वे विचार नहीं करते। लोहे की पेटी में वस्त्र में लपेटा हुआ पारस उस पेटी के लोहे को सुवर्ण नहीं बना सकता। ठीक इसी प्रकार अविद्या में (के रहते हुए) पंचकोश से आवृत आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता ॥२३९॥

जाके सद्गुरु नहिं मिला व्याकुल चहुँ दिसि धाव।
आँखि न सूझे बावरे घर जर घूर बताव ॥२४०॥

जाके इति । यस्य सद्गुरुर्न मिलति स एव व्याकुलीभूतस्तीर्थव्रतयोगयज्ञादिषु दशदिक्षु धावति । आँखि=विज्ञानचक्षुर्विनात्मस्वरूपं न जानाति । अतोबा बरः=मूर्खः । घर= गृहेऽन्तःकरणे चिन्ताग्नौ दह्यते । घूर=स्थूलेन नानासाधनाभ्यासं करोति; अत आत्मानं न जानातीत्यर्थः ॥२४०॥

जिसे सद्गुरु नहीं मिला वह व्यक्ति व्याकुल होकर तीर्थ, व्रत, योग, यज्ञ आदि में प्रवृत्त होता हुआ दशों दिशाओं में (चारों ओर) भागता रहता है, किन्तु ज्ञान-नेत्र के अभाव में वह आत्म-स्वरूप नहीं जान सकता। वह बावला (दिग्भ्र-मित) हो जाता है। स्वाभाविक तौर पर वह अनेक साधनों में प्रवृत्त होता है, किन्तु आत्मा को नहीं जान सकता। चिन्ताएँ अन्तःकरण में व्याप्त हो ही जाती हैं।।२४०॥

प्रथम एक जो हौं किया भया सो बारह बान।
कसत कसौटी ना टिका पीतर भया निदान ॥२४१॥

प्रथमेति। प्रथममेकोऽहं चिदात्मेति सत्यम्; पश्चादाचार्यैर्नानामतानि कृतानि । बारह बानि=तदेकमनेकधा वर्णयन्ति ते पुनः । कसत इति । 'तत्त्वमस्यादि' वाक्येन निश्चिन्वन्ति, न तिष्ठन्ति, तथापि पीतरेति। देहोऽहमिति सिद्धं कुर्वन्तीति भावः ॥२४१॥

'मैं एक चिदात्मा हूँ' यह सत्य मत सर्व-प्राचीन है। इसके बाद आचार्यों ने अनेक मत-मतान्तर उपस्थापित कर दिए। उस एक का ये अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं। किन्तु 'तत्त्वमसि' इस कथन की कसौटी पर रगड़ने से वे सभी मत निरस्त होकर पीतल के हो जाते हैं ॥२४१॥

जीव मरण जानै नहीं अन्ध भया सब जाय।
वादी द्वारे दाद नहिं जन्म जन्म पछिताय ॥२४२॥

जीव इति । पञ्चकोशात्मको[1] जीवो देहोऽहमिति स्वस्य स्मरणं न जानाति। कुतः ?

---

१. =पञ्चकोशावृतः । देहोऽहमिति बुद्ध्या यस्य=जीवस्य स्मरणम्।

अज्ञानेनान्धो भवति। वादी=पुनर्वादावादेन, द्वारं=स्वविचारं, दादि=निश्चयं न लभते। शास्त्रवादिनो जीवन्मुक्ता न भवन्ति। कुतः? [ते] परोक्षं गायन्ति ॥२४२॥

पञ्चकोश से आवृत जीव अज्ञान से अन्धा होने के कारण अपना वास्तविक स्वरूप नहीं जान सकता। फिर वादावाद के कारण वह अपने विचार स्थिर नहीं कर सकता। शास्त्रवादी जीवन्मुक्त नहीं हो सकते, क्योंकि वे ईश्वर को परोक्ष मानकर उसका गुणगान करते हैं ॥२४२॥

भक्ति बिगारी कबिरन्हि कंकर पत्थर धोय।
अंदर में विष राखि के अमृत डारिन खोय ॥२४३॥

भक्ति इति। भोः, कबीराः उपासका आचार्या वैष्णवा ब्राह्मणाः सर्वे, अनेक मन्दिर. मठादिव्यापारं कृत्वा, विष्णुप्रतिमां, शिवलिङ्गं, गणेशादीन् स्थापयित्वा जीविकार्थं दुराशान्तरे तिष्ठन्ति; कंकर=शिलाशालिग्रामाद्यर्चनं कुर्वन्ति; साक्षाच्चैतन्यपूजाभोजनसत्कारं विहाय, अतो जडपूजनेन जडरूपाः स्युः। कुतः? अंदर=येषामन्तरे विषयवासना तिष्ठति, अतोऽमृतविचारं=ब्रह्मविचारं त्यक्त्वा विषं पिबन्ति। अतः कबीरैराचार्यैर्भक्तिरूपं विभञ्जितमिति भावः ॥२४३॥

उपासक, आचार्य आदि ने मन्दिरों और मठों में विष्णु, शिव, गणेश आदि देवों की प्रतिमाएँ स्थापित कीं, यह एक प्रकार का व्यापार ही है, क्योंकि इससे चैतन्य-पूजा और मनुष्य-सत्कार नहीं होता। मन के भीतर विषय-वासना रहती ही है। इस प्रकार भक्ति के असली रूप को विकृत करके ये सभी अमृत छोड़कर विष पीते हैं (और पिलाते भी हैं) ॥२४३॥

रही एक की भइ अनेक की विश्वा[1] बहु भर्तारी।
कहहिं कबिर काके सँग जरि है बहुत पुरुष की नारी ॥२४४॥

रही इति। एकोऽहमिति निश्चयात्मिका धीः, अनेक की, अनेक=नानोपासनायां दृढा-मतिः [न] भवति, यथा बहुभर्तृका वेश्या, तद्वद्भवति। कहेति कबीरः=एकात्मारामो ब्रवीति-अनेकदेवोपासकाः मतवादसेविनी नारी=बुद्धिर्येषाम्; आत्मैवाहमित्यग्निं विना, संग=वासना किं जरिहे इति=दहति? नैवेति भावः ॥२४४॥

अपनी बुद्धि से (विचारपूर्वक) एक ही देव का निश्चय करके उसी की सेवा करना योग्य है। अनेक देवों की उपासना करने वालों की बुद्धि वेश्या के समान है, जो अनेक पुरुषों को रिझाती है। अन्त में वह किसके साथ जलेगी? 'मैं आत्मा हूँ' यह विचार अग्नि है और अनेक का संग वासना है ॥२४४॥

मन कागतन वोहित लक्ष जोजन उड़ि जाय।
कबहुँक भरमे आगम दरिया कबहूँ गगन समाय ॥२४५॥

---

१. प०—वेश्या।

मन इति । मन एव काकस्तनुमय्यायां[1] नौकायामाविश्यानेकवृत्तिषु गच्छति । क्वचित्कर्मणा द्विरालक्षचतुरशीतिषु गच्छति । क्वचित्कदाचिदागमे = नानाशास्त्रमतवादे च क्वचिद्गगने = शून्यतायां[2] प्रविश्य जडं भवति । तेषां वाणीव्याख्याने मनः ॥२४५॥

मनरूपी कौवा शरीररूपी नाव में प्रवेश करके जहाँ-तहाँ उड़ता रहता है। वह कभी तो कर्म-मार्गी होकर बयासी लाख योनियों में भ्रमण करता है, कभी शास्त्रों के मत-वाद में उद्यत होता है और कभी शून्य आकाश में सञ्चार करता है। इस प्रकार वह जड़ हो जाता है। मैं आत्मा ही हूँ इस विचाराग्नि के अभाव में उसे विषय-वासना जलाती रहती है ॥२४५॥

केला तब हि न चेतिया जब ढिग लागा बेर।
अब के चेते क्या भया जब काँटे निलिया घेर ॥२४६॥

केला इति। कदली = शरीरम्। भोः, आदौ त्वया साधुसङ्गः किं न कृतः, अद्य वृद्धतायां प्राप्तो, बदरी = महावृद्धोऽभूत्, पुनः कण्टकतुल्येषु गृहसुतदारादिषु ममत्वमधिकम्। [अतो] बुद्धिर्भिद्यते। पुनर्विचारः कुतो भवति ? नैवेति भावः ॥२४६॥

अरे कदली-वृक्ष (शरीर), बेर सरीखे इस उन्नत वृक्ष की भाँति बढ़ने के पूर्व ही तू क्यों सचेत न हुआ ? साधु की संगति क्यों नहीं की ? अब गृह, सुत और दारा रूपी इस कँटीले संसार में ममत्व होने के कारण तेरा बुद्धि-भेद होना स्वाभाविक ही है। ऐसी स्थिति में अब आत्म-विचार कैसे हो सकता है ? ॥२४६॥

ज्ञानरत्न की कोठरी चुपक दियो हे ताल।
पारखू आगे खोलिये कुंजी वचन रसाल ॥२४७॥

ज्ञानेति । आत्मैवमिति ज्ञानरत्न मानुषदेहकोशे विराजते । मौनं = ग्रामगीतरहितं, बालेति भाषया प्रसिद्धं (?), पारखू आगे = अधिकारिणांः प्रति, स्वहृदयान्निष्कास्यामृतं ब्रह्मैवाहमिति वचनं 'तत्त्वमसीति' ददाति, न तु द्वैतवादिनामिति भावः ॥२४७॥

आत्म-विचार ज्ञान-रत्न है, जो मनुष्य-देहरूपी कोश में विद्यमान है। अपने हृदय से 'तत्त्वमसि' का अमृत-तुल्य उपदेश अधिकारियों के सन्मुख ही प्रकट करना योग्य है; द्वैत-वादियों के सम्मुख नहीं ॥२४७॥

सर्ग पताल के बीच में हुई तुंबिका विद्ध।
षट् दर्शन संशय परे लक्ष चतुराशी सिद्ध ॥२४८॥

सर्गेति। ईश्वरस्य(स)र्गमायासर्गरचना पातालजीवस्यान्तरेऽविद्या सर्गरचना एते द्वे तुंमेके (तुम्बके) बद्धरूपे।[3] तयोर्मध्ये चिदात्मा बद्धोऽस्ति। षट्दर्शनानि = षट्शास्त्राणि संशय-

---

१. प०—तनुमय्यां। २. शून्यतायां च।

३. 'ईश्वर' से यहाँ तक का अर्थ स्पष्ट नहीं है। लिपिकार ने भी अशुद्धियां की हैं।

द्वारेण वर्णयन्त्याचार्याः। सर्वे चतुरशीतिलक्षयोनिं षड्जीवत्वं त्रिधा कर्मणा[1] सिद्धान्तं कुर्वन्ति। अतो विचारहीना भवन्तीत्यर्थः ॥२४८॥

माया की सृष्टि स्वर्ग है और अविद्या की सृष्टि पाताल। ये दोनों दो तुम्बियाँ हैं, जो परस्पर बँधी हैं और इनके बीच में चिदात्मा भी बँधा है। (वह अपना मार्ग निश्चित नहीं कर पाता क्योंकि) आचार्य षट्-दर्शन षट्-शास्त्र (आदि) का वर्णन संशय-रूप से ही करते हैं। वे सभी चौरासी लाख जीव-योनियां, छः प्रकार के जीव और तीन प्रकार के कर्म मानते हैं। ऐसी स्थिति में निश्चय होना कठिन है ॥२४८॥

दुर्मति दुर्मति दूर करि अच्छा जनम बनाव।
काग गमन बुधि छोड़ दे हंस गमन चलि आव ॥२४९॥

दुर्मतिरिति। दुर्मति = द्वैतबुद्धि, दूर=दूरं कुरु। अच्छा=निर्मलो भव; जन्मसफलं कुरु। कागेति। काकगमनं=कर्मी अहमिति जीवत्वं त्यक्त्वा, हंसगमने=आत्मैवाहमिति विचारे आगच्छेति भावः ॥२४९॥

द्वैत-बुद्धि को दूर करके और उसके द्वारा निर्मल होकर अपना जीवन सफल कीजिए। कर्म-मार्ग में प्रवृत्त होने के बजाय आत्म-विचार का मार्ग अपनाइए। कर्म-मार्ग काक-गमन का है और आत्म-विचार-मार्ग हंस-गमन का ॥२४९॥

जैसी कहे करे जो तैसी राग द्वेष निरुवारे।
ता महँ घटै बढ़ै रतियो नहिं यहि विधि आपु समारे ॥२५०॥

जैसी इति। यथा श्रुतिस्मृतिधर्मशास्त्रेतिहासे प्रोक्तम्, यत्तद्रीत्या यः करोति स एव श्रेष्ठः। ततो रागद्वेषम् = इष्टानिष्टं निवार्यते। पुनरात्मस्वविचारणमविद्याक्रमेण नश्यति[2]! पुनः आपु=स्वयं ब्रह्मविद् भवति। अविद्या पुनर्नभवतीत्यर्थः ॥२५०॥

श्रुति, स्मृति, इतिहास और धर्मशास्त्र में प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करने वाला व्यक्ति श्रेष्ठ है। इससे राग-द्वेष और इष्टानिष्ट का निवारण होता है और तदनन्तर अविद्या-क्रम से आत्मविचार भी नष्ट हो जाता है। फिर अविद्या नहीं रहती ॥२५०॥

द्वारे तेरे राम जी मिलहुँ कबीरा मोहिं।
तैं तो सब में मिलि रहा मैं न मिलूँगा तोहिं ॥२५१॥

द्वारे इति। भोः कबीराः=मुमुक्षवः, गुरोर्वाक्यमीश्वरवाक्यम्। हे जीव, तवानुभवद्वारे=

---

१. जीव के छः प्रकार—बद्ध, मुक्त, नारक मनुष्य, पशु-पक्षी, देव (जैन शास्त्र के अनुसार। तीन प्रकार का कर्म—सञ्चित, सञ्चीयमान, प्रारब्ध।)

२. तुलनीय—भ० गी०, ३, ३४।

३. वही, ६, ३४ और १८, ६५।

विचारान्तिकेऽहं वसामि। मिलह्=मयि एकत्वं भवथ। भोः जीव, त्वं सर्वेन्द्रियविषयेषु सज्जसे यावत्तावदहं न मिलिष्यामीति भावः[1] ॥२५१॥

हे मुमुक्षु, गुरु का वाक्य ईश्वर का ही वाक्य है। हे जीव, राम तेरे अनुभव के द्वार पर, विचारों के पास ही निवास करते हैं। इन्द्रिय विषयों को छोड़कर राम से ही तादात्म्य स्थापित कर। जब तक तू इन्द्रियों के विषयों में पड़ा रहेगा तब तक ईश्वर नहीं मिलेंगे। २५१॥

जेते पत्र वनस्पति अव (औ) गंगा के रेणु।
पंडित विचारा क्या कहे कबिर कहा मुख वेणु ॥२५२॥

जेते इति। कबीर=वेदमुखवाणी अपरिमिता, यथा वृक्षस्य पत्राण्यपरिमितानि, यथा वा गङ्गाया रेणुन् को गणयितुं समर्थः? तद्वद्वाणीं संस्कृतभाषारूप(पां), पण्डित=वक्तारः समग्रशास्त्रवेदार्णवं पठितुं वर्णयितुं [च] किं समर्था भवन्ति? नैव ॥२५२॥

वेद-वाणी वृक्ष के पत्तों और गंगा के रेणु की तरह अपरिमित है। उनकी गणना नहीं हो सकती। सब शास्त्र और वेद न तो कोई पढ़ सकता है और न उनका वर्णन ही कर सकता है ॥२५२॥

भर्म भरा तिहुँ लोक में भर्म बसे सब ठाम।
कहहिं कबिर कैसे बाचिहौ जब बसे भर्म के ग्राम ॥२५३॥

भर्म इति। सब ठाम=तस्मिन्नेव द्वैतभ्रमे सर्वे वसन्ति। आत्मनि जीवत्वभ्रमान्मन्यन्ते, यथा रज्जौ सर्पः, शुक्तौ वा रजतम्। भोः कबीर=मुमुक्षो, ज्ञानी ब्रवीति—एतद्भ्रमग्रामात्कथं मुच्यसे विचारं विनेति भावः ॥२५३॥

सर्वत्र द्वैत-भावना व्याप्त है। यह एक भ्रम ही है। आत्मा में भी जीवत्व का भ्रम है, जैसे रस्सी में साँप का या सीप में रजत का। ठीक विचार किए बिना इस भ्रम-ग्राम से मुक्ति कैसे मिलेगी? ॥२५३॥

रतन लराइन रेत में कंकर चुनि चुनि खाय।
कहहिं कबीर पुकारिके बहुरि चले पछिताय ॥२५४॥

रतन इति। सदात्मा स एव रत्न=प्रकाशरूपः। रेत=कोशान्स्वस्य मन्यते। क्वचित् कंकर=जीवत्वं, चुनि चुनि=पुनः पुनर्जीवोऽहमिति मन्यते। कहेति। कबीराः=श्रुतय एवमूचुरुच्चैः—अस्माभिर्वर्णितं 'तत्त्वमसी'त्यादि वाक्यस्य विचारं विना पश्चात्तापं कुरुथ, पुनर्जीवत्वं जायते। तस्मात्सावधानो भवेति भावः ॥२५४॥

आत्मा प्रकाश-रूप है किन्तु (व्यक्ति) कोशों को अपने स्वयं के मानता है। वह जीवत्व (कंकर-तुल्य) में अभिमान भी करता है। मैं जीव हूँ यह भी वह बार बार कहता है। कबीर (वेद) कहते हैं कि हमारे बतलाए हुए 'तत्त्वमसि' इस वाक्य

१. द्रष्टव्य—भ० गी०, ६, ३४ और १८, ६५।

पर विचार करने के बिना पश्चात्ताप और पुनर्जन्म होता है। अत. सावधान हो जाओ ॥२५४॥

हौं जाना कुलहंस हौ ताते कीन्हा संग।
जो जानत बगु बावरा छुवे न देतेउँ अंग ॥२५५॥

हौं जानेति । अस्मिन्कश्चिज्जनः कृत्रिमज्ञानी भूत्वाऽऽगतः। यथार्थज्ञानी तं दृष्ट्वा नन्दति। भोजनादिसत्कारवाणीपूजनं सर्वं कृतवान्। पुनः कतिचिद्दिनान्तरे तस्य कृत्रिमज्ञानं ज्ञायते। वचनक्रियारहस्यं दृष्ट्वा हंसरूपज्ञानी ब्रवीति—भोः,हंसकुलादागतो हंसोऽयंज्ञानीति मया ज्ञातः, तस्मात्सङ्गः कृतः। चेदहं जाने किमयं बक=कपटी छलरूपोऽस्ति तर्ह्यस्य सङ्गं स्वप्नेऽपि न कुर्वे। अत्र गीताप्रमाणम्—'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते'[1] ॥ इत्यज्ञस्वरूपं कृष्णेनोक्तम्। यद्वा, यस्य सकामा बुद्धिः स बकः, यस्य निष्कामा बुद्धिः स हंस इत्यर्थः ॥२५५॥

मैंने तुझे यथार्थतः ज्ञानी जानकर तेरा संग किया। यदि मैं (पहले) जान लेता कि तू बगुला है, तो तुझे अपना अंग (भी) न छूने देता। (एक सच्चे ज्ञानी की कपट-ज्ञानी से उक्ति) सकाम-बुद्धि वाला बगुला है और निष्काम-बुद्धि वाला हंस होता है ॥२५५॥

सद्गुरु वचन सुनहु सन्तो मति लेहु शिर भार।
हौं हजूर ठाड़ कहत हौं तैं सँभार सँभार ॥२५६॥

सद्गुरु इति। भोः सन्त=मुमुक्षो, सद्गुरु=रामकृष्णाद्यवताराः शुकादिपरमहंसाः श्रुतयश्च। एषां वाक्यं शृणु, मननं च कुरु। भोः, शिरभार=देहाभिमानं मा गृह्णीष्व। ईश्वर-वाक्यं तवान्तरे इत्यहं साक्षात्कारं ब्रवीमि। संभार सँभार=चेततां चेतताम्। मां जानीहि, त्वमहं चैक एवेति भावः ॥२५६॥

हे सन्तो, सद्गुरु अर्थात् राम, कृष्ण, शुक और वेद इनके वचन सुनो और उनका मनन करो। देह का अभिमान छोड़ दो। ईश्वर का वाक्य मेरे भीतर ही है अतः यह कहता हूँ। 'तू और मैं—हम दोनों एक ही हैं' ॥२५६॥

सिंह अकेला बन रवे पलक पलक करे दौर।
जैसा बन है आपना तैसा बन है और ॥२५७॥

सिंहेति। सिंहश्चिदात्मा, केवल एकः, वनम्=आब्रह्मादिसर्वभूतगणेषु व्यापकोऽहम्। रवे=रमणीयोऽहम्। एकः सर्वदैव विचारः क्षणं क्षणं कर्त्तव्यः यादृशोऽहं तादृशोऽन्यो न कोपि। यथेदं वनं तथा सर्ववनानि। सर्वं चिद्रूपं ज्ञेयमिति भावः ॥२५७॥

चिदात्मा (सिंह) एक ही है और ब्रह्म से स्तम्ब पर्यन्त सारे वन में व्याप्त

---

१. वही, ३, ६।

(विचरता) है। मैं सर्व-व्यापी हूं, मेरे अतिरिक्त अन्य कोई नहीं, जैसा यह वन है वैसे सभी वन हैं—यह मनन करके यही विचार सदैव मन में रखना योग्य है। सब कुछ चिद्-रूप है ॥२५७॥

विरह भुजंगम तन डसे मंत्र न माने कोय।
राम वियोगी ना जिवे जिवे तो बाउर होय ॥२५८॥

विरहेति । विरहो – मन्दवैराग्यम्; भुजंगमः=अष्टाङ्गयोगसाधनं कायेन करोति, अतिकष्टेन क्लिष्टं कर्माहङ्कारभुजङ्गेन दष्टम्। कश्चिद् ज्ञानी 'तत्त्वमस्यादि' मंत्रं तं प्रति वदति, स न मन्यते। स्वं, रामस्य वियोगः, रामः स्वतो भिन्नं जानाति। किं रामं दूरं वदति ? स न जीवति। बावरो=रामरसेनोन्मत्तो भवति यथा मदिरामदान्ध इत्यर्थः ॥२५८॥

मन्द वैराग्य हो जाने पर कोई व्यक्ति अष्टांग-योग-साधन में प्रवृत्त होता है, तब अहंकार रूपी भुजंग उसे डसता है। यदि कोई भी ज्ञानी उसे 'तू वही है' कह कर समझाता है तो वह (यह उपदेश) न मानकर 'राम' को दूर ही बतलाता है। वस्तुतः, राम-नाम के रस में उन्मत्त हुए व्यक्ति का ही जीवन सार्थक है ॥२५८॥

खेत भला बीज भला बोइन मुठिका फेर।
काहे बिरवा रूखरा हैं गुण खेत हिं खेर ॥२५९॥

खेतेति। क्षेत्रं=मानुषं शरीरं श्रेष्ठम्; बीजा=सर्वस्य बीज चिदात्मा। मुठिका= सत्सङ्गः, फेर=सकामः। निष्कामकस्य चिद्-ज्ञानं भवति। कस्यचिन्नैव। काहेति। बिरवा= वृक्षः, मनुष्यवपुः सर्वश्रेष्ठम्। तस्मिन्देहे ज्ञानमुत्पद्यते। स एव साधुरिति भावः ॥२५९॥

मनुष्य-देह एक उत्तम खेत है। चिदात्मा बीज है, जिसका ज्ञान सत्सङ्ग (बीज की मुट्ठी) से होता है। नर-देह सर्वश्रेष्ठ वृक्ष (भी) है; उसी में ज्ञानरूपी फल उत्पन्न होता है। जिसे यह मिल जाय वही साधु है ॥२५९॥

कर बन्दगी विवेक की भेष धरे सब कोय।
सो बन्दगी बहि जान दे शब्द विवेक न होय ॥२६०॥

कर इति। भो मुमुक्षो, बन्दगी=विवेकिनां सेवां कुरु। यत्सेवनात् ज्ञानं मिलति। अन्ये सर्वे, भेष=पाखण्डधारिणः। तेषां सेवां यदि चेत्करोषि, ज्ञानं तेषां सकाशान्न मिलति। सेवा व्यर्थीभूता भवति, उपनिषज्जन्यशब्दविवेकश्च न भवति। अत्र श्रुतिः—'सद्गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'[1]। अतो महात्मा सेव्यः, असाधुर्न सेव्यः इत्यभिप्रायः ॥२६०॥

हे मोक्षार्थिन्, विवेक-शील व्यक्तियों की सेवा करो। उनकी सेवा से ज्ञान-प्राप्ति होगी। पाखण्डियों की सेवा व्यर्थ ही है। उससे ज्ञानोपलब्धि नहीं होती। महात्माओं की सेवा करो; असाधुओं की नहीं ॥२६०॥

---

१. मुण्डक उ०, २, १३।

काह बड़े कुल ऊपजे जो बड़ि बुद्धि हि नाहिं ।
जैसे फूल उजारि के मिथ्या लाल झरि जाहिं ॥२६१॥

काहेति । उच्चकुलोत्पन्नो मनुजः, यस्य सर्वकार्यक्रियासु निपुणा=महती बुद्धिर्न भवेत्, ब्रह्ममयी मतिर्न भवेत्, स जातः किं करिष्यति ? व्यर्थं जन्म तस्य। दृष्टान्तमाह-यथा उजारिके=निर्मनुजे स्थले वृक्षपुष्पाणि रक्तहरितानि वृथोद्भवन्ति पतन्ति च, न तु देवार्च्चनविधौ गृह्यन्ते । अतो व्यर्थानीति भावः ॥२६१॥

उच्च कुल में जन्म लेकर निपुण (ब्रह्ममयी) बुद्धि न पाई तो जन्म व्यर्थ ही है । जंगल में विविध प्रकार के और रंग रंग के फूल खिलते हैं, पर, वे देवार्चन के काम नहीं आते । वे व्यर्थ होकर झड़ ही जाते हैं ॥२६१॥

जो मिला सो गुरु मिला शिष्य मिला नहिं कोय ।
छौ लाख छानबे सहस रमैति जीव पर होय ॥२६२॥

जो मिला इति । ज्ञानीत्थं वदति—भोः शृणु । यो मिलति स गुरुर्मिलति । बहुशिक्षामपि कुर्वन् गुरुस्तदपि देहाभिमानान्न मुच्यते । न गुरुसेवा, न क्रिया न च साधनाभ्यासः । किञ्चित्ज्ञानग्राहकः शिष्यः कश्चिन्न मिलति । यद्वा, गुरुः=ब्रह्माहमस्मीति भावेन ब्रह्मज्ञानी गुरुः श्रेष्ठः, ब्रह्मण्येको भवति । शिष्योऽद्वैताभिमानी न मिलत्यात्मनि । छवेति । षट्शास्त्राणि लक्षाणि, चतुर्वेदा उक्ताः स्युः । छयानवे=द्विपञ्चाशदुपनिषदः, अष्टादशपुराणानि, स्मृतयश्च । षड्वेदाङ्गानि=शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तछन्दोज्योतिषानि, षट्काव्यानि - पिङ्गलभाष्यं, महाभाष्यं, ब्रह्मसूत्रं, वेदसूत्रमिति नवषष्टिसहस्राणि, महारामायणेत्यादीनि कोटचवधिवाणी संस्कृतभाषारूपकं केवलैकजीवानां जीवत्वमोक्षाय । आत्मज्ञानप्राप्तये इति भावः ॥२६२॥

ज्ञानी का अनुभव इस प्रकार होता है । मुझे जो भी गुरु मिला, देखा कि वह अभिमान से मुक्त नहीं है । उसमें गुरु-सेवा, क्रिया और साधन का अभाव ही पाया। वस्तुतः ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ गुरु नहीं मिला । और, न अद्वैताभिमानी शिष्य ही मैंने देखा । आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए करोड़ों पुस्तकें हैं—उपनिषद्, पुराण, स्मृतियाँ, वेदांग, काव्य, पिंगल, महाभाष्य, ब्रह्मसूत्र, वेदसूत्र, रामायण आदि-आदि, इनमें से प्रत्येक की अनेक संख्याएँ भी हैं । (इन सब का अध्ययन किसी एक व्यक्ति के लिए असम्भव ही है) ॥२६२॥

पैठा है घर भीतरे बैठा है सब चेत ।
जब जैसी गति चाहिये तब तैसी मति देत ॥२६३॥

पैठा है इति । आब्रह्मादिसर्वभूतगणेषु घटे भीतरे=हृदयान्तरे प्रविश्यान्तर्यामिरूपेण तिष्ठति । सचेत=चैतन्यरूपः । यः प्राणी यहि=यदा यादृशीं गतिं कर्तुमिच्छुस्तदा तादृशीं मतिं ददाति । अत्र प्रमाणं गीतोपनिषदि—ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥[1] इति सत्यम् ॥२६३॥

---

१. भ० गी०, १८, ६१ ।

वह चैतन्यरूप अन्तर्यामी घट-घट में व्याप्त है और वही सभी कार्यों का प्रेरक भी है। गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा है कि ईश्वर का निवास सब प्राणियों के हृदय में है और वह सब को अपनी माया (शक्ति) से यन्त्र की तरह घुमाता रहता है ॥२६३॥

बोलत ही पहिचानिये साहु चोर की घाट ।
अन्दर गति की करणी निकले मुख की वाट ॥२६४॥

बोलत इति। भोः शृणु। साहुः=शुद्ध विद्वद्ब्रह्मविज्ञानी वचनोच्चारमात्रेण ज्ञायते। चौरः=अनात्मविषयवादी मलिनचित्तः, सोऽपि वाक्यद्वारा ज्ञायते। अन्दर=हृदयान्तरे यत्कर्त्तव्यं तन्मलिनं वा शुद्धमिति मुखमार्गेण निर्गच्छतीति भावः ॥२६४॥

बात बात में ही साधु (ब्रह्मज्ञानी) और चोर मलिन-चित्त विषय-वादी ज्ञात हो जाता है। हृदय के भीतर की बात मुँह से (किसी न किसी प्रकार) प्रकट हो ही जाती है—मलिन हो या शुद्ध ॥२६४॥

भूला सो भूला बहुरि के चेतना ।
शब्द[1] की छुरी से संशय को रेतना ॥२६५॥

भूला इति। जीवाः सर्वे शृणुत। पुत्रकलत्रधनधामधरादिषु किं मुह्यथ, विस्मरथ देहोऽहमिति। जीवोऽहमित्यस्मिन् किं विस्मरसि? आत्मैवाहमित्यभ्यासे चेतताम्। आदौ वैराग्यं, पश्चाद्विषयासक्तः सन्, ततो विषये ते को विनाशः ? पुनश्चेतताम्। शब्द=छुरिका। उपनिषज्जन्यज्ञानखड्गेन संशयं शनैः शनैः, रेततां=छिन्दयेत्। अत्र प्रमाणं गीतासूक्तम्—प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः। अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः। कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥[2] इति

सभी जीव सुनें। पुत्र, स्त्री, धन, धाम और धरा आदि में क्यों मोहित होते हो ? उनका सम्बन्ध तो देह से है। मैं (देह नहीं), आत्मा हूं यह अभ्यास करके चेतो। वैराग्य से विषय की ओर दौड़ना विनाश ही है। चेतिए। उपनिषद् से उत्पन्न हुए ज्ञान को शब्दरूपी छुरी से रेतो। गीता में (यथार्थ) कहा ही है कि प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करने वाला योगी पाप-मुक्त होकर अनेक जन्म के बाद सिद्ध बनकर परम गति प्राप्त करता है। तपस्वी, ज्ञानी और कर्म-मार्गी इन सब में योगी श्रेष्ठ है ॥२६५॥

अपनि कहे मेरी सुने सुनि मिलि एके होय ।
हमरे देखे जग जात है ऐसा मिला न कोय ॥२६६॥

अपनी इति। जिज्ञासुः स्वसन्देहं पृच्छति, ततः सद्गुरुर्भगवान् वदति। भोः मुमुक्षो, मम

---

१. पा०—'ज्ञान' (सं० बी० ब०)।
२. भ० गी०, ६, ४५-४६।

वाक्यं शृणु । श्रुत्वा ततो जीवत्वं विहायात्मनि मिलित्वैक्यं भवति । हमरे इति । तस्य प्रौढज्ञान-मुत्पद्यते यदा तमब्रवीदिति । भोः, मम दृश्यत इदं सर्वं जगदेतत् संसृतौ गच्छति । सद्गुरो-र्वाक्येन विनेदृशज्ञानदाता कोऽपि न मिलति, तथा ममेति भावः ॥२६६॥

अरे मोक्षार्थी, मेरा वाक्य सुनो । कहने और सुनने (वार्तालाप) के बाद व्यक्ति सिद्ध होकर जीव-भावना छोड़कर सभी का मिलकर आत्मा में ऐक्य हो जाता है और तब प्रौढ़ ज्ञान का उदय होता है । सद्गुरु के बिना इस प्रकार का ज्ञान देने वाला कोई नहीं ॥२६६॥

जरत सबनि के देखिये अपनी अपनी आगि ।
ऐसा कोई नहिं मिला जासो रहिये लागि ॥२६७॥

जरत इति । अपनी अपनी = भोः, स्वस्वमतवादाग्नौ सर्वे दह्यन्ते । ऐसो कोई = ईदृश आत्मारामो ज्ञानी न मिलितो यस्मिन् प्रीतिं करोति, तत्प्रीत्या परमानन्दो मिलति । नैवेति भावः ॥२६७॥

अपने अपने मत-वाद की अग्नि में सभी जलते रहते (व्यग्र) हैं । ऐसा आत्मा-राम ज्ञानी (आज तक) नहीं मिला, जिससे स्नेह करने पर परमानन्द की प्राप्ति हो सके ॥२६७॥

जेहि वन सिंघ न संचरे पक्षी नहिं उड़ि जाय ।
सो वन कबिरन्हि डींडिया शून्य समाधि लगाय ॥२६८॥

जेहि इति । हीति निश्चये । वने = सर्वव्यापिनि स्वयं ब्रह्मणि, सिंहः = अहंकारः न सञ्चरति । कुतः ? यं[1] स्प्रष्टुं न शक्यः, पुनर्मनोऽपि गन्तुं न शक्यम् । अवाङ्मनसगोचरं, सो वन, कबीर = स आत्मा वनं सर्वव्यापि । कबीराः = मुनयो ज्ञानिनो यत्प्राप्त्यर्थं मायाविद्याभ्यां शून्यं, 'सोऽहम्' इति ज्ञातुं समाधिं कुर्वन्तीति[2] भावः ॥२६८॥

कबीर कहते हैं कि जिस वन (सर्वव्यापी ब्रह्म) में सिंह (अहंकार) का संचार नहीं और पक्षी (वासना ?) का भी पता नहीं, उस माया और अविद्या से शून्य स्थान में मुनि (ज्ञानी) अपने स्वरूप को जानने के हेतु समाधि लगाते हैं (एकाग्र-चित्त होते हैं) ॥२६८॥

एक बात की बात है कोई कहे बनाय ।
भारी परदा बीच का तातें लखी न जाय ॥२६९॥

एक बात इति । एक बात = उपनिषद्वार्तायां त्वेकस्तन्निर्णीतः परमात्मैकः । पुनरनेका-

---

१. = यः ।

२. दे०—"सम्यगाधीयते = एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः" । तुल-नीय—नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य (भ० गी०, २, ६६) पर शांकर भाष्य ।

चार्यैरनेकवेदशास्त्ररुचिपूर्वकं ग्रन्था रचिता:। तत्प्रोक्तमतवादैः प्राणिनां मतिर्विक्षिप्ता । अत्र प्रमाणं गीतासूक्तम्—'श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला। समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि'[1] ॥ भारी=अविद्यामध्ये पतितस्तदात्मा न दृश्यत इत्यर्थः ॥२६९॥

सभी उपनिषदों के निर्णय से परमात्मा अद्वितीय ही है, किन्तु मतवादियों ने अपनी अपनी रुचि के अनुसार शास्त्र रचे और भिन्न-भिन्न मत संस्थापित किए। इसके परिणाम स्वरूप जगत् की मति विक्षिप्त हो गई। गीता में भी इस कथन की पुष्टि की गई है। अविद्या में पड़ने पर आत्म-दर्शन नहीं हो पाता ॥२६९॥

मुख की मीठी जो कहै हृदये है मति आन।
कहहिं कबिर तेहि लोकनि ऐसो राम सयान ॥२७०॥

मुख की इति। ये शास्त्रज्ञाः जनाः शास्त्रद्वारा वाणीं मनोहरां राजनीतिं, ब्रह्मविद्यां श्रोतृरसायनां मुखेन वर्णयन्ति, पुनस्तेषां हृदये लोभाकारवृत्तिर्दुराशामतिः प्रवर्तते। कहेति। कबीरः=ज्ञानीत्थं ब्रवीति । तदा रामोऽपि शयानस्तेषां शास्त्रज्ञानामन्तरे वर्तते। रामो लोकनि=परं तु रामो न प्रकाशते, न ज्ञायते। कुतः? [ते] ऽन्तर्विचारहीनाः ॥२७०॥

शास्त्रों को जानने वाले पण्डित अपनी दलीलों द्वारा राजनीति या ब्रह्मविद्या का अपने मुख से मीठे शब्दों में वर्णन करते हैं, किन्तु उनके हृदय में लोभ-वृत्ति विद्यमान है। उनके हृदय में राम का निवास भी है ही, किन्तु उसका भान उन्हें नहीं होता (वह सुप्त रूप में है) क्योंकि वे अन्तर्विचार से विहीन हैं ॥२७०॥

जब लगि ढोला तब लगि बोला तब लगि धन व्यवहार।
ढोल फूट[2] धन गया कोई न झाँके द्वार ॥२७१॥

जब लगि इति। ढोला=शरीरम्। यावच्छरीरे प्राणवायुस्तावन्मुखद्वारेण वचनोच्चारः। धनव्यवहारः=मम स्त्रीपशुधनमिति ममता स्यात्। ढोलेति। शरीरात्प्राणवायुर्यदा निर्गतस्तदा सर्वोऽहङ्कारः स्वतो विनश्यति। पुनर्मृते=पश्चात्कश्चित्पुमान् तस्य धनिकस्य द्वारे=गृहे न गच्छति। यावत्प्राणास्तावदेव सर्वव्यवहार इति सत्यम् ॥२७१॥

जब तक शरीर में प्राण-वायु (का संचार होता) है तब तक मुख से वचन भी निकलते हैं। तब तक सब धन-व्यवहार भी है और धन, पशु, स्त्री आदि में ममत्व भी होता है। ढोल फूट जाने के बाद और प्राण-वायु निकल जाने के बाद यह सब अहंकार लुप्त हो जाता है और उस धनिक के द्वार पर कोई झाँकता (भी) नहीं ॥२७१॥

विरहिनि साजी आरती दर्शन दीजे राम।
मूये दर्शन देहुगे आवत कवने काम ॥२७२॥

---

१. भ० गी०, २, ५३।

२. छन्द की दृष्टि से प०—'ढोल फूट सब धन गया'।

विरहिनि इति। विरहिनि=वैराग्यरूपा भक्तिरूपा वा यस्य बुद्धिर्भवेत्तदार्त्तो भूत्वा नदति—'हे राम, दीनबन्धो, कृपालो, मम दर्शनं देहि'। अत्र प्रमाणं गीतासूक्तम्—चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ'[1] ॥ इति कृष्णेनोक्तमर्जुनं प्रति। मूये इति। पुनर्जिज्ञासुर्भगवन्तं प्रार्थयति—भोः राम, अद्य जीवन्मुक्तं कुरु। भोः भगवन्, मृते=देहविनाशानन्तरं यदि तव दर्शनं भवति, वा दास्यसि, तदा किं प्रयोजनम्? कुतः संसृतौ मां पातयसीति भावः ॥२७२॥

बुद्धि में वैराग्य या भक्ति का अतिरेक होने पर भक्त प्रार्थना करता है :—'हे राम, हे दीनबन्धो, हे कृपालु, मुझे दर्शन दीजिए'। गीता में भी कहा है—चार प्रकार के व्यक्ति भगवान् को भजते हैं। वे हैं—आर्त, जिज्ञासु, धनार्थी और ज्ञानी। भक्त फिर यह भी प्रार्थना करता है—हे भगवन्, मेरे मरने के बाद आपके दर्शन हुए तो किस काम के? ऐसी स्थिति में मुझे पुनर्जन्म तो लेना ही पड़ेगा। क्यों संसार में गिराते हो? ।।२७२।।

बना बनाया मानवा बिना बुद्धि के शूल[2]।
कहा लाल ले कीजिये बिना बास का फूल ।।२७३।।

बनेति। सर्वतनूनां मध्ये मानुषदेहः श्रेष्ठस्तं लब्ध्वा, बुद्धिहीन=आत्मविचारहीनः। स एव शूल=पामरः, मूर्खः। कहेति। कर्णिकारादीनां रक्तपुष्पाणि प्रेक्षणे मनोहराणि किं तु सुगन्धं विना किं भवेत्? न किञ्चिदिति भावः ।।२७३।।

सब देहों में श्रेष्ठ नर-देह प्राप्त करके आत्म-विचार से हीन होना काँटे के समान है। ऐसा व्यक्ति मूर्ख है। कनेर आदि के फूल देखने में सुन्दर होने पर भी सुगन्ध के बिना किस काम के? ।। २७३।।

अहिरहुँ तजी खसमहुँ[3] तजी बिना दाँत का ढोर।
मुक्ति बिना बिललात है वृन्दावन की ओर ।।२७४।।

अहीरेति। यस्मादन्यो न, हीरा=प्रकाशरूपो ज्ञानी, स एव अहीरः। साधोः सङ्गो यन त्यक्तः। पुनः खसमः। ख=आकाशस्तत्समः=तुल्यः[1]। पुनः स्वात्मविचारोऽपि त्यक्तो येन, बिना दाँत=इन्द्रियदमनो न भवति। विवेकहीनश्च भवति। अतो मुक्ति=ज्ञानं [तेन हीनो] वृन्दावनं=मानुषवपुर्लब्ध्वा, अहो इत्याश्चर्ये, खोरी=स्वात्मविद्यां न विचारयसीति महती मूर्खतेति भावः ॥२७४॥

वृन्दावन की ओर जानेवाला (मनुष्य-देह पानेवाला) कोई भी व्यक्ति

---

१. भ० गी०, ७, १६।

२. पा०—बिना बुद्धि बेतूल (सं० बी० ब०) बेतूल=अयोग्य, तुच्छ।

३. कबीर-साहित्य में 'खसम' शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। उसका यह अर्थ ध्यान देने योग्य है।

अहीर (अ+हीरा=साधुसंग) तज कर और खसम (ख=आकाश के समान निर्मल ब्रह्म) को भी छोड़कर, बिना दाँत के (इन्द्रिय-दमन से रहित) ढोर के समान है, जो आत्म-विद्या का विचार नहीं कर सकता ।।२७४।।

शेषतकी मैं वृन्दा तेरा झगरा एक निबेरहु मेरा ।
प्रकट कहौं की परदा मुरगी के जो अण्डा होते अवरति है की मरदा[1] ।।२७५।।

शेषतेति शेषः । सर्वविनाशे सति स्वयमविनाशी, अतः सृष्ट्यादिरहितः । तमात्मानं निश्चय-रूपा बुद्धिः, तकी =आत्मैवाहमित्यभ्यासं करोति। वृन्दा=नामसमूहः । अखिलोऽहमेकं, तेरेति=तव स्वरूपोऽहमेकम् । झगरा =द्वैतभावं दूरीकुरु, निमेरा=निर्णयं कुरु। प्रकटं ब्रह्मैवाहं वदामि, जीवोऽहमिति। परदा =आवरणं दूरं कुरु। यदि=चेत्, कुक्कुटी=वासना तवान्तरे तिष्ठति, ततो वासनया =अण्ड=स्थूल शरीरं जायते । स्त्री वा पुरुषो वेति भावः ।।२७५।।

सब कुछ (सारा संसार) नष्ट (प्रलय) होने के बाद शेष रहे (परमात्मा) को बुद्धि तकती है (ध्यान करती है) । वह निश्चयात्मिका है। मैं अकेला ही हूँ पर तेरा स्वरूप हूँ (तत्त्वमसि)। झगड़ा (द्वैतभाव) दूर करके निर्णय (निमेरा) कीजिए। परदा (आवरण) दूर कीजिए। मुरगीरूपी वासना जब तक रहेगी, अण्डा (स्थूल-शरीर) उत्पन्न होगा ही, वह चाहे स्त्री या पुरुष का हो ।।२७५।।

पाव पलक की गमि नहीं करे काल के साज ।
बीच अचानक मारिहे ज्यों तीतर पर बाज ।।२७६।।

पाव इति । भोः तवायं देहः कालेन रचितः।[2] साज=अलङ्कारवत्तद्देहं सत्यं मत्वा बहुवर्षाविध्युन्मानं कृत्वा कार्यासक्तः । पाव पले =देहः क्षणभङ्गुरः । देहस्य नाशः क्षणे= पले भवतीति न ज्ञायते कैश्चित् । भोः, कालो जगद्भक्षकः । कदा मारयति, अचानक=अज्ञाने । दृष्टान्तमाह—यथा बाज=व्याधः, तित्तिरिं प्रति घातं करोति, तद्वत्सर्वं जगत् कालाधीनमित्य-भिप्रायः ।।२७६।।

सारा विश्व काल के अधीन है। इस क्षण-भङ्गुर देह की रचना उसी ने की है और वही इसका अन्त भी करेगा। तू इसे (देह को) सत्य समझकर अनेक वर्षों तक उन्माद करता रहा और कार्य में भी आसक्त रहा। काल जगत् का भक्षक है। पता नहीं वह किस समय इस देह का अन्त कर डाले, जैसे बाज तीतर को मार डालता है ।।२७६।।

---

१. यह साखी अनेक संस्करणों में नहीं है। इसके उत्तरार्ध में आवश्यकता से अधिक मात्राएँ हैं। व्याख्या का पंडिताऊ ढंग भी देखने योग्य है।

२. प्राचीन सांख्य में प्रकृति और पुरुष के अतिरिक्त 'काल' भी एक पदार्थ माना जाता था। देखिए—बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, सप्तम संस्करण, पृ० ५८५।

बाजन दे बाजन्तरी कलि कुकुरी मति छेर[1] ।
तुझे विरानी क्या परी अपनी आप निबेर ॥२७७॥

बाजन इति। 'व्रज् गतौ'। बाजन्तरी = प्राणघोषः सर्वनाडीषु = रोमसु रोमसु वादयति = व्याप्नुते। तस्य साक्षी भूत्वा वर्त्तताम्। कलिः कलहरूपा नानामतवादिनां मतिः = बुद्धिः। कुक्कुरी = सारमेयी, परोक्षं = बहिः क्रोशति, तां, भो मुमुक्षो, छेडु = त्यज।[2] वादारोपणेन किं करोषि? तुझेति। बिराने देहाभिमाने किं पतसि? अपनी - स्वस्य स्वं, निबेरु = निर्णयं कुरु। जानीहि परमात्मानमित्यर्थः ॥२७७॥

सब नाड़ियों में और रोम-रोम में प्राण-घोष व्याप्त है। उसका तू (केवल) साक्षी बनकर रह। अनेक मत-वादियों की कलह रूपी बुद्धि (सारमेयी) को भूँकने दे। हे मोक्षार्थी, तू उसे मत छेड़। वादावाद से तुझे क्या लेना-देना? तू अपना स्वयं का निर्णय कर ले और देहाभिमान में न पड़कर परमात्मा को जान ले ॥२७७॥

ए मरजीवा तें अमृत पीवा का धसि मरसि पताल।
गुरु की दया साधु की संगति निकलि आव एहि द्वार ॥२७८॥

ए मरेति। भोः शृणु। मरजीवा = जीवन्मुक्तः,[3] स एव ब्रह्मामृतं = शान्ति पिबति। पाताले = देहाभिमाने प्रविश्य किं मृतिं प्राप्नोषि? सद्गुरोर्दयया = साधूनां संगात्, विचारद्वारेण निःसृतो भव। यदि निष्क्रमसि, तर्हि स्वरूपविस्मरणं [न] भवतीत्यर्थः ॥२७८॥

हे जीवन्मुक्त, सुन। जीवन्मुक्त ही ब्रह्मामृत का पान करता है (शान्ति पाता है)। वह देहाभिमानरूपी पाताल में धँसने से बच जाता है और साधुओं तथा सद्गुरु के संग से तर जाता है ॥२७८॥

ढाढ़स देखहु मरजीवा को धह जोरि पैठा पाताल।
जीव के अटक माने नहीं ले गहि निकसा लाल ॥२७९॥

ढाढ़स इति। भोः, मरजीवा = जीवन्मुक्तस्य ढाढ़स = दृढबुद्धि दृश्यताम्। धह जो[रि] = स्वात्मविचारे युक्तः, पैठा = सर्वव्यापी। एवं सन्, पाताल = पञ्चकोशे त्रिशरीरेष्ववस्थादिषु प्रविश्य, जीवके अटक = जीवत्वे बध्यते। गुरुश्रुतिवाक्यं न मन्यते। पुनः शनैः शनैर्युक्त्या, ले = गृहीत्वा, परमात्माहमिति लालम् = अमौलिकरत्नं लाभार्थं, निकसेति = का (को) शादिभ्यः परो भवेत् = चतुर्थो भवति। आत्मैवाहमस्मीत्यभिप्रायः ॥२७९॥

जीवन्मुक्त व्यक्ति की बुद्धि स्थिर रहती है। वह स्वात्म-विचार में मग्न

---

१. इस साखी के पूर्वार्ध में अनेक अशुद्धियाँ हैं, अतः सं० बी० ब० का पाठ यहाँ लिया गया है।

२. 'छेडु' का अर्थ 'त्यज' नहीं होता। 'मत छेडु' को ही साथ-साथ लेना उपयुक्त है, जिसे व्याख्याकार ने पृथक् कर दिया है। त्यज अर्थ के लिए 'छोडु' पाठ मानना होगा।

३. जीवन्मुक्त का लक्षण = 'जीवन्मुक्तः सदा स्वच्छः सर्वदोषविवर्जितः।' (योगशिवोपनिषद्, १, ४२)। 'जीवभूतः सनातनः'। भ० गी०, १५, ७ भी देखिए।

रहता है। वह सर्व-व्यापी है, किन्तु पंच-कोश, तीनों शरीर और अवस्थाएँ आदि में प्रवेश करके वह जीवत्व में बँध जाता है। फिर धीरे धीरे युक्ति से 'मैं परमात्मा हूं' इस अमौलिक रत्न के लाभ के लिए वह कोश आदि से पार होकर तुरीय अवस्था को प्राप्त करता है और उसे आत्म-ज्ञान हो जाता है ॥२७९॥

एक साधे सब साधिया सब साधें एक जाय।
उलटी सींचे मूल को फूले फरे अघाय॥२८०॥

एकेति। एकोऽहमिति साधने कृते सर्वं साधितम्। पुनर्येन सर्ववादे=योगयज्ञादयः साधिताः=आरब्धाः सकामतया, तदा, एक=आत्मविचारो नश्यति। देहभावात्। उलटि= विपर्यासेन प्रत्यग्ज्ञानेन, मूलं=परमात्मानं, 'सोऽहमस्मी'त्यभ्यासं वारिणा सिञ्चति, तदा ज्ञानपुष्पाणि विकसन्ति। फरे=ज्ञानद्वारा विज्ञानामृतेन फलेन, अघाय=तृप्तो भवतीत्यर्थः॥२८०॥

मैं एक (अद्वितीय) हूँ यह साधने से सब कुछ सध जाता है। सकाम दृष्टि रख कर योग-यज्ञादि के साधन में प्रवृत्त होने पर आत्म-विचार नष्ट हो जाता है, क्योंकि उसमें देह-भावना रहती ही है; इसके विरुद्ध, मैं मूल (ब्रह्म) हूं इस अभ्यास के वारि (विचार) से सींचने पर ज्ञान-पुष्प विकसित होते हैं और विज्ञान-रूपी फल भी तृप्तिदायक होता है ॥२८०॥

आगे आगे ही बरे पाछे हरियरा[1] होय।
बलिहारी तेहि (दाव) वृक्ष[2] की जरि काटे फल होय॥२८१॥

आगे इति। दवं=विचारः अग्रे अग्रे प्रबलवृत्तिं वर्धयति। पुनः दाव=ज्ञानाग्निना दर्भया, अखिल=आब्रह्मादिवैकुण्ठस्तम्भपर्यन्तो वासनाग्रन्थित्रयं देहलोकशास्त्रमतेत्याद्यखिलवासना भस्मसाद् भवति। पश्चात् धीरस्य बुद्धिर्हरिपरा भवति। बलिहारीति। वृक्षदेहः, जरि=मूलाज्ञानवासनाभंगात्, फल=शान्तिरूपमोक्षो भवतीत्यर्थः॥२८१॥

(नर-देह का लाभ यह है)। प्रथमतः (निर्मल) विचार (वैराग्य) वृत्ति को प्रबल करते हैं। उसके बाद ज्ञानाग्नि (प्रज्ज्वलित होती है जो) ब्रह्म से वैकुण्ठ तक फैली हुई लोक-मत और शास्त्र-मत रूपी वासना को जला देती है। तदनन्तर धीर व्यक्ति की बुद्धि में हरियाली आ जाती है (हरि-परा भवति)। इस देह वृक्ष की बलिहारी है जो मूलभूत (अज्ञान वासना) का छेदन करने पर शान्ति (मोक्ष) रूपी फल देता है ॥२८१॥

बैठा रहे सो बानिया खड़ा रहे सो ग्वाल।
जागत रहे सो पाहरू तिहि धरि आयो काल॥२८२॥

---

१. साखी में 'हरियरा' और व्याख्या में 'हरिपरा' स्पष्ट लिखा है।

२. साखी में 'वृक्ष' पाठ उपलब्ध है। किन्तु टीका में 'दाव' शब्द की ही व्याख्या की गई है।

बैठा रहे इति । रजस्तमोयुक्तो जीवो देहाभिमानी यो हि भवति, स एव वैश्यः इन्द्रिय-व्यापारे निपुणः। खड़ा रहे ग्वाल=अष्टाङ्गयोगाभ्यासे यस्तिष्ठति स एव गोपालः। जागत इति । येऽज्ञा अश्वमेधादिकर्मकाण्डे षट्शास्त्रवादे च रताः अहङ्कारवेष्टिता जगद्व्यवहारे जाग्रति, ते पाहरू=सर्वेषामुपदेशकर्त्तारः। तेऽपि सर्वे कालेन भक्षिता इत्यर्थः ।।२८२।।

रज और तम से युक्त देहाभिमानी जीव वैश्य है, जो इन्द्रियों के व्यापार में कुशल होता है। अष्टांग योग के अभ्यास में तत्पर व्यक्त ग्वाल है; वह सदैव जागता रहता है। अश्वमेध आदि यज्ञ और कर्मकाण्ड तथा शास्त्रवाद में निरत व्यक्ति अहंकार से आवृत होकर जगत् के व्यवहार में चतुर और उसी प्रकार, उपदेशक भी जागते रहते हैं । (अन्त में) काल इनका भक्षक है ही ।।२८२।।

सपने सोवा मानवा खोलि न देखे नैन ।
जीव परा बहु लूट में ना कुछ लेन न देन ।।२८३।।

सपने इति । सर्वे मानवाः स्वप्नवत् संसारे सुप्ताः। सत्यं मत्वातः स्वरूपं विस्मृतम् । खोलि इति । भोः, यदि=चेत् ज्ञानचक्षुषा 'सोऽहमिति' पश्यतां तर्ह्येव ज्ञानी भवति । जीव-परा=इतरे जीवाः, बहु लूटि में=नानामतवादे पतिताः। परमात्मनि, ना कुछ ले=दानादानेन; ग्रहणत्यागोऽपि नेति भावः ।।२८३।।

सभी मनुष्य इस स्वप्नतुल्य संसार में अपने स्वरूप को भूलकर सोये हुए हैं। ज्ञान-नेत्र से अपने स्वरूप का दर्शन करने वाला ही (यथार्थ) ज्ञानी है, जब कि मत-वाद में सभी उलझे ही रहते हैं। परमात्म-स्वरूप में न तो कुछ लेना ही है और न कुछ देना ।।२८३।।

जंत्र बजावत हो सुना टूटि गए सब तार।
जंत्र बिचारा क्या करे गए बजावनिहार ।।२८४।।

जंत्रेति । जंत्री=यन्त्रवादक ईश्वरः। यन्त्राणि=ब्रह्मादयः कीटपतङ्गमशकपर्यन्ताः। प्राणरूपेण सर्वयन्त्राणि वादयति। टूटि गये=प्राणं विना सर्वे, तार=इन्द्रियगणा म्रियन्ते शुष्यन्ते। जंत्रेति। जंत्र=देहः कं पराक्रमं कुरुते ? बजाव=वाद्यवादकश्चैतन्यरूप आत्मा देहान्निर्गच्छति ततः किमिति भावः ।।२८४।।

ईश्वर प्राण-रूप से ब्रह्मा से कीड़े-मकौड़े तक सब यन्त्र बजाता रहता है। प्राण के बिना सभी तार (इन्द्रिय-गण) शक्तिहीन हो जाते हैं । चैतन्य-रूप आत्मा देह से पृथक् हो जाती है। यन्त्र ही टूट जाने पर बजाने वाला भी क्या कर सकता है ? चैतन्यरूपी आत्मा के देह से प्रस्थान करने के बाद कुछ नहीं रह जाता ।।२८४।।

हौं तो सब ही की कही मेरी कहे न कोय।
मेरी कहे सो जना जो मुझ हो सा होय ।।२८५।।

हौं तो इति । श्रीनारायणवाक्यमाह । साक्षीरूपेण सर्वस्मै वक्ष्येऽहम्—'अहं ब्रह्मास्मीति' कथयामि। श्रुति सद्गुरुद्वारा वर्णयामि । मेरी कहे='तत्त्वमस्यादि' श्रुतिवाक्यं ब्रह्माह।

कश्चिन्न वदति। मेरी कहे इति। मम वाक्यम्—'आत्मैवाहमस्मीति'[1] [यो] जानाति स मत्स-दृशो भवति। यथाहं तथा स इति भावः ॥२८५॥

साक्षी की भाँति कबीर ने श्री नारायण की यह उक्ति कही है—मैं कहता हूं कि मैं ब्रह्म हूँ। यही वर्णन मैंने श्रुति और सद्गुरु के द्वारा किया है। 'तत्त्वमसि (वह तू ही है)' यह वाक्य मैंने कहा है। जो (इसका आशय) जान लेता है वह मेरे समान (मुक्त) हो जाता है ॥२८५॥

औरनि के समुझावते जिभ्या परिगौ रेत।
राशि बिरानी राखते खायिनि घर का खेत ॥२८६॥

औरनि इति। ये शास्त्रज्ञा इतरेषामात्मविद्यां बोधयन्ति, ते रसनया स्वयं तु, रेणुं = मलिनकर्माश्निन्ति। राशि = जनसमूहस्य ज्ञानोपदेशेन रक्षां कर्तुमिच्छन्ति; खायिनि घर के = स्वक्षेत्रे प्रकाशकमात्मानं न जानन्ति। स्वयं त्वाचार्या इति भावः ॥२८६॥

शास्त्रों के जानकार इस प्रकार के भी होते हैं कि वे दूसरों को बोध देकर उनकी रक्षा (उत्थान) करने की अभिलाषा प्रदर्शित करते हैं, किन्तु स्वयं दुष्कर्म में लिप्त हैं। वे क्षेत्र के प्रकाशक आत्मा को नहीं जानते ॥२८६॥

गुणिया तो गुण ही कहे निर्गुण गुणहिं घिनाय।
बैल हिं दीजे जामफल[2] का बूझे का खाय ॥२८७॥

गुणिया इति। ये सगुणोपासका विश्वरूपं नारायणं सगुणं वदन्ति, रामकृष्णाद्यवतारं सगुणं वदन्ति, ये निर्गुणोपासका निर्गुणम्, नानारूपाणि नामानि च न सन्तीति निर्गुणं वदन्ति। परं तु ज्ञानं विनाऽन्योन्यं युद्धचन्ति। बैल हिं = मतवादिनो वृषभाः, तान्प्रति जामफलवदात्म-ज्ञानं वदामि चेत्तर्हि को जानाति स्वादम्? न कोपीति दृष्टान्तमाह—यथा वृषभो जामफलान्य-श्नाति, स्वादं न जानातीत्यर्थः ॥२८७॥

सगुण के उपासक विश्वरूप नारायण और उनके अवतारों को 'सगुण' निरूपित करते हैं, इसका कारण यही है कि उनके (नारायण के) अनेक रूप और नाम नहीं हैं। इसी से अन्य लोग उन्हें निर्गुण बतलाते हैं। यथार्थ ज्ञान न होने के फलस्वरूप वे इस प्रकार परस्पर वाद-विवाद में मग्न रहते हैं। उन्हें न तो सच्चा ज्ञान है और न अनुभव। बैल जामफल खा जाता है पर वह उसका स्वाद नहीं जानता ॥२८७॥

---

१. तुलनीय—श्रद्धान्वितस्तत्त्वमसीति वाक्यतो गुरोः प्रसादादपि शुद्धमानसः
विज्ञाय चैकात्म्यमथात्मजीवयोः सुखी भवेन्मेरुरिवाप्रकम्पनः ॥
(रामगीता, अध्यात्म रा०, उ० कां०, ५,२४)।

२. पा०—जायफल (सं० बी० ब०)।

गुरु माथे[1] से ऊतरे शब्द विमूखा होय।
वाको काल घसीटि है राखि सकै नहिं कोय ॥२८८॥

गुरु इति। गुरुर्गरीयान्, सर्वशिरोभागः=आत्मविचारः। तस्माद्रहितः शब्दविमुख आत्मैवाहमस्मीति न जानातीत्यर्थः। अतोऽज्ञः, स्वतो निरक्षरो वा, शब्दो न भवति ततो, बहिर्मुखो=बाह्यकथा वदति, ताको=अन्ते कालवशात् चतुराकरेषु[2] घसीटिहे इत्याकर्ण्यते। पुनः पुनर्जायते। कालपाशात्कोऽपि न मुच्यते इत्यर्थः ॥२८८॥

आत्म-विचार सर्वोपरि है। इससे रहित व्यक्ति यथार्थ ज्ञान से दूर ही है। वह नहीं जानता कि वह स्वयं आत्मा है और इसी कारण वह बाहरी (असम्बद्ध) कथाएँ कहता रहता है। वह व्यक्ति सत्य ज्ञान को न पाकर काल के द्वारा चारों योनियों में घसीटा जाता है और पुनरावर्तन के फेर में भी पड़ता है। काल-पाश से कोई भी मुक्त नहीं है ॥२८८॥

जाहि खोजत कल्पे बीते घटहिं में सो मूल[3]।
बाढ़े गर्व गुमान ते ताते परिगो दूर ॥२८९॥

जाहीति। यं परमात्मानं मृगयितुं बाह्यदृष्टीनां वैकुण्ठादिषु व्रतादिषु चान्यत्र वस्तु दृश्यते, अन्यत्र कथं [स] मिलति? मृग्यमाणः सन् कल्पावधिपर्यन्ता अब्दा व्यतीयुस्तथापि न मिलितः। स आत्मा सर्वमूलकारणं स्वहृद्यास्ते,[4] विस्मृतकण्ठमणिवत्। बाढ़े गर्वेति। अहं शास्त्रवेत्ता, योगाभ्यासी, तपस्वी, पण्डितोऽहमित्यादि गर्व=अभिमानेन मोहिताः सर्वे। अत आत्मज्ञानात्, परिगो दूर=दूरं गच्छन्तीति भावः ॥२८९॥

बाह्य दृष्टिवाले व्यक्ति परमात्मा का निवास वैकुण्ठ में मानते हैं और उनके दर्शन की अभिलाषा से व्रत आदि भी करते हैं। इस प्रकार परमात्मा की खोज करते करते कल्प बीत गए पर निष्कर्ष कुछ भी नहीं निकला। वस्तुतः सबका मूल कारण आत्मा अपने हृदय में ही विद्यमान है। यह न जानने वाले अभिमान से मोहित है। इतनी लम्बी अवधि व्यतीत हो जाने पर भी हम परमात्मा को स्वयं से दूर ही देखते हैं ॥२८९॥

जरा मरण बालापना चारि[5] अवस्था आह।
जस मुसवाहि तके बिलइया अस जम घात लगाय ॥२९०॥

---

१. पा०—सीढ़ीं (सं० बी० ब०)।
२. चारों योनियाँ; सं० ९६ पर पादटिप्पणी देखिए।
३. पा०—जिहि खोजत कल्पो गया घटहिं हती सों मूर। (सं० बी० ब०)।
४. तुलनीय—तमात्मसंस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् (कठ उ०, १,१२-१३)।
५. यहाँ चार के बदले तीन ही अवस्थाएँ बतलाई हैं। अतः सं० बी० ब० का पाठ मान्य है—'जरा युवा कुमार बालपन'।

जरामरणेति। भोः, अस्य देहस्य चारि अवस्थाः—बाल्यं, तारुण्यं, यौवनं, जरेति। पुनरन्ते देहस्य मरणं भवति। दृष्टान्तेनाह—मार्जारी मूषकं यथा घातयति, तद्वद्यमराजः प्राणिनां घातं करोतीत्यर्थः ॥२९०॥

इस देह की चार अवस्थाएँ होती हैं—बचपन, तारुण्य, यौवन और जरा। इनके व्यतीत हो जाने पर देह का मरण हो जाता है। यमराज सभी प्राणियों का अन्त करता है जैसे बिल्ली चूहे का करती है ॥२९०॥

पारस परसि ताम्र भो कंचन बहुरि न ताँबा होय।
परिमल वास परासहिं वेधे काठ कहै नहिं कोय ॥२९१॥

पारसेति। पारस=सद्गुरुः। तस्य स्पर्शं विना मुमुक्षुस्ताम्रवज्जडरूपः। गुरोरुपदेशेनात्मैवाहमित्यभ्यासेन काञ्चनवन्निर्मलो भवति। बहुरि ताम्र=पुनरज्ञो न भवति यथा पारसस्पर्शनाल्लौहं सुवर्णं भवति। परिमल=मलयाचलगन्धेन पलाशो विध्यते, सोऽपि गन्धवान्भवति, काष्ठत्वं नश्यति [तस्य]। ईदृशी महतां संगतिरित्यर्थः ॥२९१॥

सद्गुरु पारस है। उसके संसर्ग के बिना मनुष्य ताँबे की भाँति जड़ ही है। गुरु के उपदेश से व्यक्ति सुवर्ण सरीखा निर्मल हो जाता है। तू आत्मा ही है यह उपदेश वह देता है। मलय पर्वत की गन्ध से जो पलाश बींधा जाता है (उस से सुवासित होता है) वह भी सुगन्धित हो जाता है और उसका काष्ठत्व जाता रहता है। महान् व्यक्तियों की संगति इस प्रकार की होती है ॥२९१॥

ताहि न कहिये पारखू पाहन लखे जो कोय।
नर नग या दिल जो लखे रतन पारखू सोय ॥२९२॥

ताहि इति। पाहने=अन्तःकरणे ब्रह्मविचारं 'सोऽहमस्मीति' न लखति स परीक्षको न कथ्यते। नर इति। नर नग=मानुषवपुर्लब्ध्वा[1] आत्मैवाहमस्मीति स्वान्तरे यः प्रेक्षते, स एव रत्नपरीक्षकः। स एव ज्ञानी भवति ॥२९२॥

जो व्यक्ति 'सोऽहं (मैं वहीं हूँ)' यह नहीं समझता, वह पारखी नहीं है। नरदेह पाकर 'मैं आत्मा ही हूँ' यह अनुभव जिसे हो जाता है, वही सच्चा रत्न-परीक्षक और ज्ञानी है ॥२९२॥

नग पाषाण जग सकल है लखवैया सब कोय।
नर[2] नग उत्तम पारखू जग महँ बिरलै होय ॥२९३॥

नगेति। भोः, इदं सर्वं जगत्, नग=हीरा, प्रकाशकः। पाषाण=उपलवत्, है=अस्ति। लखवैया कोई=एषां मध्ये कश्चिदेवात्मविचारं पश्यति। नराणां मध्ये उत्तमनगस्येव परीक्षकः

---

१. तुलनीय—नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पम् (भागवत, ११, २१, १७)।

२. पोथी में 'नल' लिखा है।

इह जगति कश्चिद्विरलो जनः[1] ॥२९३॥

सारा जगत् हीरों (प्रबुद्धों) और पाषाणों (मूर्खों) से भरा है। इनमें से जो आत्म-विचार करता है वह उत्तम नग बन जाता है, ऐसे बिरले ही होते हैं। यह न करने वाला जड़ ही रहता है ॥२९३॥

जासों दिल नहिं मिलिया शब्द न वेधा अंग।
कहहिं कबीर पुकारिकै, हंस बके का संग ॥२९४॥

जासों इति। सद्गुरुर्ब्रवीति—यस्मिन् चित्तं न मिलति, उपनिषज्जन्यशब्देन यस्याङ्गं न विध्यते, यस्मिन्, कहेति = कबीरो विद्वानुच्चैः स्वरेण नदति—हंसबकयोः संगः। यथा हंसः क्षीर-नीरयोः पृथक्कर्त्ता, तथा ज्ञानी पञ्चकोशशरीरात् स्वरूपं भिन्नं करोति। बको विषयासक्तो मलिनः। द्वयोः संगो न भवतीत्यर्थः ॥२९४॥

जिस व्यक्ति से चित्त मेल नहीं खाता और उपनिषदों का ज्ञान जिसके शरीर को नहीं बेधता, उसके साथ रहना बगुले के संग जैसा है। हंस को ऐसे व्यक्ति के साथ नहीं रहना चाहिए। हंस दूध और पानी को अलग अलग कर देता है और बगुला विषयों में आसक्त रहता है। इन दोनों की मैत्री नहीं हो सकती ॥२९४॥

श्रोता तो घर में नहीं वक्ता बके सो वादि।
श्रोता वक्ता एक घर कथा कहावे आदि ॥२९५॥

श्रोतेति। श्रोता शृण्वन्नप्यन्तःकरणे विचारं = मननं न करोति। वक्ता पुनः पुनः कथयति तं प्रति, तत्तु व्यर्थम्। श्रोता वक्ता चोभावेकोऽहमिति, घर = अन्तःकरणे जानाति, पुनरन्योन्यं श्रोतृवक्तारौ कथयतः सा आदिकथा भवति। श्रवणे श्रोता जानाति सोऽहं कथने वक्ते-त्यर्थः ॥२९५॥

(उपदेश) सुनने पर भी जो मनन न करे उसे बार-बार कहना व्यर्थ ही है। अभीष्ट तो यही है कि श्रोता और वक्ता एक ही व्यक्ति हो। (कहना है तो स्वयं को कहिए—वही कहे, ही सुने—एकान्तवासी योगी का वर्णन) ॥२९५॥

जीवघात नहिं कीजिये[2] बहुरि लेत वै कान।
तीरथ गये न बाँचिहु कोटि हीरा देहु दान ॥२९६॥

जीवेति। भोः प्राणिन्, जीवान् = मेषमत्स्यादीन् मा हिंसथ। यदि न मन्यसे, पुनरन्य-जन्मनि ते जीवास्त्वां हिंसिष्यन्ति; वैरं न मुञ्चन्ति। गङ्गादितीर्थेषु स्नानं कुरुथ, कोटिशो हीरा = रत्नसुवर्णदानानि देहि, तदपि पापं न मुच्यते भोगं विनेति भावः ॥२९६॥

प्राणियों, हिंसा मत कीजिए, भेड़-बकरी और मछलियाँ मत मारो। यह कृत्य

---

१. द्रष्टव्य— भ० गी०, ७, ३।

२. तुलनीय— न हिंस्याद् भूतजातानि (भागवत, ६, १८, ४७)।

प्रतिहिंसा को जन्म देता है, चाहे वह दूसरे जन्म में हो। गंगा आदि तीर्थों में स्नान और सुवर्ण-दान से हिंसा का पाप नहीं छूटता। वह तो भोगना हो पड़ता है।।२९६।।

पल में परले[1] बीतिया लोग हि लागु तिवारि[2]।
आगिल सोच निवारि के पाछिल करहु गुहारि ।।२९७।।

पल में इति। भोः प्राणिन्, अद्य चेतताम्। देहस्य क्षणे=पलेऽपि विश्वासो नैव, कदा प्रलयो भविष्यति। लोगहि=सर्वे त्रिधातापैर्दह्यमानाः, आगि=आदौ वर्णाश्रमधर्मरूपं शोकं निवारयित्वा, पाछि=ततः पश्चात्, गुहारि=ब्रह्मविचारं कुरु। उपशमो भवेत्यर्थः ।।२९७।।

प्राणियों आज ही चेतो। शरीर का क्षण मात्र का भी भरोसा नहीं है। कह नहीं सकते कि कब इसका अन्त हो जाय। तीनों प्रकार के तापों से व्यथित सभी हैं। सर्व प्रथम, वर्णाश्रम-धर्म का निवारण करके उसके बाद ब्रह्म का विचार करके मोक्ष प्राप्त कीजिए।।२९७।।

ऊपरि की दोऊ गई हिय हु कि फूटी आँखि।
कबिर बिचारा क्या करे जो जिवहिं नाहीं झाँकि ।।२९८।।

ऊपर की इति। ऊपरि=चर्मनेत्रेऽपि विनाशः। हृदये विचाररूपा बुद्धिरपि नश्यति। कबीरः = सद्गुरुः किं करोति यदि जीवो गुरुसकाशात् ज्ञानविचारं हृदये न करोति ? अतः गुरोः को दोष इति भावः ।।२९८।।

दोनों चर्म-नेत्रों का तो विनाश (तेज-लोप) हो ही गया। हृदय की विचार-पटु बुद्धि भी (किसी दिन) नष्ट हो ही जायगी। सद्गुरु के पास जाकर ज्ञान की प्राप्ति नहीं की तो विचारा गुरु भी क्या कर सकता है।।२९७।।

भक्ति पियारी राम की जैसी प्यारी आगि।
सारा पट्टन जरि गया फिर फिर ल्यावे मागि ।।२९९।।[3]

भक्ति पियारीति। भक्तिः रामभक्तानां प्रिया यथाग्निः प्रियः।[4] कुतः ? अग्निर्भगवान् सर्वपुरपत्तनं राजधानीं ददाह। सर्वेषां सकलवस्तूनि भस्मसादभवन्। तमेवाग्निं सर्वे जनाः पुनः पुनर्याचित्वा महानसादिसर्वं कार्यं कुर्वन्ति, न त्वग्नौ वैरम्। तथा रामाग्निना शरीरे रागद्वेषादि-सकलविकारो दह्यते।[5] पुनः पुनः स एवाभ्यासः शरीरपातपर्यन्तं कर्तव्य इत्यर्थः ।।२९९।।

राम के भक्तों को भक्ति वैसी ही प्यारी है जैसे अग्नि। जो अग्नि नगर, उस का हाट और उसकी राजधानी को भस्म कर देने की सामर्थ्य रखती है उसे,

---

१. =परलय (प्रलय)।
२. =तमारि (सूर्य)। यही यहाँ चाहिए। तिवारि अशुद्ध लिखा है।
३. पोथी में साखी संख्या २९८ के बाद ३०० है। यहाँ क्रमवार संख्या दी गई है।
४. विशेषतः शीतकाले।
५. तुलनीय भ० गी० १४,२६।

प्रार्थना पूर्वक प्रज्वलित करके भोजन तैयार करना आदि सब कार्य करते ही हैं। अग्नि से किसी की शत्रुता नहीं। इसी प्रकार राम-रूपी अग्नि से राग, द्वेष आदि सभी विकार नष्ट हो जाते हैं। शरीर के अन्त तक यही अभ्यास बार-बार करना योग्य है ॥२९९॥

अंकुर ते बीज बीज ते अंकुर अंकुर बीज सँभारे।
काया ते कर्म कर्म ते काया कोई बिरला जना निखारे ॥३००॥

अंकुरेति। सर्वोत्पत्तिस्थानं बीजरूपं ब्रह्म। तस्माद् ब्रह्मादयोऽङ्कुरा जाताः, यथा बीजेऽङ्कुरोद्गमः अङ्कुरे च बीजम्। अतो बीजं सर्वाधारभूतं परमानन्दं सम्यक् जानीयात्। कायेति। कायेन कर्म भवति; कर्मणा = वासनया देहो जायते। इमं निर्णयं कश्चिद्विरलो जानाति।[1] अत्र प्रमाणं भगवद्गीतोपनिषदि—'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।'[2] इति सत्यमेवाभिप्रायः ॥३००॥

सबका उत्पत्ति-स्थान बीज रूप ब्रह्म है। ब्रह्मा आदि उसके अंकुर हैं। इस प्रकार बीज से अंकुर और अंकुर से (फिर) बीज उत्पन्न होता है। अतएव बीज ही सब का आधार है; वह ही परम आनन्द है। यह बात भली भाँति जानना योग्य है। देह से कर्म, कर्म से वासना और वासना से पुनर्जन्म होता है यह निष्कर्ष बिरले ही जानते हैं। इसका प्रमाण भगवद्गीता में है, जहां कहा गया है कि हजारों मनुष्यो में बिरला हो व्यक्ति सिद्धि-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है और उन प्रयत्नशील सिद्धों में भी मुझे (भगवान् को) वास्तविक रूप से कोई ही जानता है (जान सकता है) ॥३००॥

इति श्रीमत्सद्गुरुपूज्यकबीरचरणाब्जभृङ्गायमान बोधानन्देन विरचितायां विज्ञानबीजप्रदीपिकायां साखीव्याख्या सम्पूर्ण (सम्पूर्णा)। शुभं भवतु ॥

●

१. द्रष्टव्य—धर्मे तरौ तत्र पुनः शरीरकं, पुनः क्रियाश्चक्रवदीर्यते भवः ॥
धर्मेतरौ तौ=शरीरोद्भवः क्रिया (कर्म) च। (रामगीता, श्लो० ८)

२. तुलनीय—भ० गी०, ७,३; भागवत, ११,१४,२५ आदि।

कबीर-वाणी

(साखी-भागस्य संस्कृत-रूपान्तरम्)

□

प्राक्कथनम्

साहित्याकाशशीतांशोः कबीरस्यैष सङ्ग्रहः ।
विवृतो देववाण्यात्र विदुषां प्रीतये भवेत् ॥१॥

कबीररोपितोद्यानकुसुमामोदसञ्चयः ।
भवत्वेष सुपर्वाणवाणीमधुपतुष्टये ॥२॥

सकामकर्मविटपोच्छेदे परशुसन्निभा ।
ज्ञानमार्गोपदेशेन भक्तिमार्गप्रदर्शिनी ॥३॥

तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थैर्मोक्ष-पीयूषवर्षिणी ।
गुरूपदेशसच्छास्त्र - साधुसेवावलम्बिनी ॥४॥

वेदत्रयोपदेशाढ्या ग्रथितैषा त्रिवेदिना ।
कबीर-त्रिशती रम्या भवेद् विद्वद्विभूषणम् ॥५॥

कबीरकृतीनामोजस्वितया महत्त्वेन च समाकृष्टः कविवरेण्यो रवीन्द्रनाथठक्कुरमहोदयोऽस्य कवेः कतिचित्पद्यान्याङ्गलभाषायामनूदितवान् । तदनुसारमेवास्माभिर्विरचितोऽस्य कवेः 'साक्षि' प्रकरणस्य समश्लोकी संस्कृतानुवादो विदुषां रसास्वादनायात्र प्रस्तूयते ।

वस्तुतस्तु एष न वाक्यानुवादो न च शब्दशोऽनुवादो वा, किन्तु भावानुवाद एव । यतः कबीरस्य विचारसरणिप्रदर्शनमेवास्माकमत्र प्रमुखं ध्येयम्, तच्च शब्दशोऽनुवादेन न सम्भवेत् । अनेकेषु च प्रसङ्गेषु, आवश्यकतानुसारं, व्याख्याकारस्य बोधानन्दस्यापि विचाराणां समावेशोऽत्र विहितः ।

'साखि'-प्रकरणेऽनेकानि पद्यानि 'मुक्तका'न्येव; अतस्तेषु क्रमभङ्गोऽप्यस्त्येव, यथान्येषु प्रसङ्गेष्वपि । अथ च —अत्रान्तर्गतानां प्रहेलिकानां (उलटबाँसियाँ) समश्लोकी अनुवादस्तात्पर्यं च श्लोकेनैकेन नावगम्यते स्पष्टतया, यथा षट्संख्याङ्किते पद्ये श्लोकेनैकेन स्पष्टो भवति; अतः श्लोकद्वयस्यावश्यकतात्र, यथा—

ज्ञानस्वरूपो जीवोऽसौ ब्रह्मैवेति न संशयः ।
मालिन्यं 'तत्त्वमस्यादि'वाक्यैस्तस्यापसार्यते ॥

पृथगेव जगज्जालैस्तिष्ठन् स न विलिप्यते ।
कुक्कुटी पद्मपत्रं वा यथा सलिल-सीकरैः ।।

एवमेव च, नवपञ्चाशत्संख्याकस्य पद्यस्यानुवादः श्लोकद्वयेनैव सुस्पष्टो भवति, विशेषां च कमनीयतामाधत्ते, यथा—

मनःखगस्य सङ्कल्पविकल्पात्मक-पक्षती ।
छिनत्ति ज्ञानबाणेन गुरुः शिष्योपदेशकः ।।
विचित्रं यद् गृहे नष्टे छादनं तु सुरक्षितम् ।
दग्ध्वाधरस्थमज्ञानं शश्वच्छान्ति दिशत्यसौ ।।

अत्र श्लोकानां क्रमश्च यथोपरि व्याख्यायां प्रदर्शितस्तदनुसारमेवात्रास्माकं प्रयत्नः, यद्यप्यन्यान्यैष्टीकाकारैर्विविधरूपेणास्य कवेः पद्यानां व्याख्या विहिता यया च ज्ञायत एव। कुत्रचिच्च पारस्परिकसम्बन्धस्योपयोगितामनुभूय भावानुवाद एव विहितः ।

एवमनेकविधकाठिन्यमनुभवद्भिरस्माभिर्विहित एष प्रयत्नो विदुषां मोदाय भवेदित्याशास्महे। वस्तुतस्तु, 'कबीर-सप्तशती' रचनयैवास्माकं परिपूर्णः स्यादेष सङ्कल्पः, तत्कार्यं चेश्वराधीनं, विदुषामभ्युपपत्त्यधीनं च ।

अन्ते च विभिन्नैः कारणैः विशेषतश्च वार्धक्येन यानि स्खलितान्यत्र सञ्जातानि, तेषां विषये क्षमां प्रार्थयन्तो वयं पूर्वैरुक्तामध्येषणामेवानुवच्मः, यथा—

'गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ।।'

अथ च—

अद्वैतं निरुपाधि निर्गुणमजं सृष्टेः परं कारणं
चैतन्यं सचराचरेऽत्र भुवने प्रोक्तं कबीरादिभिः ।
निर्धूताखिलकल्मषैरवगतं रामाख्यमोजः परं,
ग्रन्थेऽस्मिन् प्रतिपादितं प्रजनयेत् शान्ति धरित्रीतले ।।

३३, शंकरबाग,
इन्दौर-४५२००६ (म०प्र०)

विदुषां वशंवदः
हरिहरस्त्रिवेदी

॥ श्री ॥

कबीर-त्रिशती

कबीरस्य साक्षि-पद्यानां समश्लोकि-संस्कृतभाषात्मकं रूपान्तरम्

(बोधानन्दस्य व्याख्यायाः परिप्रेक्ष्ये)

☐

पञ्चतत्त्वमये पिण्डेऽनुस्यूतं ब्रह्म चिन्मयम् ।
पृच्छामि विद्वन्स्त्वां शब्द-जीवयोः को महत्तरः ॥१॥

पञ्चतत्त्वात्मको देहो, नामरूपे तु कल्पिते ।
चैतन्ये निर्गते चायं मृत एवेति निश्चितम् ॥२॥

एभ्यो भिन्नमदृश्यं च चित्तत्त्वं देहसंस्थितम् ।
विरलास्तस्य मर्मज्ञा गुरोरेव च सेवया ॥३॥

अहं तदेव चित्तत्वमिति ज्ञानं तु मोक्षदम् ।
एतद्बोधविहीनस्तु कर्ममार्गेऽनुधावति ॥४॥

जीवस्य रङ्गो द्विविधो मायाचैतन्यभेदतः ।
मायारङ्गाज्जडो नूनं चैतन्याच्चिन्मयस्त्वसौ ॥५॥

देहाद्भिन्नोऽस्ति जीवात्मा कमलं सलिलाद्यथा ।
मालिन्यं तत्त्वमस्यादिवाक्यैस्तस्यापसार्यते ॥६॥

एक एवाचलो नित्योऽखिलवस्तु-प्रकाशकः ।
आत्मा विगीयते शास्त्रैस्तेन सर्वमिदं ततम् ॥७॥

अतः प्रतिपलं सोऽहमिति ध्यानपरो भव ।
बाह्यमाडम्बरं मालातिलकादि-न मुक्तये ॥८॥

ब्रह्मैवाहमितिध्यानाद्वासना विपलायते ।
ततश्च हित्वा भोगेच्छां मुच्यते संसृतेर्नरः ॥९॥

तत्त्वमस्यादिवाक्येभ्यो न भेदो ब्रह्मजीवयोः ।
तस्मात्सोऽहमितिध्यानमेव मोक्षप्रदायकम् ॥१०॥

ब्रह्मैवाहमिति ज्ञानं विना जीवो न मुच्यते ।
श्रेयस्करं च तद् ज्ञानं लभ्यते गुरुसेवया ॥११॥

समष्टिव्यष्टिनगयोरुपर्यानन्दपादपः ।
निर्वासनमनोभृङ्ग-विषयः समवस्थितः ॥१२॥

जीवन्मुक्तो वसत्यत्र स्थाने दूरेऽतिलौकिके ।
निष्कामकर्मशीलानामेव तत्र मतिर्भवेत् ॥१३॥

अनात्मवादिनां सङ्गान्न तत्स्थानमवाप्यते ।
अतो निजोद्यमैरेव तत्स्थानं प्राप्तुमर्हसि ॥१४॥

जीवो बद्ध इति भ्रान्तेरविद्यैवास्ति कारणम् ।
अतो ह्यविद्यामुत्सार्य स्वयं पाथेयवान् भव ॥१५॥

उपाधिच्छन्न आत्मैव देहं स्वमिव भावयन् ।
आपातमधुरास्वादान् भोगान् मौर्ख्यात्समश्नुते ॥१६॥

इष्टं विस्मृत्य भोगेषु मग्नमेतत् जगत्त्रयम् ।
समुद्गृहीतेषु तिलेषूद्युक्तं तत् तुषग्रहे ॥१७॥

एवं - विधेषु दुष्कर्मरतेषु जडबुद्धिषु ।
सुधोपदेशः स्यादाशीविषेष्विव निरर्थकः ॥१८॥

स्रक्चन्दनादिविषयान् भोगतृष्णाविषं तथा ।
रुद्ध्वा जानीहि चिन्मात्रं व्याप्तं साधो स्वविग्रहे ॥१९॥

वेदस्मृतिपुराणेषु यद्यत्समुपदिश्यते ।
तस्य सर्वस्य निष्कर्षः सोऽहमस्मीति भावना ॥२०॥

निलीयते देहदर्पस्तत्त्वमस्यादिचिन्तनैः ।
माया चेयं तदा नश्येत् सिद्धिः स्याच्च समीपगा ॥२१॥

एवं ज्ञानी बुद्धियोगादुन्नतं गिरिमास्थितः ।
सद्गुरोरुपदेशेनाविद्यापारमवाप्नुयात् ॥२२॥

एवमुच्छ्रितपन्थानमारुह्य विमलाशयः ।
याहि पूर्वैरनुसृतं रामस्योच्छ्रितमास्पदम् ॥२३॥

लब्ध्वापि नरदेहं यः कुरुते नात्मचिन्तनम् ।
सम्यग्ज्ञानविहीनः सोऽनुगच्छेत् संसृतिं पुनः ॥२४॥

पाथेयवान् भवात्रैव पुरोमार्गस्तु दुस्तरः ।
नित्यशान्तिरलभ्या स्यादिन्द्रियार्थावृते पथि ॥२५॥

बाल्यात्प्रभृति शास्त्रादिपठने विहितश्रमम् ।
मनोऽवटे चेन्निपतेत् ततो नोद्धरणं क्षमम् ॥२६॥

यथा वनाद् विद्रुतोष्ट्रः कान्तारेष्वपचीयते ।
तथा ध्येयच्युतं चेतो विषयेष्ववसीदति ॥२७॥

तीव्रवैराग्यवानेव लभते स्वात्मदर्शनम् ।
देहबुद्धिं ततस्त्यक्त्वा पूर्णबोधो भवत्यसौ ॥२८॥

चैतन्यरूपोऽहमिति ज्ञानमेव हितं मतम् ।
न तथा शास्त्रपठनं न च तीर्थं न चार्चनम् ॥२९॥

ये ये स्वमतवादेषु विवदन्ते परस्परम् ।
वासनाविष्टमनसस्तेऽप्यक्षसुहृदो मताः ॥३०॥

इन्द्रियासक्तजीवस्तु स्वरूपं नैव बुद्ध्यति ।
नानाक्रियाभिश्च देहमांसं शोषयते वृथा ॥३१॥

छिन्नौ कर्णौ न युज्येते, छिन्नाम्रो नाङ्कुरायते ।
स्वर्णीभूतस्तथा लोहो न पुनर्लोहतां व्रजेत् ॥३२॥

जगद् ब्रह्ममयं बुद्ध्वा जीवन्मुक्तो भवेन्नरः ।
आशापाशं विमुच्यासौ ततो मोक्षामृतं पिबेत् ॥३३॥

जीवन्मुक्तिः शास्त्रसारस्तदभ्यासो हितावहः ।
दुर्लभो नरदेहोऽयं पुनः प्राप्यो न वाथ वा ॥३४॥

स्वच्छ - प्रज्ञादर्शतले विलोक्यात्मानमव्ययम् ।
ब्रह्मैवाहं सर्वमिदं चेति ज्ञानं सुखावहम् ॥३५॥

लोकेऽस्मिन् प्रसृतं जाड्यं श्मशाने दृषदो यथा ।
ब्रह्मैवास्मीति विज्ञानीमात्रको मोक्षमश्नुते ॥३६॥

अध्यात्मनिष्ठमनसं त्रिधा-तापो न बाधते ।
चकोरश्चन्द्रनिध्यानोऽङ्गारान् गिरति निर्व्यथः ॥३७॥

सन्त्येवात्र हि निर्बोधा आत्मज्ञानविवादिनः ।
मलयाद्रौ न सर्वेऽपि तरवश्चन्दनद्रुमाः ॥३८॥

चन्दनस्य सुगन्धेन वास्यन्ते विरला द्रुमाः ।
रोहन्ति मलयक्षोण्यां न कदापि हि वेणवः ॥३९॥

जीवेश्वरौ विभिन्नौ ये मन्यन्ते मूढचेतसः ।
प्रवसन्तोऽपि नित्यं ते न विन्दन्ति परं पदम् ॥४०॥

मनस्तु चिन्तयेदन्यच्चित्तमन्यद्विगाहते ।
षडूर्म्मिसंशये मग्नो देह एवं विनश्यति ॥४१॥

औदासीन्याद् गृहं त्यक्त्वा ये तपन्ति तपो वने ।
विनाशमुपयात्येव तेषामपि कलेवरम् ॥४२॥

रामोऽहमेतदखिलं जगच्चेत्यवबुध्यतः ।
न जातु बाधते निद्रा न च व्याधिः शरीरजा ॥४३॥

रामनामरसे मग्नो न हृष्यति न शोचति ।
आत्मैवाहमिति ज्ञानी समोऽस्ति सुखदुःखयोः ॥४४॥

जडोऽपीन्द्रियवर्गोऽसावात्मनैव प्रकाश्यते ।
लोहोऽपि भवति स्वर्णं यथा हेमलचालितः ॥४५॥

गृहे गृहे किं भ्रमथ ब्रह्मविद्योपदेशकाः ।
तृषार्त्तो हि नदीं याति न सा तस्य निकेतनम् ॥४६॥

उपधाय प्रेममयं वस्त्रं साधो, प्रनृत्यताम् ।
प्रेमस्वरूप आत्मा त्वं शरीराभ्यन्तरस्थितः ॥४७॥

आत्मा शरीरसंसर्गात् संश्रयत्यभिमानिताम् ।
प्रतिबिम्बं यथादर्शे दृष्ट्वा गर्ज्जति कुक्कुरः ॥४८॥

एक एव चिदात्माहं न द्वितीयस्तु दर्पणे ।
अहं तस्मिन् स च मयीत्येवं निर्णीयते पुनः ॥४९॥

स्वात्मरूपं तु विस्मृत्य पतन्ति विषयेषु ये ।
तेषां संसारसक्तानां नोद्धारोऽस्ति कदाचन ॥५०॥

देहाद्भिन्नोऽहमात्मेति जानतो न भवेद् व्यथा ।
चकोरो हि गिरत्येव दहद्वह्निकणान् मुदा ॥५१॥

स्वानन्दोऽहं चिदात्माहं सर्वदैकरसोऽव्ययः ।
एवं यो वेत्ति युक्तात्मा स विवेकी निगद्यते ॥५२॥

चैतन्यचन्दनतरोः शिखामाश्रित्य यः स्खलेत् ।
मोहलोभाकृष्टमना मूढयोनौ स जायते ॥५३॥

सच्चिदानन्दरूपोऽहमिति योऽवैति तत्त्वतः ।
मुक्तः स एव न त्वन्यो यज्ञतीर्थादिभावितः ।।५४।।

श्रुतिवाक्यमवज्ञाय स्वविचारं न कुर्वते ।
लोकैषणानिमग्नास्ते जायन्तेऽत्र पुनः पुनः ।।५५।।

यदान्तःकरणे ब्रह्मकृशानुर्ज्वलितो भवेत् ।
तदा निर्दग्धविषयः साधकोऽमृतमश्नुते ।।५६।।

त्रुटितैर्विस्फुलिङ्गैश्च देहगर्वोऽपि दह्यते ।
वादावादे ज्वलन्त्यन्ये स्वप्रकाशं तु मौक्तिकम् ।।५७।।

अविद्यां भस्मसात्कृत्वा ज्वलन्निर्धूमपावकः ।
ज्ञानाग्न्युद्दीपनाभ्यासात् पाशः सन्दह्यते बुधैः ।।५८।।

कुवासनामयं गेहं दग्ध्वा ब्रह्माग्निवर्चसा ।
शिष्यमाच्छादयेत् ज्ञानपटलेन गुरुर्महान् ।।५९।।

विन्दुरन्तर्विशत्यब्धावेतत्तु विदितं खलु ।
बिन्दावब्धेस्तु विलयो विरलैरेव बुद्ध्यते ।।६०।।

खलस्य हृदये बद्धमूलोऽस्ति विषपादपः ।
स रोहत्येव शास्त्रोक्त्या न कदापि तु शीर्यते ।।६१।।

वार्धक्ये जीर्णतामेति चिन्ताक्रान्तं कलेवरम् ।
ज्ञानाद्विना पुनर्मृत्युः पुनर्जन्मेति शृङ्खला ।।६२।।

निर्विकल्पो भवेत्तीव्रवैराग्यादेव नान्यथा ।
वैराग्यस्याप्यथोत्पत्तिर्वासनोन्मूलनाद् भवेत् ।।६३।।

परिपूर्णं समं ब्रह्म यो भावयति सर्वतः ।
पुनरावर्त्तते नासौ ब्रह्मभूयाय कल्पितः ।।६४।।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं' यद् ब्रह्मणो वर्णनं श्रुतौ ।
तदेवाधार्यतां चित्ते तदेव च विचार्यताम् ।।६५।।

अमोघमेतद्वाणिज्यं कुरु त्वं सत्यनिष्ठितः ।
निर्मलं मानसं कृत्वा छिन्धि चाज्ञानमात्मनः ।।६६।।

जडदेहकृतं कर्म सन्दह्य ब्रह्मतेजसा ।
निरिन्धनाग्निरिवत् शान्ता भवन्त्यन्ते मुमुक्षवः ।।६७।।

एतज्जातु न शृण्वन्ति कुदर्पाध्मातचेतसः ।
सद्गुरूपनिषद्वाक्ये श्रद्धाहीनाः कुबुद्धयः ।।६८।।

न मनुष्योऽहमात्मैवेति विज्ञाय स्वमुद्धर ।
मोहक्षाराब्धिमुत्तीर्य जागृहि त्वं व्यथस्व मा ।।६९।।

व्याख्यानदक्षा बहवो वेदशास्त्रविचक्षणाः ।
आत्मज्ञानं विना त्वेते लोभमोहवशं गताः ।।७०।।

वेदादिपठने ये च वाङ्मात्रविहितश्रमाः ।
समाश्रयविहीनास्ते मज्जन्ति जगदर्णवे ।।७१।।

आत्मज्ञानं च दर्पश्च न जात्वेकत्र तिष्ठतः ।
तत्त्वमस्यादिवाक्यानामर्थं सम्यग्विचिन्त्यताम् ।।७२।।

चिद्रूपः परमात्मासावेव जीवात्मतां गतः ।
इत्यभेदस्य वेत्तारो ध्यायन्त्यात्मानमात्मनि ।।७३।।

न शरीरं नास्य कोशा नेन्द्रियाणि न वा मनः ।
एतेभ्यो भिन्न एवात्मा सोऽद्वितीयश्च कथ्यते ।।७४।।

वादावादं पक्षहठं तथा च बहुभाषितम् ।
हित्वा परमहंसस्य गुरोर्वाक्यं विचार्यताम् ।।७५।।

जिह्वासुखं मन्यमानो जल्पवादी क्षणे क्षणे ।
आन्दोलवद् भ्रमन् देही शमनेनापनीयते ।।७६।।

अनादृत्येश्वरं कर्मबन्धनं वर्णयन्ति ये ।
ताञ्छ्रुत्वा तैः सहैव त्वमन्धकूपे पतिष्यसि ।।७७।।

व्याप्तोऽस्ति देहे जीवात्मा, स विना योगचुम्बकम् ।
नैवोद्धृतो भवेज्जातु तपोदानव्रतादिभिः ।।७८।।

अतः सूक्ष्मेण मार्गेण चित्तं ब्रह्मणि योजय ।
अनासक्तः प्रवादेषु समुन्मूल्य च वासनम् ।।७९।।

ब्रह्मा विष्णुर्महेशश्च मुनयः सनकादयः ।
आसन् मुक्ता येन पथा तमेव त्वमनुव्रज ।।८०।।

न भिन्नोऽस्तीश्वरो जीवान्न च स्वर्गे वसत्यसौ ।
न चाप्यष्टाङ्गयोगेन सम्भवेत् तस्य दर्शनम् ।।८१।।

जगदुत्पत्तिविषये सन्ति वादास्त्वनेकशः ।
सर्वेऽपि ते लयं यान्ति तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।८२।।

षट्शास्त्रज्ञाः स्वस्वमतस्थापने पटुबुद्धयः ।
किं तु सर्वगतं ब्रह्म जानाति शुचिमानसः ।।८३।।

अविद्याच्छन्नमनसामहङ्कारः प्रवर्धते ।
स्वस्यानुभवतः सारं यो वेत्ति स हि बुद्धिमान् ।।८४।।

स्वर्गादिप्राप्तिविषयामाविलां त्यज शेमुषीम् ।
मनोऽब्धिकल्पनावीच्यां मा पत, ध्वंस एव सः ।।८५।।

उद्याने गन्धलोभेन यथा भ्रमति षट्पदः ।
तथा जीवोऽपि विषये भ्रमन् नैराश्यमश्नुते ।।८६।।

मतवादाब्धिजालेऽत्र निमज्जन्त्यल्पबुद्धयः ।
बद्ध्या विविच्य स्वात्मानमुद्धरन्ति मनीषिणः ।।८७।।

सार्धं मनोविहङ्गेन त्रिदेहशलभा अपि ।
डयन्ते हरिमज्ञात्वा पतन्ति त्वन्धतामसे ।।८८।।

मनसोऽनेकरङ्गस्य विषयाननुधावतः ।
अनुगामी भवत्येव जीवोऽपि प्रसभं हृतः ।।८९।।

मनःसङ्गाच्च जीवोऽपि भ्रमत्यज्ञानमोहितः ।
यथा वानरपालेन सार्धं भ्रमति मर्कटः ।।९०।।

इदं मनश्चञ्चलं च तस्करश्च प्रवञ्चकः ।
अनेन मोहिता देवा नराश्च मुनयोऽपि च ।।९१।।

अद्वैतवार्तां मा ब्रूहि मोहमग्नं जनं प्रति ।
श्रुत्वैव यां तु युक्तात्मा समाधौ भवति स्थिरः ।।९२।।

देहदर्पभुजङ्गेन दष्टमेतज्जगत्त्रयम् ।
तत्प्रभावात्स मुच्येत यो रामं भजतेऽनिशम् ।।९३।।

अनुबुद्धयस्व भो मित्र, कालः शिरसि नृत्यति ।
कर्ममार्गे गृहं यस्य न तस्य शयने सुखम् ।।९४।।

देहाभिमानिनो देहेऽन्तकोऽपि वसति स्वयम् ।
आयुर्हरणशीलं तं नैव जानाति मूढधीः ।।९५।।

वासनापरिखामध्ये मनोवेश्माधिवासिनः ।
अभिमानाहिदष्टस्य न मन्त्रं नाप्यथौषधम् ॥९६॥

मनोविलसितं त्वेतन्मायया कल्पितं जगत् ।
सभोक्तृदेहत्रितयं निर्विकल्पे विलीयते ॥९७॥

मनसो वृत्तयः क्षुब्धसिन्धुवीचिसमाः स्मृताः ।
मज्जन्ति बालिशास्तत्रोन्मज्जन्ति च विवेकिनः ॥९८॥

भोगेष्वभिनिविष्टानामसद्वर्त्तनचेतसाम् ।
स्वात्मनिश्चयहीनानां गतिरन्तेऽतिदुःखदा ॥९९॥

द्रव्योपार्जनसक्तान् यान् कामयन्तेऽनुजीविनः ।
त एव पुत्रदाराद्यैरुपेक्ष्यन्ते जरातुराः ॥१००॥

मानुषं वपुरासाद्य यो न स्यादात्मतत्त्ववित् ।
तस्यावृत्तिर्भवत्येव गजोष्ट्रादिषु योनिषु ॥१०१॥

दुर्बुद्धेर्मानसं नैवोपदेशेनापि शुद्धचति ।
गृहाङ्गणगतः श्वानः पिष्टं लेढि पुनः पुनः ॥१०२॥

अज्ञानावृतहृद्द्वारो गुरोर्वाक्यमपास्यति ।
पिष्टं लेढि यथा गेहोपविष्टो वक्रबालधिः ॥१०३॥

'त्वं तदेवेति' गुरोर्वाक्यं यो नावबुध्यते ।
बककुक्कुटयोनौ स जायतेऽत्र पुनर्भुवि ॥१०४॥

देहं मृद्भाण्डभिदुरमवबुद्ध्य विचक्षणः ।
आत्मबोधाय यततेऽसल्लोकान्मोक्षकांक्षया ॥१०५॥

प्रसारितः स्वर्णपात्रे रत्नानां दृश्यते चयः ।
यद्यस्य रोचते तत्तत् क्रेतुं पण्ये स उद्यतः ॥१०६॥

हंस, त्वं स्वर्णवर्णोऽपि श्लाघ्यो न हि मयाधुना ।
श्रेष्ठं पदं यदाप्नोषि कुर्वे ते संस्तुतिं तदा ॥१०७॥

बलवानपि हंस त्वमभवो निर्बलः कथम् ।
मायाप्रपञ्चसंसारे यस्मादेवं विमोहितः ॥१०८॥

वासनानिम्नगा यावच्चित्ते वहति हंस, ते ।
आत्मज्ञानं न जागर्त्ति तावत्परवशे त्वयि ॥१०९॥

निष्क्रामन्ति यदा प्राणास्तदा शून्यं कलेवरम्।
श्रीकबीरो वदत्युच्चैः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥११०॥

बकहंसावेकवर्णौ कासारे सहचारिणौ।
नीरक्षीरविवेक्र्येको यादांस्यत्त्यपरस्तयोः ॥१११॥

निर्बुद्धि शादहरिते चरन्तीं हरिणीं यथा।
कालव्याधः क्षिणोत्याशु तस्मात्तूर्णं प्रबुद्ध्यताम् ॥११२॥

त्रिदेहपञ्जराविष्टं पापपुण्यवितंसगम्।
देहाभिमानिनं जीवं कवलीकुरुतेऽन्तकः ॥११३॥

तीव्रवैराग्यवानेव समाधौ भवति स्थिरः।
विकलेन्द्रियवर्गस्तु शास्त्रनाम्नैव सीदति ॥११४॥

लोभाद्याविष्टमनसां पापापहृतचेतसाम्।
अज्ञानावृतबुद्धीनां पशुयोनौ भवेज्जनुः ॥११५॥

पञ्चकोशात् त्रिदेहाच्च भिन्नोऽहमिति वेदितुः।
आविर्भवति चिद्रूपं, न शास्त्रैर्न च गायनैः ॥११६॥

दुर्लभं मानुषं जन्म पुनर्भवति वा न वा।
न हि सञ्जयितुं शक्यं शाखाग्रात्पतितं फलम् ॥११७॥

तस्माद् गुरुमुपागच्छ ब्रह्मनिष्ठं जितेन्द्रियम्।
देहाभिमाने विरसं सादरं मानपूर्वकम् ॥११८॥

अभिमानभुजङ्गेन स्वात्मबोधोऽस्ति दंशितः।
तत्परित्यागतः श्रेयो ग्रहणात्तु निमज्जनम् ॥११९॥

नरदेहस्त्वयावाप्तो ज्ञानशीला मतिस्तथा।
परित्यज्यान्यमार्गास्त्वं स्वात्मध्यानपरो भव ॥१२०॥

द्वैतं वाऽद्वैतमेवेति शास्त्रार्थान्न प्रयोजनम्।
ब्रह्मस्वरूपमज्ञातं 'नेति नेतीति' वर्णनात् ॥१२१॥

निर्विकल्पानन्दमयं श्रुतिर्मूर्ध्नि प्रतिष्ठितम्।
कैवल्यरूपं प्रथितं चतुर्विधमिति श्रुतिः ॥१२२॥

चौर्यकर्मप्रवृत्तान्तःकरणानां चतुष्टयम्।
दुष्टेन मनसालोभ्य भोगगर्त्ते निपातितम् ॥१२३॥

यद्भावयन्ति मुनयस्तपोध्यानपरायणाः ।
'यतो वाचो निवर्त्तन्ते' इति वेदाः समुज्जगुः ।।१२४।।

स एकमात्रः प्रभवः सर्वेषां प्राणिनां मतः ।
तमेवाभिविशन्त्येते लोका इति च विश्रुतम् ।।१२५।।

'तत्त्वमस्यादी'ति गुरोरुपदेशो हितावहः ।
मुनिभिः शास्त्रवाण्या वा यस्य पारो न बुद्ध्यते ।।१२६।।

अकारादिक्रमेणाथ नाभि-हृत्-कण्ठ-मस्तके ।
ब्रह्मध्यानं ध्वंसयति सर्वं कर्म शुभाशुभम् ।।१२७।।

यदाप्तये ज्ञानकर्मभक्तिमार्गा निरूपिताः ।
अपरोक्षश्चिदात्मासौ हृद्येव वसति स्वयम् ।।१२८।।

दुग्धवन्निर्मले स्वान्ते साक्षादात्मा प्रकाशते ।
आत्मैवाहमिति ज्ञानविद्भिरेतन्निगद्यते ।।१२९।।

स्वात्मारामेणाप्यथैवं बोधितो यो न बुध्यते ।
अबुद्धिः स पिबन् क्षारं नाप्नोति परमां गतिम् ।।१३०।।

वर्णाश्रमसजम्बाले वासनावागुरावृते ।
अहङ्कारोच्छ्रिताभोगे विषपादपकोटरे ।।१३१।।

निवसन्तमविद्यायाः प्राङ्गणे साध्वसाकुलम् ।
अनुरुध्येद् गुरुः शिष्यं सत्यसम्बोधसम्पदा ।।१३२।।

कुलाचारे सम्प्रदाये च मृषागर्वमुत्सृज ।
मिथ्यादर्पे च न भवान् कालयापनमर्हति ।।१३३।।

उप्त्वा प्रभूतं बीजं चेत् स्वल्पमेवाप्स्यसे फलम् ।
अवमान्योपदेशं मे कथं यास्यसि निर्वृतिम् ।।१३४।।

त्यक्त्वा जात्यादिदर्पं यो निश्छलो भजते हरिम् ।
निर्वैरः सर्वसत्त्वेषु स साधुस्तत्त्वतो मतः ।।१३५।।

प्रवृत्तैर्मतवादैश्च सर्वं सम्मोहितं जगत् ।
भजते निरपेक्षो यो हरिं साधुः स वस्तुतः ।।१३६।।

अहं तपस्व्यहं योगीत्यहङ्कृतिविमोहिताः ।
श्रेयस्तत्त्वं न जानन्ति ये तेषां हि वृथा श्रमः ।।१३७।।

मायया मोहितो लोकः कामिन्या कनकेन च।
विनाशमुपयात्येव तूलवत् कृष्णवर्त्मना ॥१३८॥

मायेयं सर्पिणीवास्ते विषयेषु प्रलोभिनी।
यस्या आकुञ्चिते पाशे धीर एव न बद्धयते ॥१३९॥

सर्पस्य वृश्चिकस्यापि मन्त्रो दंशस्य विद्यते।
वासनाजालबद्धस्य न मन्त्रो नाप्यथौषधम् ॥१४०॥

न मनागपि भेदोऽस्ति जीवात्मपरमात्मनोः।
एकोऽभोक्ताऽपरो भोक्ता देहपञ्जरमास्थितः ॥१४१॥

शरीरान्तर्गतो जीवस्तैनैक्यं स्वस्य भावयन्।
सुखदुःखे देहधर्मौ स्वकीयावेव मन्यते ॥१४२॥

तस्माद्गुरुमुपागच्छेद् ब्रह्मनिष्ठं समित्करः।
अन्यथा विषयाम्बोधौ जीवो मज्जत्यसंशयम् ॥१४३॥

ज्ञात्वापि चतुरो वेदान् योऽभिमानाहिदंशितः।
कदाप्यन्तर्विचारेऽस्य ब्रह्मत्वं नोपजायते ॥१४४॥

अविद्योपाधिविच्छिन्नो जीव उद्विजतेऽन्तकात्।
अज्ञानं कारणं चात्र, देहोऽयं तु विनश्वरः ॥१४५॥

सत्त्वं रजस्तमश्चेति मायाविद्यागुणास्त्रयः।
फलानि च तयोर्विश्वतेजसौ प्राज्ञ इत्यपि ॥१४६॥

अनात्मवादिनामात्मविषयेऽल्पधियां तथा।
सङ्गं मा कुरु, ते सर्वे व्याघ्रगर्दभगोसमाः ॥१४७॥

भोगोन्मुखं चञ्चलं च मनो मत्तेभसन्निभम्।
ज्ञानाङ्कुशेनैव हस्तिचारिणेव निगृह्यते ॥१४८॥

आप्तवाक्यमनादृत्य विषयाननुधावतः।
मनोविहङ्गस्य रोधः कर्त्तव्यो हि मनीषिणा ॥१४९॥

अपि सृजन्ती विद्वेषं पितृपुत्रात्मबन्धुषु।
मायापिशाचिका सेयं न केनापि समं गता ॥१५०॥

संयोगश्च वियोगश्च देहस्यैवानुषङ्गिणौ।
तौ हित्वा भव निर्मुक्तो भुजङ्गः कञ्चुकं यथा ॥१५१॥

मायया मोहिताश्चैते ब्रह्मविष्णुशिवादयः ।
देवगन्धर्वमनुजाः साधवश्च तपस्विनः ॥१५२॥

कुक्कुरेणेव मनसा देहोऽयं भ्राम्यतेऽनिशम् ।
कालव्याधः समासन्नो विषमेयं परिस्थितिः ॥१५३॥

अतो मुमुक्षुणा ज्ञेयो भेदो देहाच्चिदात्मनः ।
यस्य ज्ञानाद्विना लोके विनाशो भवति ध्रुवम् ॥१५४॥

सद्गुरोरुपदेशेन मनो भवति निर्मलम् ।
यथा पांशुपरिष्काराद्दर्पणो दीप्तिमाप्नुते ॥१५५॥

मूर्खं बोधयितुः स्वस्याप्यात्मज्ञानं विशीर्यते ।
शिष्यः स्वयं प्रमादी चेत् सद्गुरुः किं करिष्यति ॥१५६॥

व्यभिचारिणि शिष्ये तु गुरोर्वाक्यं न तिष्ठति ।
शून्यगर्भे यथा वेणौ श्वसनं न भवेत् स्थिरम् ॥१५७॥

तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थं दर्पाविष्टो विगर्हते ।
शिष्यस्यैव प्रमादोऽसौ न दोषः कोऽपि सद्गुरोः ॥१५८॥

रसेच्छया शाल्मलिस्थो चञ्च्वाघातैर्यथा शुकः ।
कार्पासमेव लभते तद्वत् संसारिणः स्थितिः ॥१५९॥

सोऽपि पुत्रकलत्राप्तवर्गप्रहितमानसः ।
नैराश्यमवलम्ब्यान्ते विसृजत्येव विग्रहम् ॥१६०॥

वर्णाश्रमे यथा देहे दर्पमुत्स्रष्टुमर्हसि ।
ज्ञात्वा कीरस्य नैराश्यं शाल्मलिद्रुमसेवने ॥१६१॥

संसारचक्रं दृष्ट्वा मे नेत्रे बाष्पाम्बुसम्भृते ।
प्रस्तरद्वयमध्यस्थो न हि कोऽप्यपरिक्षतः ॥१६२॥

कस्य प्रत्ययमालम्ब्य जनास्तु निभृतं स्थिताः ।
घातयत्यन्तकः प्राणान् शौनिकश्छगलान् यथा ॥१६३॥

शास्त्रदक्षश्च यो लोकसामान्य इव चेष्टते ।
स वितृष्णो महाप्राज्ञो न केनाप्युपरुद्ध्यते ॥१६४॥

घनप्रहारं सहते वज्र एवेति विश्रुतम् ।
परीक्षणे यो दीर्येत कपटी मानवस्तु सः ॥१६५॥

ज्वलन्ति केशास्तृणवत् अस्थीनि च यथेन्धनम्।
तूलवच्च शवस्तद्वद् रामाग्नौ दह वासनाम् ॥१६६॥

पद्भ्यां पृथ्वीं मापयन्त उत्खानितधरास्तथा।
तुलितक्ष्माभृतश्चाद्य हन्त नामावशेषिताः ॥१६७॥

न लेखनं न वा पत्रं स्पृशन्तोऽपि कदाचन।
चतुर्युगस्य माहात्म्यमग्रे शंसन्ति साधवः ॥१६८॥

वर्णाश्रमाभिमानेनाध्माताः सर्वेऽपि मानवाः।
हरेर्निवासं वैकुण्ठे मन्यन्ते, ते त्वबुद्धयः ॥१६९॥

अपथेन न तीर्थेषु गमनं जातु सम्भवेत्।
पाखण्डे जगति व्याप्ते ब्रह्मावाप्तिर्दुरासदा ॥१७०॥

देहाभिमानी दुर्बुद्धिर्नोपदेश्यः कदाचन।
पाषाणकृतसन्धानो ज्ञानबाणो विनश्यति ॥१७१॥

लोहखण्डं न तिष्ठेत मन्दिरामलके यथा।
तथा मूर्खस्य हृदये शब्दज्ञानं न तिष्ठति ॥१७२॥

गुरूपदेशो बुद्धिश्च श्रुतिस्मृतिविलोचने।
न सन्ति यस्य तेनात्मज्ञानं कर्तुं न शक्यते ॥१७३॥

ज्ञाता, ज्ञानं तथा ज्ञेयं सर्वमेव स ईश्वरः।
चिद्रूपं तं विजानाति स एव हि महामतिः ॥१७४॥

ये ध्यायन्ति विदूरस्थं मत्वा नारायणं जनाः।
उपेक्ष्य हृत्स्थं चैतन्यं तेषां गतिरनिश्चिताः ॥१७५॥

अर्चनं यजनं चैव श्रद्धाहीनं तु निष्फलम्।
ऊषरे वापितं बीजं न कदाप्यङ्कुरायते ॥१७६॥

विस्तारितो धर्ममार्गः शास्त्रविद्भिरनेकधा।
ब्रह्मज्ञानविहीनस्तु सर्व एष निरर्थकः ॥१७७॥

न मौक्तिकानां वाहीका, हंसानां न च पङ्क्तयः।
एकाक्येव तथा सिंहो, न साधूनां च मण्डलम् ॥१७८॥

तृष्णापूर्णं देहदुग्धं शातयत्यात्मचिन्तनम्।
तदा मोहघृतस्यापि नाशात् संशुद्धिराप्यते ॥१७९॥

जीवस्य जीवनं जीव इति सर्वत्र दृश्यते।
मा हिंस्याद् भूतजातानीत्युपदेशो हितावहः ॥१८०॥

सर्वेषां साक्षिणं नित्यं जगत्सर्गादिकारणम्।
चित्स्वरूपं चिदाभासं ब्रह्म ज्ञातुं त्वमर्हसि ॥१८१॥

ब्रह्मैवाहमिति श्रुत्वा वाचं मेऽज्ञः प्रकुप्यति।
अबुद्धि किमपि ख्यातुं न विद्वान् जातु चेष्टते ॥१८२॥

कलौ दोषौघसङ्कीर्णे जनाः कुत्सितबुद्धयः।
अतः पात्रायैव देयं ब्रह्मविद्यावबोधनम् ॥१८३॥

देशे विदेशे च तथानेकाः सन्ति बहुश्रुताः।
आत्मारामो ब्रह्मवेत्ता तेष्वस्ति ननु दुर्लभः ॥१८४/१८५॥

अग्रे पृष्ठे तथा वामे दक्षिणेऽथ समन्ततः।
अध ऊर्ध्वं च सर्वत्र व्यापकं ब्रह्म संस्मृतम् ॥१८६॥

प्रवृत्तिमार्गगाः सर्वे निवृत्तौ तु तपस्विनः।
निर्विकल्पे रमन्ते ये ते हि नः साधवो मताः ॥१८७॥

सर्वमेतत् खलु ब्रह्मेत्याचार्यैः स्थापितं पुराः।
विवदन्ते कुतर्केण तथाप्यन्तरिता जनाः ॥१८८॥

देहाभिमानिनो येऽथ ज्ञानमार्गप्रमादिनः।
इतश्चेतश्च धावन्ति, मार्गः स्याद्दोषभाक् कथम् ॥१८९॥

लोकत्रयाच्च वेदाच्च परो यश्च प्रकीर्तितः।
तं यः सुधीर्विजानाति ब्रह्मज्ञानी स उच्यते ॥१९०॥

तत्त्वमस्यादिवाक्यानामर्थं यो वेत्ति तत्त्वतः।
आत्मविद्याप्रवीणोऽसौ ब्रह्मवेत्ता सतां मतः ॥१९१॥

विनम्रव्यवहारोऽस्ति सर्वकार्यार्थसाधकः।
द्वितीयायाश्चन्द्रमसं नमन्ति शिरसा जनाः ॥१९२॥

गुणैरेवाभिपूज्यन्ते मानवा जातु नान्यथा।
तेषां मांसत्वगस्थीनि नोपयोगीनि कर्हिचित् ॥१९३॥

देहाभिमानकुहरेऽज्ञानध्वान्तसमाकुले।
कुलाचारातिगहने पतितानां ध्रुवा मृतिः ॥१९४॥

अविद्यासान्ध्यतामिस्रेऽस्तं गच्छति भास्करः।
अनेकमतवादे च धर्मे वेश्यायते मनः ॥१९५॥

कर्ममार्गे नैकविधक्रियाभिः खिद्यते वपुः।
पुनर्जन्म पुनर्मृत्युश्चैवं चक्रः प्रवर्त्तते ॥१९६॥

अखिलाधारभूतापि न क्षमा दर्पगर्व्विता।
तद्रूपः सद्गुरुः सेव्यो विहायावेशमात्मनः ॥१९७॥

अहं ब्रह्मास्मीति मन्त्रे बुद्धिमाधाय निश्चलाम्।
मनोवाण्योः परं सत्यस्वरूपं ज्ञायते बुधैः ॥१९८॥

न यत्र पञ्चतत्त्वानि नोत्पत्तिप्रलयौ तथा।
स एव शान्तिरूपोऽस्ति निर्विकल्पः सनातनः ॥१९९॥

मतवादा न भासन्ते ज्ञानपूते हि मानसे।
निष्प्रभाः स्युर्यथा तारा उदिते व्योम्नि भास्करे ॥२००॥

वर्णाश्रमानुबद्धानां देहासक्तिर्विशेषतः।
देहे नष्टे निराशैव, ततः शान्तिर्दुरासदा ॥२०१॥

जीवः शरीरमाविश्य तत्तु स्वमिव मन्यते।
एषा भ्रान्तिर्मनश्चेष्टां शिथिलीकुरुते ध्रुवम् ॥२०२॥

सत्सङ्गाज्जायते सौख्यं, कुसङ्गः क्लेशकारकः।
अतस्तत्रैव गन्तव्यं यत्र साधुसमागमः ॥२०३॥

पोष्या वृत्तिर्ब्रह्मपरा विचारैर्नित्यनूतनैः।
कपर्दिकासञ्चयेन दरिद्रोऽपि धनी भवेत् ॥२०४॥

अद्यैव वा शतान्ते वा नश्यत्येव कलेवरम्।
अपक्वमृत्तिकाभाण्डे नीरं तिष्ठेत् कियच्चिरम् ॥२०५॥

हृदिस्थं सच्चिदानन्दं स्वप्रयत्नैस्त्वमाप्नुहि।
यस्याङ्गणेऽस्ति चित्स्रोतः स तृषा म्रियते न हि ॥२०६॥

न शास्त्रैर्नापि गुरुणा दृश्यते परमेश्वरः।
दृश्यते स प्रयत्नैः स्वैर्जनस्य हृदि संस्थितः ॥२०७॥

जीवरूपेण सर्वेषां हृदये स विराजते।
एतस्मात्कारणादेव जीवहत्या निषिध्यते ॥२०८॥

तीर्थं मनश्च चित्तं च कुत्रचित्पापहेतुके।
एकं विवेकहरणाद्वासनोपचयात्परम् ॥२०९॥

तीर्थं च कटुवल्लीव जनयत्यशुभं फलम्।
प्रसज्ज्येत मनो यत्र विषयेषु विशेषतः॥२१०॥

गुणत्रयमयी वल्ली कर्मवृक्षावलम्बिनी।
सेवनात् क्षीयते तस्या उच्छेदस्तु हितावहः॥२११॥

जलादपि श्लक्ष्णतरं क्षीणं धूमावलेस्तथा।
वेगवत्पवनाच्चाथ मन आत्मेति केचन॥२१२॥

अन्ये देहेन्द्रियप्राणान्, मनो बुद्धिं तथा परे।
वदन्त्यानन्दमात्मानमेवं वादस्तु वर्धते॥२१३॥

'तत्त्वमस्यादि' वाक्यानामभिधेयं तु तत्त्वतः।
जानाति ज्ञानयोगस्थ एव तस्मिन् सुनिष्ठितः॥२१४॥

सन्धीयन्ते कनकवत् साधवस्त्रुटिता अपि।
कुलालभाण्डं त्वेकेनैवाघातेन तु भज्यते॥२१५॥

कज्जले हि कृतावासः कज्जलाखातवेष्टिते।
कज्जलस्यैव कुल्याया जले लोको निमज्जति॥२१६॥

देहाभिमानी लोकोऽयमिन्द्रियार्थेषु मज्जति।
धन्यः स एव योऽवारपारीणोऽस्य महोदधेः॥२१७॥

न कुबेरस्य सम्पत्तिर्न वा राज्यं सुविस्तृतम्।
अतिशेते दृढासक्तिं, तस्माद् भक्तिर्गरीयसी॥२१८॥

स्वयं पतन्ति कैवर्त्तजाले यादांसि लोलुपाः।
ज्ञात्वैतद्देहदर्पेऽस्मिन् मा पत त्वमधोमुखः॥२१९॥

देहाभिमानशय्यायामविद्यासदनान्तरे।
कर्मजालैर्वेष्टितस्त्वं भवाब्धिं तर्त्तुमीहसे? ॥२२०॥

अलक्ष्यरज्ज्वा बद्धस्त्वं दर्पणस्वच्छधीरपि।
स्वानुभूतिविहीनश्चेद्, दुर्गतिं समवाप्स्यसि॥२२१॥

ये मित्रसुतदारादीन् सेवन्ते विषयेच्छया।
आत्मज्ञानविहीनास्ते जायन्तेऽत्र पुनः पुनः॥२२२॥

वासना तुम्बवल्लीव लोकैकफलदायिनी।
सकामकर्मपुष्पाढ्या कटुस्वादात्र कारणम् ॥२२३॥

एवं सद्भिर्बोधितोऽपि शास्त्रवाक्यैर्मुहुर्मुहुः।
अज्ञानबुद्धिं नोज्झेद् यः स ज्ञेयो नूनमात्महा ॥२२४॥

मलं त्यजति लोहोऽपि यथा सततघर्षणैः।
विनश्यति वपुर्मोहस्तथैव ब्रह्मचर्चया ॥२२५॥

दुर्जनस्य हि संसर्गात् सज्जनोऽपि तथा भवेत्।
तेजो विस्मृत्य कनकं कांस्यं स्वं मनुते यथा ॥२२६॥

देहरूपां लौहनौकां दम्भप्रस्तरसम्भृताम्।
शीर्षक्ष्वेडस्त्वमारुह्य तर्तुमिच्छुर्भवार्णवम् ॥२२७॥

महाभूतानि विलयं यान्त्यानन्दचिदात्मनि।
मनसि ब्रह्मलीने च नश्यत्येवाभिमानिता ॥२२८॥

वर्णाश्रमाभिमान्यादौ धर्माचारानुगस्तदा।
शास्त्रानुगतिकोऽप्यन्ते त्यजत्येव कलेवरम् ॥२२९॥

इन्द्रियाणां नियन्तुश्च नेत्राग्रे वसतस्तथा।
अनवस्थस्य मनसो निरोधो हितकारकः ॥२३०॥

यदा भवति निश्चेष्टमात्मध्यानपरं मनः।
इन्द्रियाणि निवर्त्तन्ते विषयेभ्यस्तदा स्वयम् ॥२३१॥

ब्रह्मानन्दः स्वसंवेद्य एवास्ति न तु वर्ण्यते।
व्यावरीतुं स्वानुभवं न कोऽप्यत्र निवर्त्तते ॥२३२॥

मनसैवेन्द्रियग्रामो विषयेष्ववसाद्यते।
तस्मात्समाधौ बाधैव भवतीति न संशयः ॥२३३॥

देहाभिमानसंसर्गात्तथा शान्तिर्विनश्यति।
बदरीपत्रहलने पार्श्वस्था कदली यथा ॥२३४॥

ज्ञानी स्वसहजानन्दे रमते ज्ञानसङ्गतौ।
अलीकपण्यशालायां हीरको न प्रकाश्यते ॥२३५॥

सङ्गृह्यते वस्तु किञ्चित् सुनिरीक्ष्यैव, नान्यथा।
ज्ञानी स एव योऽन्विष्येच्छान्तिं हृद्यन्तरे तथा ॥२३६॥

आचार्याणां मतं ज्ञात्वा स्वधियैकं स्थिरीकुरु।
आच्छादयेद् ज्ञानशक्ति रजसा वेष्टिता मतिः ॥२३७॥

शास्त्रेषु निर्गुणं प्रोक्तं तदेव सगुणं ननु।
व्योम्नाति चित् तदा तस्मिन् वनमाली स उच्यते ॥२३८॥

उच्चैर्गानं च चर्चा च स्वविचारमृते वृथा।
विशिष्टोपलसंसर्गादेवायो रुक्मतां व्रजेत् ॥२३९॥

आलम्ब्याप्यखिलान् मार्गान् यः स्याद् गुरुविवर्जितः।
आनन्दमयमात्मानं ज्ञातुं स न भवेत् क्षमः ॥२४०॥

चिदात्मा एक एवेति केषाञ्चन न सम्मतम्।
जल्पवादास्तु भिद्यन्ते कषोपलपरीक्षणे ॥२४१॥

आत्मनस्तु स्वरूपं यो न जानात्यज्ञ एव सः।
वादावादे नष्टबुद्धिः पश्चात्तापं करोत्यसौ ॥२४२॥

प्रस्तरार्चनतो यैश्च भक्तिमार्गः प्रदूषितः।
विषयाविष्टमनसां तेषां दुर्लभममृतम् ॥२४३॥

एक एवाभ्यर्चनीयो देवोऽनन्यधिया बुधैः।
द्रव्यार्थं गणिकायास्तु बहुसेवा मताधमा ॥२४४॥

तनुनौकाविष्टमिदं मनः काकवदस्थिरम्।
क्षणं तूत्पतति व्योम्नि क्षणं दिक्षु च धावति ॥२४५॥

बदरीकण्टकैर्विद्धः पार्श्वस्थः कदलो यथा।
आदौ निरवधानस्त्वमधुना मोक्षमिच्छसि ॥२४६॥

आत्मैवाहमिति ज्ञानरत्नमस्ति त्वदन्तरे।
तन्मूल्यं जानतामेवाग्रे योग्यं तत्प्रदर्शनम् ॥२४७॥

ये च शास्त्रोक्तमार्गेण यापयन्ति स्वजीवनम्।
ते विद्यार्णवमुत्तीर्य भवन्ति ब्रह्मवित्तमाः ॥२४८॥

काकरावनिभां द्वैतवाणीं मा शृणु कस्यचित्।
अद्वैतज्ञानयज्ञेन हंसवन्नय जीवनम् ॥२४९॥

स्वर्गात्पातालपर्यन्तं निबद्धं तुम्बिकाद्वयम्।
जीवरूपं वर्ण्यते तच्छास्त्रविद्भिरनेकधा ॥२५०॥

अथ जानीहि रामं त्वं चिद्रूपं हृदि संस्थितम् ।
विषयासक्तमनसां नैव तद्दर्शनं भवेत् ॥२५१॥

यावन्ति तरुपत्राणि गङ्गायाश्च रजांसि वा ।
तावन्त्यनेकशास्त्राणि को भवेत् पठितुं क्षमः ॥२५२॥

अद्वैते ब्रह्मणि द्वैतभावना भ्रम एव हि ।
यथा रज्ज्वामहिभ्रान्तिः शुक्तौ वा रजतभ्रमः ॥२५३॥

देहोऽयं सिकतासङ्घ आत्मरत्नेन दीप्यते ।
तं निजं मन्यमानस्य बुद्धिस्तु सिकतामयी ॥२५४॥

कुलहंसं परिज्ञाय मया तेऽभ्यर्हणा कृता ।
बकस्त्वमिति चेद् ज्ञातमत्यजं स्पर्शमेव ते ॥२५५॥

मद्वाक्यं शृणु तद्वच्च वेदोपनिषदां वचः ।
ईश्वरस्य निवासं त्वं जानीहि स्वहृदन्तरे ॥२५६॥

एकमात्रं यथा सिंहो गाहतेऽखिलकाननम् ।
तथैवात्माप्यद्वितीयो जगद्व्यापीति निश्चितम् ॥२५७॥

मन्दवैराग्ययुक्तस्य जातुचित्सम्भवेत् च्युतिः ।
अष्टाङ्गयोगसक्तोऽपि कर्ममार्गे पुनः स्खलेत् ॥२५८॥

क्षेत्रवन्मानुषे देहे बीजमुप्तं चिदात्मकम् ।
सत्सङ्गतोयसिक्तं तद्यच्छेत् ज्ञानफलोच्चयम् ॥२५९॥

विवेकिनः सदा सेव्या न तु पाखण्डदर्पिताः ।
तेषां मुधैव सेवा स्याद् येभ्यो ज्ञानं न लभ्यते ॥२६०॥

नो चेद् ब्रह्ममयी बुद्धिः किमुच्चकुलजन्मना ।
वृथैव तानि पुष्पाणि यैर्न देवार्चनं भवेत् ॥२६१॥
अथवा—(यैर्न देवार्चनं शक्यं तैः पुष्पैः किं प्रयोजनम् ।)

गुरवो बहवो दृष्टाः शिष्यस्तु न हि दृश्यते ।
कियन्ति सन्ति शास्त्राणि जीवस्यैकस्य मुक्तये ॥२६२॥

अन्तर्यामी संस्थितोऽसौ प्राणिनां हृदयान्तरे ।
मायया भ्रामयन् सर्वान् प्रेरयँश्च मतिं नृणाम् ॥२६३॥

सम्भाषणेन जानीयादयं साधुर्नवेति च ।
जिह्वाध्वना बहिर्याति यदस्ति हृदि कस्यचित् ॥२६४॥

अहमात्मैवेति तथ्यं विस्मृतं किं त्वयाधुना ।
श्रुतिज्ञानकृपाणेन संशयाँश्छेत्तुमर्हसि ॥२६५॥

परिप्रश्नेन सन्देहनिरासः स्याद्धितावहः ।
सद्गुरुर्ज्ञानमार्गेण शिष्यमेवं प्रबोधयेत् ॥२६६॥

स्वमतस्थापने दक्षैर्वाग्जालं हि प्रसारितम् ।
यच्छेद्: यः परमानन्दं तस्यावाप्तिः सुदुर्लभा ॥२६७॥

न यत्र सिंहसञ्चारो न वा स्पन्दोऽपि पक्षिणः ।
तद्वनं हि कबीरेण वृतं शान्तसमाधये ॥२६८॥

अहङ्कारविनिर्मुक्तमवाङ्गनस - गोचरम् ।
स्वरूपमात्मनो ज्ञातुं यतन्ते मुनयोऽनिशम् ॥२६९॥

वदन्तो मधुरां वाचं हृद्यन्यच्चिन्तयन्ति ये ।
सञ्चारोऽस्त्येव रामस्य तेषामपि कलेवरे ॥२७०॥

यावत्प्राणाः शरीरस्थास्तावदेव हि संसृतिः ।
प्राणस्पन्दे गते कोऽपि न द्वारमपि वीक्षते ॥२७१॥

हे राम, दर्शनं दत्त्वा जीवन्मुक्तं कुरुष्व माम् ।
देहत्यागस्य पश्चात्ते दर्शनात् किं भवेद्धितम् ॥२७२॥

दर्शनीयाकृतिरपि बुद्धेर्हीनो नरः पशुः ।
मनोहराणि पुष्पाणि निर्गन्धानि यथा वने ॥२७३॥

साधुसङ्गविहीनस्य स्वात्मतत्त्वाविवेकिनः ।
विषयासक्तमनसो धिङ् नरस्य हि जीवनम् ॥२७४॥

ध्यायस्वामलया बुद्ध्या चिन्मात्रमविनाशिनम् ।
पुनरावर्त्तनकरीमतिसृज्य कुवासनाम् ॥२७५॥

विषयाभिनिविष्टस्य क्षणभङ्गुरवर्ष्मणः ।
करोति सादनं कालः श्येनकस्तित्तिरेर्यथा ॥२७६॥

शिरासु च स्वनन्तं त्वं प्राणघोषं शृणु स्वकम् ।
परिहृत्य विषादांश्च स्वात्मतत्त्वं विचिन्तय ॥२७७॥

ब्रह्मामृतं समास्वाद्य देहदर्पं समुत्सृज ।
गुरोः सेवा साधुसङ्गश्च विधेयस्त्वयाधुना ॥२७८॥

आत्मैवास्मीति विज्ञाय कृत्वा च दृढनिश्चयम् ।
जीवन्मुक्तः शरीराच्च तत्कोशेभ्यश्च मुच्यते ॥२७९॥

एकेन साध्यते सर्वं सर्ववादो विनाशकृत् ।
विपर्यासेन मूलस्य सेचनं तुष्टिदं मतम् ॥२८०॥

ध्यानात्सन्दीप्यते ज्ञानं, वासना दह्यते ततः ।
ततो बुद्धौ निर्मलायां समुदेत्यात्मभावना ॥२८१॥

इन्द्रियार्थैरनाकृष्टो योगाभ्यासं समाचर ।
अहङ्कारान्न मुच्यन्ते शास्त्रवादरता अपि ॥२८२॥

स्वप्नतुल्येऽत्र संसारे प्रसुप्ताः किन्नु मानवाः ।
सम्मोहिता भृशं चैते मतवादप्रवर्त्तकैः ॥२८३॥

प्राणतन्त्रीं ध्वनत्येको जीवानां परमेश्वरः ।
तन्तुषु प्रविभग्नेषु निष्क्रियैव तु सा भवेत् ॥२८४॥

'तत्त्वमस्यादि'-वाक्यं च प्रभुणैव समीरितम् ।
तस्य सारं समालोच्य श्रेय आप्नुहि शाश्वतम् ॥२८५॥

ज्ञानमार्गोपदेष्टारो ये च कर्मसु निष्ठिताः ।
आत्मज्ञानविहीनास्ते न हि तत्त्वार्थबोधकाः ॥२८६॥

निर्गुणं वर्णयन्त्येके सगुणं च तथापरे ।
जानन्ति ते नात्मरूपं फलास्वादं यथा वृषः ॥२८७॥

गुरुवाक्येऽश्रद्दधाना ये च शास्त्रावमानिनः ।
कालेनाकृष्यमाणास्ते पच्यन्ते चतुराकरे ॥२८८॥

यं मार्गन्ति चिदात्मानं बहिः कुत्रापि संस्थितम् ।
तं हृद्येव स्थितं नैव जानन्ति मतवादिनः ॥२८९॥

बाल्यकैशोर्यतारुण्यजरावस्थागतां तनुम् ।
यमो ग्रसत्यवस्कन्द्य मार्जारो मूषकं यथा ॥२९०॥

गुरूपदिष्टमार्गेण ताम्रं भवति काञ्चनम् ।
मलयाचलगन्धेन पलाशश्चन्दनं यथा ॥२९१॥

ईक्षते न बहिः किञ्चिद्यथा रत्नपरीक्षकः ।
देहस्यूतं तथात्मानं मुमुक्षुर्वेत्ति तत्त्वतः ॥२९२॥

यथा लोकेऽवकीर्णानि रत्नानि प्रस्तराणि च ।
तथैव पात्रापात्राणि, दुष्करं तत्परीक्षणम् ॥२९३॥

पृथग्विधो यश्चित्तेन न च शास्त्रपरिष्कृतः ।
ज्ञानिनः सङ्गतिस्तेन स्याद् हंसबकसङ्गमः ॥२९४॥

सकामकर्माभ्यासी च न हि सत्यपरीक्षकः ।
'सोऽहमस्मीति यः पश्येत् स यथार्थपरीक्षकः ॥२९५॥

मा जीवहत्यां कुरुथ पातकोऽयं भयावहः ।
तीर्थस्नानैर्दानपुण्यादिभिश्च न निवार्यते ॥२९६॥

क्षणभङ्गुरदेहस्य प्रत्ययो न कदाचन ।
अतोऽन्तश्चेतनब्रह्मध्यानमग्नो भवानिशम् ॥२९७॥

निष्प्रभं नयनद्वन्द्वं बुद्धिश्च विलयं गता ।
अभिध्याने तदा नष्टे सद्गुरुः किं करिष्यति ॥२९८॥

रामस्य भक्तिरतिमात्रसुखं करोति,
दुर्वासनाशिशिरशीतहरः कृशानुः ।
भस्मीकरोति सकलं कुविचारजातं,
ज्ञात्वैतदाप्तवचनाद्भव रामभक्तः ॥२९९॥

अस्य त्रिलोकविटपस्य चिदेव बीजं,
यस्याङ्कुराश्च विधिविष्णुमहेशरूपाः
भूयः स एष तरुरञ्चति बीजरूपम्,
एष क्रमोऽनवरतं परिवर्त्ततेऽत्र ॥३००॥

तद्वद्देहाच्च कर्माणि, तेभ्यो भूयश्च वासना ।
ततः पुनश्च देहोऽसौ जायतेऽत्र न संशयः ॥३०१॥

□

कबीर-वाणी

लघु-कृति-सङ्ग्रह

[वसन्त, चर्चरी, हिन्दोला, वल्ली और विरहुली]

अथ वसन्तः —

(१)

जाके बारह मास बसंत होय। ताके परमार्थ बूझे बिरला कोय॥
बरिसे अग्नि अखंड धार। हरियर भो वन अढहर[1] भार॥
पनिया[2] आदर धरे न लोय। पवन गहे कस मलिन धोय॥
बिनु तरुवर फूले आकाश। शिव विरंचि तहाँ लेहिं वास॥
सनकादिक भूले भँवर बोय। लक्ष चौराशी जीव जोय॥
जो तोहिं सद्‌गुरु सत[3] लखाव। ताते न छूटे चरण भाव[4]॥
अमर लोक फल लावे चाहि। कहहिं कबीर बूझे सो खाय[5]॥१॥

श्रीगुरवे नमः। अथ द्वादशवसन्तव्याख्या वर्ण्यते। जाके इति। ब्रह्मैवाहमित्यानन्दसुखं सर्वदैकरसो वर्त्तते यस्यान्तरे तस्य सदा वसन्तो भवति इत्यर्थः। ताके इति। परमश्चासावर्थश्च परमार्थः। ब्रह्मैवाहमित्युत्कृष्टार्थः। तस्य महात्मनः तत्त्वं कश्चिद्विरलो जानाति इत्यर्थः। अत्र गीतासूक्तं— यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः[6] इति। बरिसे इति। आत्मैवाहमित्यग्निरखण्डधाराभिरमृतस्रावीभिर्ज्ञानिन उपरि वर्षति। हरियरेति। यदा यस्याखण्डवृत्तिरुत्पद्यते तदा अढार=रोमरोमस्वानन्दो भवति। अत्र श्रुतिः— सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति[7]। पनियेति।

---

१. अठारह। (१-२); चार वर्ण, चार आश्रम, छः दर्शन, चार सम्प्रदाय (२)।
२. पानिया (२)।
३. सत्त (१-२)।
४. चाव (१-२)।
५. पाव (१-२)।
६. भ० गी०, ७,३।
७. छा० उ०, ३,१४,१।

भो यं चिदात्मानं जल=द्रावयितुं न शक्यम्-अत्र गीता प्रमाणम्—अच्छेद्योऽयमदाह्योऽय-मक्लेद्योऽशोष्य एव चेति[1]। यं गृ(ग्र)हीतुं चित्तादि न शक्नोति इत्यर्थः। पवनेति। पवनः= प्राणः। तस्यारूपस्य चिदात्मनः शुद्धस्य गृ(ग्र)हीतुं कथं समर्थो भवति ? प्राणायामः मलिन-चित्तस्य शुभं करोतीत्यर्थः। बिनु इति। ब्रह्मैवाहमिति आनन्दवृक्षं विना देहोऽहमित्याकाशो (शः) प्रफुल्लति। मलिना वासना जायते। यद्वा तरुवरः=देहाभिमानः, तेन विना, आकाश= ब्रह्मैवाहमित्यानन्दं नरवरिया[2]=न प्रकाशः प्रफुल्लितो भवति इत्यर्थः। शिवेति। तस्मिन्नेव ब्रह्मानन्दसुखे शिवादयः रमन्ति(ते)। वसन्तीत्यर्थः। सनकेति। सनकादयः सर्वे भ्रमराः मनः, तज्जगद्वासनां द्वैतं ब्रह्मैवाहमित्यस्मिन्विलयं कृताः स्युः। लक्षेति। प्रबुद्धः इमानि चतुरशीति-लक्षाणि सर्वजीवान् ब्रह्मणि योज्यते[3] इति भावः। जो तो इति। यदि सद्गुरुः, तव=त्वां, सत=आत्मस्वरूपं दर्शयति। ताते इति। ततः ईश्वरस्य गुरोश्चरणकमलयोर्भावं(वः) कदा-चिन्न मुच्यते। यद्वा चरण=ब्रह्मभावना। अमरेति। देहमरणात्परं भवेदित्यमरं मोक्षफल-मिच्छति। कहेति। कबीरः=जीवन्मुक्तो जीवितं मोक्षं ज्ञानामृतं लभते=अश्नातीति सत्यमेवाभिप्रायः ॥१॥

'मैं ब्रह्म ही हूँ' यह धारणा हो जाना उत्कृष्ट आनन्द है और जिसके हृदय में यह विचार स्थिर हो जाता है, उसके लिए सदैव वसन्त है। ऐसे महात्मा बिरले ही होते हैं। 'मैं आत्मा ही हूँ' यह अग्नि उसके हृदय में (निरन्तर) प्रज्वलित होती रहती है। सब कुछ ब्रह्म ही होने के कारण उसके रोम-रोम में यह आनन्द व्याप्त रहता है। गीता में भी कहा है कि—आत्मा न कटनेवाला, न जलनेवाला, न गलने और सूखने वाला है। उस शुद्ध आत्मा को कोई भी कष्ट नहीं पहुंचा सकता। इस वृत्ति के अभाव में देह-बुद्धि (स्वभावतः) होती रहती है, जो मलिन वासना को उत्पन्न करती है।

उसी ब्रह्मानन्द में शिव आदि (देव) रमते रहते हैं और सनक आदि (ऋषियों) ने इसी में अपनी वासना विलीन कर दी है। इस प्रकार के सद्विचार गुरु से ही प्राप्त होते हैं, यद्यपि इसे प्राप्त करने की अभिलाषा सभी को होती है।

कबीर कहते हैं कि इस ज्ञानामृत का आस्वाद जीवन्मुक्त अपनी जीविता-वस्था में भी ले सकता है ॥१॥

(२)[4]

शिव कैसी काशी भई तोहार। अजहूँ हो शिव देखि विचार ॥

---

१. भ० गी०, २,२४।

२. यह शब्द मूल में नहीं है।

३. =योजयति।

४. उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों में इस पद्य-समूह की संख्या ११ है। व्याख्या में भी अन्तर है।

चोवा चंदन अग्र[1] पान। घर घर सुमृत[2] होय पुराण ॥
बहु विधि भवनन लागु भोग। ऐसे नग्र कोलाहल करत लोग ॥
बहु विधि परजा लोग तोर। तेहि कारण चित्त ढीट मोर ॥
हम खलक[3] के इहे ज्ञान। तोहिं हर के समुझावे आन ॥
जे जाहि मन से रहल आय। जीव के मरण कहु कहाँ समाय ॥
ताकर जो किछु होय अकाज। ताहि दोस नाहिं साहब लाज ॥
हर हरखित से कहल भेव। जहाँ हम तहाँ दोसर[4] केव ॥
दिन चारि मन धरहु धरी। जस देखहि तस कहहिं कबीर ॥

शिवेति। हे शिव, सर्वदैकरसः कल्याणस्वरूपोऽसि, स्वात्मारामोऽसि, नित्योऽसि। काशी=शरीरमिदं तव कथं स्यात्? जडमिदम्, अनित्यमिदम्। त्वं चिदात्मासि। अजहूँ इति। अद्य साक्षात्कारः। हे शिव, ब्रह्मैवाहमिति विविच्यताम्। स्वानन्दं स्वयं पश्यताम्। चोवेति। भोः, चोवा=मनः स्यात्। चन्दनं चित्तं स्यात्। तवाशनः प्राणः स्यात्। एतेषामग्रे = प्रथमोऽसि त्वमेको भाससे। घरेति। आत्मा सर्वशरीरेषु स्मृतिं ददाति। स्मारयति। अनुभवरूपोऽसि। प्रकाशोऽसि। पुराण=अनादि-कारणात्मासि। बहु विधि इति। ब्रह्मादिसर्वभूतगणपिपीलिकापर्य्यन्तभुवनेषु नानाविधि(ध) भोगैर्भुञ्जति (भुनक्ति) चिदात्मा। ऐसे इति। भोः नगरेषु = त्रिदेहेषु आत्मा प्रविश्य कोलाहलं=केलिं करोति। लोकाः=त्रिभोक्तारः विश्वादयः तव सत्तया प्रकाशन्ते इत्यर्थः। बहु इति। भो भगवन् तोर=बहुविधाः प्रजाः त्वया रचिताः। किं स्थूलतत्त्वानि सूक्ष्मतत्त्वानि त्रिशरीराणि भोक्तृत्रयं पञ्चकोशाश्च[6] त्वयैव निर्मिताः कल्पिता इत्यर्थः। तेहि इति। तस्मात्कारणादेकविज्ञानान्मे मनो, ढीट[7]=निर्भयं स्यात्। हमेति। मम चित्तस्य। अहं ब्रह्मेति। इहैव ज्ञानं स्यात्। तोहि इति। भवान्=त्वमेव हरः। अन्यः कः हरः त्वां बोधयति स्वस्य? सर्वज्ञानं किन्न हरसि? वेदो ज्ञापयति, ये इति। ये नराः स्वमानसं समतायां निरुध्यन्ते[8]। जीवकेति। जीवत्वं मरणत्वं कुतः स्यात्? ताकरेति। अकार्य्यः निरहङ्कारेण कर्मक्रियाव्यवहारे कृते सति यत्कुरुते, वा न कुरुते, स्वेच्छाचारी स्यात् ताहि, साहब=ज्ञानसमर्थो यदि भवेत् तर्हि, लाज=स्वविचारे निमग्नः अनात्मधर्मात् ह्रियं

---

१. अगर (१-२)।
२. सुमृति (१-२)।
३. बलकवा (१-२)। अक्षर 'ल' जो पहले प्रमाद-वश लेखक ने छोड़ दिया था, रेखा के ऊपर लिखा है।
४. दूसरा न (१-२)।
५. देखैं (२)।
६. 'पंच' शब्द भ्रमवश दो बार लिखा गया है।
७. मूल और व्याख्या में यह शब्द 'डीढ' लिखा गया है।
८. प०—निरुन्धन्ति।

कुरुते। पुनः तस्य दोषादोषौ नैव स्यात् (स्याताम्) इत्यर्थः। हरेति। हरो=आनन्देन हर्षितः सन् गुरुः मुमुक्षुं प्रति, भेदम्=एकत्वं वदेत्। जहेति। यत्रैकोऽहं तत्र द्वैतं कोऽपि[1] नास्ति। दिनेति। भोः स्वमनसि धैर्यं धारय; दीनो मा भव; त्वमाचारी, शन्ति गम। जसेति। कबीरः=ज्ञानी इत्थं ब्रवीति, यथा दृष्ट=दृष्टस्तथा वदति इत्यर्थः।।२।।

हे शिव (प्राणी), तू सदैव एक-रस और कल्याण-स्वरूप है। तू स्वात्मबोध और निर्मल है। तू चिदात्मा है। यह जड़ शरीर तू कैसे हो सकता है? मन और चित्त भो तेरे नहीं हो सकते। तू अनुभव-स्वरूप और प्रकाशरूप है। चिदात्मा इस देह में प्रविष्ट होकर (ही) केलि करता है और सब भोग भोगता है। इस शरीर और उसके पंचकोशों का निर्माता और प्रकाशक तू ही है। जो व्यक्ति अपने मन का समता में निरुन्धन करते हैं (जीवात्मा को परमात्मा से अभिन्न समझते हैं) उनके लिए जन्म-मरण कुछ भी नहीं है। ईश्वर (चिदात्मा और परमात्मा) एक ही है। दो नहीं। गुरु का उपदेश भी कहता है। तू धैर्य से शान्ति को प्राप्त कर। कबीर कहते हैं कि मैंने (अपने अनुभव से) जो देखा, वही कहा है।।२।।

(३)[2]

हमरा कहला के नहिं पतियार। आपु बूझे[3] तल सलिल धार।।
अंध कहे अंधे पतियाय। जस वि(वे)श्या के लगन जाय[4]।।
सो तो कहिये ऐसो अबूझ। खसम ठाढ़ ढिग नाहीं सूझ।।
अपनी अपनो करहि मान[5]। झूठ प्रपंच साँच के[6] जान।।
झूठा कबहुँ न करिहि कज्ज[7]। मे बर्ज्यो ते सुनु निलज्ज[8]।।
छोड़हु[9] पाषं(खं)ड मानहु बात। नहिं तो परबहु जम[10] के हाथ।।
कहहिं कबीर मल(र) कियो न खोज। भटकि मुवल[11] जस बन के रोझ।।

१. प० किमपि।
२. (१-२) में इस पद्यांश की संख्या १२ है।
३. बुड़े (१-२)।
४. धराय (१-२)।
५. आपन आपन चाहैं नान (मान)—(१-२)।
६. केर (१)।
७. करिहैं काज (१-२)।
८. हौं बरजौं तोहि सुनु निलजि (१-२)।
९. छाँडहु (१-२)।
१०. यम (१-२)।
११. मुवा (१-२)।

हमरेति। भोः, सर्वे अस्मद्वाक्यं श्रुतिस्मृतिवाक्यं गुरुवाक्यं यदि वदामि तर्हि न प्रतीयते (न्ते)। आपु इति। भो नराः शास्त्रज्ञाः सर्वे वेषधारिणः यूयं विषयनद्यां धारायां निमज्जिताः। अंधेति। अन्धाः=ज्ञानहीनाः, ये विषयवार्त्तां ब्रुवन् (ब्रुवन्तः) तद्वाक्यं प्रतीयन्ते=मन्यन्ते तेऽपि अन्धाः गर्त्ते पतन्ति। जसेति। यथा वेश्यायां रताः ते विषयान्न मुक्ताः तद्वत्[1]। सोतो इति। ईदृशम्, अबूझ=मूर्खं प्रति ब्रह्मविद्यां कः वदेत्? न कोऽपि। खसमेति। भोः ख= आकाशवत्, सम=तुल्यः, तवांत्ति(ति)के वर्त्तते तथापि यूयं न जानीथ। अपनी इति। स्वस्ववेषपाषं(खं)डे मते च सर्वे मन्यते(न्ते)। झूठेति। इदं सर्वं जगत्प्रपञ्चं मृषारूपं तं सत्यं जानन्ति। झूठेति। देहोऽहमिति मृषाभावात् क्वचित् कार्यं न भवति। मे बर्ज्यो इति। भो निर्लज्ज देह(हः) जड(डः)। मृषाभावात्। त्वां मोचये। भोः शृणु। तर्हि न मन्यसे। छाँडि इति। भोः, पाष(खं)डवार्त्तां त्यज। बात=उपनिषज्जन्यज्ञानं त्वं मन्यसे तव श्रेयो भविष्यति। नहिं तो इति। भोः, यदि न मन्यसे तर्हि यमराजहस्ते त्वं पतसि पुनः संसृतेः बन्धनान्न मुच्यते (से) इति। कहेति (कथयति) कबीरः ज्ञानी इत्थं वदति—ये सर्वे शास्त्रज्ञाः वेषधारिणः च, श्रुतावुक्तम् 'आत्मैवाहमिति विचारं न मार्गंति अतोऽज्ञाः। कहेति। कबीरः=ज्ञानी ब्रवीति— भटेति। यथा वने, रोझा=गवयाः इतस्ततः भ्रमन्ति=धावन्ति, तद्वत् सर्वे सम्प्रदायिनः पान्थिनः पण्डिताः शिष्यप्रशिष्यै(ष्यैः) सह सम्राजैः सह एको=महान् भूत्वा उच्चासने आसीनः तस्याग्रे इतरे आसीनाः झल्लरीझर्झरीत्यादि वादयन्ते गायन्ति च। अस्मिल्लोके द्रव्योपार्ज्जनेच्छया गवयवद् भ्रमन्ति सर्वत्र ज्ञानं विनेति भावः ॥३॥

हे शास्त्रज्ञो, अरे वेष-धारियों, आप सभी विषयरूपी नदी की धारा में बह रहे हो। ज्ञान-हीन जन विषयों की ही चर्चा करते हैं और उनकी बातों में विश्वास करनेवाले, उनके साथ ही गर्त में गिरते हैं। ईश्वर निकट ही है, यह वे नहीं जानते। आप लोग भी वेष-धारण के पाखण्ड में निमग्न हैं। यह सब केवल जगत् का प्रपञ्च है, जो झूठा है, (किन्तु) उसे तुम देह-भावना से सत्य मानते हो। इस पाखण्ड को तज कर उपनिषदों के परामर्श से,व्यवहार करने में तुम्हारा हित है। मेरा कहना न मानने पर तुम यमराज के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकते।

कबीर (ज्ञानी लोगों) का कहना है कि मैं आत्मा ही हूँ (शरीर नहीं)—यह सोचो। अरण्य-पशु की भांति मत घूमो। (जैसा कि देखा जाता है), कभी किसी सम्प्रदाय का एक विशिष्ट व्यक्ति उच्चासन पर बैठा है और उसके सन्मुख अनेक व्यक्ति बैठै हैं ; वे सभी उच्च स्वर में गाते हैं और वाद्य भी बजाते हैं। यह सब द्रव्योपार्जन के हेतु किया जाता है। (वास्तव में) वे सभी ज्ञान-हीन हैं ॥३॥

---

१. तुलनीय—'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' (कठ० उ०)। राघवदास की व्याख्या में 'जस वेश्या के लगन धराय' इसे उपमालंकार मानकर इसे व्याघात-वाक्य बतलाया है, जैसे 'खपुष्प', जो असम्भव ही है।

(४)

बढ़िया हँसि बोली मैं नितहु[१] बारि । मो अस[२] तरुणी कहु कबनी[३] नारि ॥
दत गेल[४] मोर पान खात । केस गेल मोर गंग नहात ॥
नयन गेल मोर कज्जल[५] देन । वेस गेल पर पुरुष लेत ॥
जान पुरुषवा मोर अहार । अनजाने के करों सिंगार ॥
कहहिं कबीर बुढ़िया आनंद गाय । पू [त*] भर्त्तारहिं वैंटी(ठी) खाय ॥

बुढ़ियेति । अनाद्यविद्या । हँसि इति । स्वस्ववर्णाश्रमधर्मान् हास्येन ब्रवीति । यस्य बुद्धिः विषये आनन्दयतीत्यर्थः । मे=मामकं मदीयं, तावकं=त्वदीयम् इत्यविद्या, नितहि= नित्यं, वारी=नित्यं वारी कुरुते इयमेव मूर्खता स्यात् । मो असेति । अविद्या ब्रवीति—मम सदृशी अन्या का नारी ? न को(का)पि । किं सर्वावस्थायां तरुणी स्यात् । अज्ञस्वरूपं दर्शयति दाँतेति । मोर=मम, दाँत—शान्तम्, इन्द्रियदमनादयः[६] पान= विषयास्वादनेन गलिताः । गतेत्यर्थः (गता इत्यर्थः) । अविद्या विषयसुखं खादति, केसेति । कश्च इ(ई)शश्च, तयोरीशोपनिषद्ब्रह्मविचारः, मोर=मम, गेल =मार्गः=विचारो गतः । आत्मविचारमयी गङ्गा तस्यां स्नानं कुरु इति भावो गतः । नयन इति । मारस्वदेहे[७] स्वबुद्धिममत्वे विज्ञानदृष्टिर्गता । कीदृशी ममता ? कज्जल=तमोरूपा । तस्मिन्नेव (तस्यामेव)—ममत्वे चित्तं दीयते । वेसेति । पर पुरुषा=देवाद्युपासनायां भोगेच्छां[७] कुर्वन् सन् सर्वावस्था गतः (ता) ज्ञानी निश्चयः । जानेति । यदा ब्रह्मैवाहमिति ज्ञानं भवति तदा, मोर=देहाभिमानमज्ञानं गतम्[८] । पुरुष एवेदं सर्वं, पुरुषोऽहं पुनः पुरुषोऽहङ्कारो[९] गतः । अनेति । आत्मज्ञानस्य=ब्रह्मविद्याया [:*] शृङ्गारम्= अलङ्कारमुपदेशं करोमि । कहहीति । कबीरः श्रुतयः साधवः इत्थं ब्रुवन्ति ब्रह्मैवाहमिति ब्रह्मविद्यया बुद्धिः=बुढिया, सनातना(न)तां प्रति ब्रवीति आनन्दं गायस्व= परमानन्दसुखे तिष्ठ । पूतेति । पूत=जीवे लघुत्वं; भर्त्तार=ईश्वरे महत्त्वम्; इत्युभयोर्विकल्पयोर्ब्रह्मैवाहमस्मिन् लयं कृत्वा[१०] ब्रह्मविद्यया इत्यर्थः ॥४॥

---

१. नितहिं (१-२) ।
२. सों (१); से (२) ।
३. कौन (१) ।
४. गये (१-२)—इस पद्य में सर्वत्र यही प्रयोग है (१-२) ।
५. कजरा (१-२) ।
६. प०—'य': ।
७. अर्थ अस्पष्ट ।
८. देहाभिमानः=अज्ञानम् ।
९. अर्थ सुसंगत नहीं है ।
१०. प०—ब्रह्मैवाहमिति विचारे । 'अस्मिन्' में दीर्घ 'ई' की मात्रा त्रुटिपूर्ण लिखी है । इस वाक्य में क्रिया का अभाव है । प०—कुरु ।

अविद्या अनादि है। वह एक वृद्धा स्त्री के समान है। वह वर्णाश्रम के हठ-धर्मियों का स्मितपूर्वक उपहास करती है और उन्हें कहती है कि तुम्हारी मूर्खता यही है कि तुम अपनी बुद्धि को विषयों में तथा अहंकार में प्रवृत्त करते रहते हो। (देखो), मेरे समान सदा तरुण नारी कोई नहीं है विषयों के आस्वादन से मेरे दाँत ढीले हो गए (शांति नष्ट हो गयी)। मेरे केश (आत्म-विचार) ईश्वर-ध्यान से दूर होने के कारण पलित हो गये। विज्ञान-बुद्धि के अभाव में मेरी आंखें चली गयीं, और परपुरुष (अनेक देवों) की उपासना से मेरी आँखों का काजल भी नष्ट हो गया। किन्तु फिर भी जब यह भावना होती है कि मैं ब्रह्म ही हूँ, मेरा अहंकार छूट जाता है। साथ ही देहाभिमान भी नष्ट हो जाता है।

कबीर (श्रुति और साधुजन) कहते हैं कि ब्रह्मविद्या का विचार करने पर बुद्धि सनातनता पर पहुँच जाती है। वही परमानन्द की उपलब्धि है और ईश्वर का महत्त्व प्रकट होकर साधक ब्रह्म में लीन हो जाता है ॥४॥

(५)

तुम बूझहु[1] पंडित कवनि[2] नारि। केहू न विवाहलि[3] हे (है) कुमारि ॥
सर्व देवतनि मिलि हरि ही दीन्ह। चारि जुग हरि सँग लीन्ह ॥
प्रथम पद्मिनी[4] रूप आहि। है सापिनी जग खेदि खाय[5] ॥
ईवर जुवति बो[6] ए वर नाहिं। अतिरे तेज त्रिया रैनि ताहि ॥
कहंहि कबीर ई जग पियारि। आपन बालक[7] रहली मारि ॥

तुमेति। भोः पण्डित, ज्ञानिनं प्रति पृच्छताम्। इयं नारी का? अव्याकृतमाया स्यात्। केहु इति। कीदृशी सा? केनापि न विवाहिता। सर्वदैव कुमारी स्यात्। सर्वदेव = पुनः सर्वदेवैः मिलित्वा हरये समर्पिता योगनिद्रा शुद्धसत्त्वसम्बन्धिनी या विद्याचैतन्याश्रये स्यात् चिछक्तिः[8]। चारि जुगेति। जाग्रदवस्थायां हरिरूपौ विश्ववैश्वानरौ, स्वप्नावस्थायां हरिरूपस्तैजसः तैजस-हिरण्यगर्भौ, सुषुप्त्यवस्थायां हरिरूपः प्राज्ञः प्राज्ञाव्याकृतौ तुर्यावस्थायां हरिरूपः सर्वसाक्षी अव्याकृतप्रधानः जीवसञ्ज्ञे अविद्या, ईश्वरसञ्ज्ञे माया, ब्रह्मसञ्ज्ञे चिच्छक्तिः स्यात्। प्रथमेति। पुनः

---

१. बुझ बुझ (१-२)।
२. कौन (१)।
३. काहु न व्याहलि।
४. पदुमिनी (१); पदमिनी (२)।
५. खाहिं (१-२)।
६. ई वर जोवत ऊ वर नाहिं (१-२)।
७. बलकवहिं (१-२)।
८. पं०—चिच्छक्तिः।

आद्युत्पत्तिस्थानबीजरूपा माया स्यात्। पद्मिनी च सत्काररूपा पद्मा, लक्ष्मी(क्ष्मीः), ब्रह्मविद्या इत्यर्थः। है इति। पुनः सर्वजगत्प्रलयकारिणी माया सर्पिणीवत् स्यात्। ई वरेति। पुनः ई= माया, वरा=श्रेष्ठा जु(यु)वती। अत्र श्रुतिः—'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजां जनयन्ती स्वरूपाः'। ईदृशी माया, बोए वरेति। 'अजो ह्येको जुषमानो(णो)नुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोन्यः'॥[1] वरीयान्=नाह(?)द्वयोः प्रकाशक इत्यर्थः। अतिरेति। पुनः अतिशय-प्रकारेण सा माया तेज(जो)रूपा त्रिधा। स्थानं स्थूलसूक्ष्मकारणेषु क्वचिद्रात्रिः, अन्धकाररूपां तां ज्ञातव्यम् इत्यर्थः[2]। कहेति। कबीराः श्रुतयः ब्रुवन्ति—ई माया जगत्प्रिया मोहिनी स्यात्। अपनेति। 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजां जनयन्ती स्वरूपाः' पुनः स्वनिर्मितानां स्वस्मिंल्लयं करोति सर्वान् ऊर्णनाभीवत्[3] ॥५॥

हे पण्डित, (किसी) ज्ञानी से पूछो कि यह अविवाहित कुमारी कौन हो सकती है और उसका स्वरूप कैसा है। वह यही कहेगा कि यह हरि की योग-निद्रा है, जिसका सम्बन्ध शुद्ध सत्त्व से है और जिसका आश्रय विद्या और चैतन्य है। उसे चित् शक्ति भी कहते हैं। वही जाग्रत् अवस्था में विश्व और वैश्वानर, सुषुप्ति अवस्था में प्राज्ञ और अव्याकृत तथा स्वप्नावस्था में तैजस और हिरण्यगर्भ है। वही तूर्यावस्था में सर्वसाक्षी अव्याकृत प्रधान है। वही जीव के साथ अविद्या, ईश्वर के साथ माया और ब्रह्म के साथ चित् शक्ति है। इन (भेदों) में (संसार की) उत्पत्ति का मूल माया, लक्ष्मी या ब्रह्मविद्या है, और प्रलय-कारिणी माया सर्पिणी है। वही यह युवती है। इसका सम्बन्ध तीनों प्रकार के शरीर से है। वेदों में कहा है कि यही माया अन्धकार-स्वरूप है और अपना सारा निर्माण यही स्वयं में लीन कर लेती है॥५॥

(६)[4]

मैं आयेउ मेहतरि[5] मिलन तोहिं। रितु बसंत पहिराउ[6] मोहिं॥
ल(लं)बी पुरिया पाई छीन। सूत पुराना खूँटा तीन॥
सर लागे तेहि तीन सै साठ। कसनी बहत्तर लागु ताहि[7]।

---

१. श्वेताश्व० उ०, २,५।

२. प०—अन्धकाररूपा सा ज्ञातव्येत्यर्थः।

३. तुलनीय—'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च (मुण्डकोपनिषद्, १,१,७)।

४. (१-२) में इस पद्य की संख्या ३ है।

५. आयो मेस्तर (१-२)।
मेस्तर=बड़ा सर्दार या मालिक (फारसी)। तुलनीय-महत्तर (संस्कृत)।

६. पहिरावहु (१-२)।

७. गाँठ (१-२)।

खुर खुर खुर खुर चले नारि । बैठि जोलाहिनि पलथी मारि ।।
ऊपर नचनी करे कोड़ । करिगह महँ दुई चले[1] गा (गो) ड़ ।।
पाँच पचीस दस दुबार[2] । सखी पाँच तहाँ रचे धमार ।।
रंग बिरंगी पहिरे चीर । हरि के चरण धेय[3] गावे कबीर ।।

मे (मैं) आ इति। ब्रह्मैवाहमस्मीत्यभासो वदन्ति[4]—भो महत्तरि=चाण्डालि, देहाभिमानाविद्ये, त्वां मिलितुं=लयं कर्तुमागतोऽस्मीत्यर्थः। रितु इति। ऋतु=ब्रह्मैवाहमिति, स्नेहो वसन्तेत्यानन्दधारणे मय्येकत्वं भवे[दि]त्यर्थः। लंबी इति। लंबी=बहुकालं जीवितुमिच्छति। पाई=आयुः प्रतिदिनं क्षीणं भवति। सूतेति। सूत=अनादिवासनाऽविद्या पुरातनी वामा, या खूंटा, तस्याः गुणत्रयमेव बन्धनम्। सरेति। षष्टयधिकशतत्रयदिवसाः शराः सर्वेषामायुः क्षपयन्ति। कसनी इति। देहाभिमानी जीवः स्वदेहे द्विसप्ततिसहस्राणि नाड्यः स्युः इत्यर्थः। खुरेति। पुनः पुनः स्वासानाडीरूपा नारी चलति। घुर्घुरायते इति भावः। बैठी जुलाहिनीवत् इयं का या जडरूपा, बैठीति। पलथी=स्वस्थवृक्षवत्। उपरेति। उपरनचनी=कालकन्या जरावस्था सर्वदेहोपरि नृत्यति ! करे कोल(ड़)=देहान्तं विज्ञापयति। करि इति। अन्तःकरणे मनसि दुई=सङ्कल्पविकल्पौ भवतः। पाँचेति। अपञ्चीकृतभूतेभ्यो(भ्यः) पञ्चविंशतिधा पञ्चीकृतभूताः जाताः। मुखादीनि दश छिद्राणि स्युः। सखी इति। पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि सख्यः। तहाँ—स्वस्वविषयार्थे बहिर्धावति (न्ति)। रंगी इति। रंग बिरंगी=बुद्धिः। चीर=शुभाशुभं कर्म; पहिरे=परिधानं करोतीत्यर्थः। कबीरः=ज्ञानवान् देहाभिमानं विहाय हरिरहमिति पदं ध्यायतीत्यर्थः ।।६।।

हे चाण्डालिनी, देहाभिमानिनि अविद्ये, मैं तेरा लय करने (तुझे छोड़ने, को उद्यत हूँ। मैं ब्रह्म ही हूँ, वसन्त हूँ, (ब्रह्म से) ऐक्य धारण करता हूँ, (ऐसी स्थिति में) तू प्रलम्ब काल तक जीवित रहने की इच्छुक है ? अनादि वासना का कारण अविद्या (ही) है, जो गुणत्रयरूपी तीन खूँटों से बँधी है। उसके तीन सौ साठ शर (धागे ?) हैं, जो आयुष्य को व्यतीत करते हैं। देहाभिमानी जीव की देह में बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं, जिनसे श्वास चलता रहता है।

तू जड़ है और जुलाहिन की तरह पलथी लगाकर बैठी है ! जरावस्था (तेरी) सारी देह के ऊपर नाच रही है। वह देह के अन्त को सूचित करती है। अन्तःकरण में भी संकल्प-विकल्प होते ही रहते हैं। अपञ्चीकृत भूतों से पचोस प्रकार से पंचीकृत भूतों की उत्पत्ति होती है। मुख आदि दस छिद्र (इन्द्रियाँ) हैं ही। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ उनकी सखियाँ हैं। ये सभी अपने अपने बाह्य विषयों की ओर दौड़ती हैं। बुद्धि

१. चलत (१)।
२. पचीसो दशहू द्वार (१-२)।
३. धै (धै)—(१-२)।
४. पृ०—अवभासो वदति।

भी शुभ और अशुभ कर्म का परिधान करती है। (ऐसी स्थिति में) ज्ञानी (मनुष्य) देहाभिमान को दूर कर "मैं हरि ही हूं" यह ध्यान रहता है ॥६॥

(७)[१]

माई मोर मनुवाँ[२] अति सुजान। धंधकूटि कूटि करे[३] बिहान ॥
बड़ेरे[४] भोर उठि आँगन बाटू। बड़रे खाँचले गोबर काटू[५] ॥
बासी भात मनुसे ली हल खाय। बड़ेरे घेरी लले पानी के[६] जाय ॥
अपने सैयाँ के बांधो[७] पाट। ले बेचोंगि हाट[८] हाट ॥
कहहिं कबीर ई[९] हरि के काज। जोइया के डि(ढि)ग रहि कहु कवन लाज ॥

माईति। मायी=ईश्वरः, तस्योपासना मम स्यात्। बाह्ये वैकुण्ठादिषु ईश्वरं वदन्ति। मनुवा=पाण्डित्ये अतिनिपुणः स्वपरमानन्दशब्दध्वनौ क्षणेऽपि न मरते अज्ञमनः[१०]। धंधेति। कूटि=स्थूलशरीरेण प्रारब्धकर्मयोगाद् भोगा न भुज्यते सुखदुःखादीन्[११]। कूटि पुनः। आगामिपापपुण्योः(ण्ययोः) कर्म करोति। ज्ञात्वापि, विहान=सर्वायुर्गतं एवं तेषामित्यर्थः। बड़रेति। भोः, महति कुले जन्म गृहीत्वा, भोर=प्रारब्धकर्मवशात् कुलाभिमानी बभूव। पुनः आँगन=स्वर्गादि-भोगेच्छया यज्ञादिर्ना(ना)नाक्रियां करोति। कर्मैव वर्द्धते इत्यर्थः। बड़रेति=देवयोनौ गत्वा, खाँच=खे अञ्चति=विचारयति। ले=विमाने आरुह्य, गो=इन्द्रियाणां श्रेष्ठभोगानश्नाति। काठः—कः=ब्रह्म; आठ=उच्चपदं मनसा वाण्या गच्छेत्कदाचिदित्यर्थः। बासी इति। अनादिवासनानुसारेण मनः शुभाशुभयोः, भातः=प्रकाशते। मनुसे=पुनर्मनो यत्पुण्यं पापं करोति तत्स्वयं खादति, सुखदुःखयोरित्यर्थः। बड़ेरेति। महत्त्वमनुष्योत्तमकुलं लब्ध्वा पानीयविषयेषु चित्तं जायते। अपनेति। अत्र स्वसिद्धान्ते अपनसे=ब्रह्मैवाहमस्मीत्यस्याध्यासे, पाट=प्राप्ते सति, बाँधो=मानसं वशीभूतं करोमीत्यर्थः। ले बेंचो इति। महावाक्य-प्रामाण्यात्, स्मृतिप्रामाण्यात्, सतां वाक्यप्रामाण्यात्; गुरुवाक्यप्रामाण्यात्, अनुभवप्रामाण्यात्, मनसो नानाविकल्पं क्रीणामि, स्वचिदात्मनि लयं करोमीत्यर्थः। कहेति। कबीरः=

---

१. (१-२) में इस पद्य की संख्या ६ है।
२. मनुसा (१); मनसा (२)।
३. करत (१-२)।
४. बड़े (१); बड़ी (२)।
५. काढ़ (१-२)।
६. घैल···को (१-२)।
७. बाँधुगी (१-२)।
८. हाटैं (१); हाटों (२)।
९. ये (१-२)।
१०. अर्थ अस्पष्ट है। रमते अज्ञं मनः ?
११. अक्षर स्पष्ट हैं किन्तु अशुद्ध लिखा है। शुद्ध—भोगा न भुज्यन्ते सुखदुःखादयः

श्रुतिस्मृतिरित्थं वदति। मनुष्यतनुं लब्ध्वा हरिरहमिति मिलितुं कार्यं=प्रयोजनं स्यादेतावान् ज्ञातव्यम् । जोइया इति । ब्रह्मणि योजयतीति ब्रह्मविद्या, ब्रह्मैवाहमित्यनुभवं निकटं, तस्मिन् तिष्ट(ष्ठ)स्व[1] । कवन=ब्रह्मैवाहमिति वक्तुं कथं लज्जसे इति भावः ॥७॥

मेरा अभीष्ट ईश्वर (माया) की उपासना है। पाण्डित्य में निपुण व्यक्ति उसका स्थान वैकुण्ठ में बतलाते हैं किन्तु वे नहीं जानते कि उसका निवास स्वयं में ही और परमानन्द की ध्वनि में ही है। अज्ञ मन इस परमानन्द में नहीं रमता। वह तो प्रारब्ध और कर्मयोग से अपने स्थूल शरीर के द्वारा सुख-दुःख आदि का उपभोग करता हुआ भविष्य में आनेवाले पाप और पुण्य के लिए कर्म में ही प्रवृत्त होता रहता है। इसी में वह अपनी पूर्ण आयु व्यतीत कर देता है। प्रारब्ध से ऊँचे कुल में जन्म भी पाया, तो कुलाभिमानी होकर स्वर्ग के उपभोग की अभिलाषा में यज्ञ आदि कर्म करता है और (इस प्रकार) कर्म (का ताँता) बढ़ता जाता है। किन्तु (ऐसा व्यक्ति) मन और वाणी से उच्च पद को भूल जाता है। अनादि वासना के कारण वह शुभाशुभ कर्मों का फल भोगता ही है।

मैं तो, 'ब्रह्म ही हूँ' इस अभ्यास के द्वारा (अपने) मन को वश में करता हूँ और महावाक्य, स्मृति, सज्जनों तथा गुरु के वचन और (साथ ही) अपने निजी अनुभव से विविध विकल्प दूर कर मन को नियन्त्रित करता रहता हूँ। मनुष्य-शरीर पाकर हरि से मिलना—यही प्रयोजन होना उचित है और इस हेतु ब्रह्मविद्या का ध्यान रखना आवश्यक है। ॥७॥

(८)[2]

घर ही महँ बाबू बढ़ी[3] रारि। उठि उठि लागे चपल नारि ॥
एक बड़ी जाके पाँच हाथ। पाँचों के पचीस साथ ॥
पच्चिस बतावे अवर अवर[4]। अवर बतावे केउ ठवर[5] ॥
अंतर मध्ये अंत ले। झकझोरि झेला जीवहिं दे[6] ॥

---

१. पं०—तिष्ठ। व्याख्याकार ने इस सारे पद्यांश की व्याख्या में हिन्दी के मूल शब्द विकृत करके संस्कृत के साथ उन्हें जोड़ने की चेष्टा की है, जिससे व्याख्या अनेक स्थलों पर दुरूह हो गयी है। इसके साथ लिपिकार की अशुद्धियां भी हैं। जैसे मनुष्यः उत्तम—आदि।

२. (१ और २) में इस पद्य की संख्या ७ है।

३. वाढ़लि (१ २)।

४. पोथी में 'और' के स्थान पर 'अवर' सर्वत्र लिखा है।

५. कईक ठौर (ठ-२)।

६. 'लेर' और 'देइ' (१-२)।

आपनि आपनि चाहें भोग । कहु कैसे कुसल परिहैं योग[1] ॥
विवेक विचार न करे का(को)य । सब खलक तमासा देखें लोय ॥
मुख फारि हँसे राव रंक । ताते धरे न पेहहु[2] एको अंक ॥
नियरे न खोजे बतावे दूरि । चहुँ दिशि बागुलि रहलि पूरि ॥
लक्ष[3] अहेरी एक जीव । ताते पुकारैं पीव पीव ॥
अब की बार जो होय चुकाव । कहहिं कबीर ताकी पूरी दाव ॥

घर हीति । घर=अज्ञानकारणान्तःकरणे, बाबू=चिदाभासः । नानामनोरथमयी वासना वर्द्धते । उठीति । इन्द्रियाणि=चपलाः नार्य्यः स्वस्वविषयं भुञ्जन्ति(ते) । एकेति । एका दीर्घतमा ज्ञानमाया, ततः पञ्च महाभूतानि । पाँचों इति । पञ्चानां भूतानामेकैकं चतुर्द्धा चतुर्द्धा भवतीति पञ्चविंशतिः पञ्चीकृतभूतेति । पचीसेति । केचिदाचार्याः पञ्चविंशतिः, षड्विंशतिः, सप्तदश एकोनविंशतिः एका[यां*] मायायां भ्रमात्तत्त्वानि वर्णयन्ति । अन्तरेति । अन्तःकर्ण-(रणां) तरेति । ज्ञात्रादित्रिपुटीसप्तनवद्रव्यगुणकर्मविशेषसामान्यसमवायाभावाश्चैते पदार्थादीनि चतुर्विंशति गुणाः भ्रमात्ते वर्णयन्त्याचार्य्याः । अन्तं न लभन्ते । झकेति । एतेषु नानाभ्रमवादेषु जीवानां कदाचिच्छान्तिर्न भवति । आपनी इति । स्वस्वमतवादेषु वाणीसुखभोगेषु इच्छया निबध्नन्त्याचार्याः । कहु इति । ब्रह्मैवाहमिति । योगविचारं विना कुशलं कथं भवति ? विवेकेति । असद्देहो नाहं, सच्चिदानन्दोऽहम् । विवेकेति । सदसद्विचारं कश्चिन्मृषावादी न करोति । सभेति । ये शास्त्रज्ञाः द्रष्टारो भूत्वा इदं सर्वं अखिलदेहानां, तमासा=जन्ममरणं पश्यन्ति तथापि देहाभिमानं न मुञ्चन्तीत्यर्थः । मुखेति । मुख्यः=स्वात्मारामः, फारि=देहाभिमानं विदार्य, हसति का[4]प्रतिशास्त्रार्थे चक्रवर्त्ती देहाभिमाने गर्त्ते पतति विचारं विना ? रंकः=दीनः स्यात् विषयेषु सक्तः । तातेति । तस्माद्विषयसुखाद् ब्रह्मैवाहमित्यङ्कं स्वहृदयाकाशे सत्यमेकानन्दाद्वयसुखाधारणां, न पेहहु=न लभ्यसे, बुद्धौ=अङ्के इत्यर्थः । नियरेति । आत्मैवाहमिति स्वबुद्धौ, समीपे । तदपि न विचार्यते । दूरं=वैकुण्ठादिषु हरिः वसति ? गीतोक्तं दूरस्थं चान्तिके च तत्[5] । चहुँ इति । बागुलि[6]=मतवादिनः अज्ञानान्धाः सर्वत्र आत्मा परिपूर्णः [इति*] न जानन्ति, ज्ञानचक्षुर्विनेत्यर्थः । लक्षेति । नानात्मवादिनः लक्षसः(शः) एकजीवस्य नानाबन्धनभ्रममुत्पादयन्ति । तातेति । अस्माद् भ्रमात्क्रोशन्ति वैकुण्ठे वा गोलोके [वा*] पीव पीव = हरिर्वसति । तत्र कदा यास्यामि ? अब इति । अद्य मनुष्यदेहे भोः, यदि ब्रह्मैवाहमित्यभ्यासे(सं) न करिष्यसि ततः कबीरः=विज्ञानदृक् वदति—भोः, ज्ञानं बिना जीवस्य पुनर्जन्म पुनर्मरणं [च*] भवतीत्यर्थः ॥८॥

---

१. 'कुसल' और 'जोग' (१) ।
२. पावै (१) ।
३. लछ(च्छ) (१) ।
४. 'हसन्ति' चाहिए । 'का' इस शब्द की संगति वाक्य में नहीं बैठती । कदाचित् अशुद्ध-लेखन है ।
५. भ० गी०, १३,१५ ।
६. वागुरा=जाव; वागुर=पूतात्मा, साधु (कोश) ।

अज्ञान के कारण अन्तःकरण (घर) में ही युद्ध छिड़ गया है। एक ओर चिदाभास (बाबू) है और दूसरी ओर विविध-मनोरथमयी वासना। चपल इन्द्रियाँ (नारियाँ) अपना विषय भोगती हैं। उनमें से एक (ज्ञानमाया) बड़ी है और उसके साथ पंचमहाभूत हैं। दूसरे मत के अनुसार ये पंचीकृत महाभूत सत्रह, उन्नीस और छब्बीस तक होते हैं। कोई कोई तो इन्हें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी एवं द्रव्य, गुण कर्म भी बतलाते हैं। इस विवाद का अन्त नहीं। अतः 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस विचार के बिना (कहीं) कुशल नहीं। देह असत् (और नश्वर) है और मैं सच्चिदानन्द-स्वरूप हूँ—यही विचार समीचीन है।

शास्त्रज्ञ यह सब तमाशा देखते हैं, किन्तु वे देहाभिमान से मुक्त नहीं होते। स्वात्माराम इस चक्कर में नहीं पड़ते।

अतः विषय-सुख छोड़ कर हृदयाकाश में ब्रह्म-भावना स्थापित करो। आत्मा समीप (हृदय के भीतर) ही है, फिर भी उसे दूर वैकुण्ठ आदि में ढूंढते हो? वह परिपूर्ण है यह ज्ञान-नेत्र के बिना जानना असम्भव है। नानात्मवादी भी भ्रम पैदा करते रहते हैं। किन्तु ब्रह्म का अभ्यास करने पर हम जान सकते हैं कि (वास्तविक) ज्ञान के अभाव में जीव जन्म-मरण के बन्धन में पड़ जाता है॥८॥

(९)

ऐसे जातु है दुर्ल्लभ शरीर[१] । राम नाम भजु लागु[२] तीर ॥
गये वेणु बलि गये कंस । दुर्योधन गये बूड़े[३] वंस ॥
पृथु गये पृथ्वी को राव । तिल विक्रम[४] गये रहे न काव ॥
छव चकवे मंडलीक झारि । अजहु हो नल[५] देखु विचारि ॥
हनुमत कस्यप जनक बालि । इन[६] सब छेकल जम के धार[७] ॥
गोपीचंद भल कीन्ह योग । जस रावण मारो करत भोग ॥
ऐसे जात देखि सभन्हि[८] को जान । कहहिं कबीर भजु राम नाम ॥

ऐसे इति । भो मुमुक्षवः, इदं नरतनुं लब्ध्वा, दुर्ल्लभं = मोघं किं व्यतिक्रमथ? रामेति।

---

१. ऐसो दुर्लभ जात शरीर (१-२)।
२. लालो (१); लागू (२)।
३. बूड़ो (१-२)।
४. त्रिविक्रम (१-२)।
५. छौ, मंडलीके, नर (१-२)।
६. ई (१-२)।
७. द्वारि (१-२)।
८. सबहिं (१); सबहीं (२)।

रामनाम=सोऽहमिति भज। शरे लक्षे वेधताम्। वैराग्यार्थं सूचयति, गवनः=एति[१]=अज्ञाने गतः (?)। बलिर्ज्ञाने गतः। कंसदुर्योधनौ अज्ञाने गतौ। द्वयोर्निर्वंशोऽभवत्। पृथिव्या(व्य)धिपतिः पृथुः भूमिं तिलं तिलं कृतवान् पराक्रमे गतः। अन्ये षट्शास्त्रवादिनो गताः, छवेति। षट्-चक्रवर्तिनो राजानः, तेऽपि गताः। सर्वमण्डलिकराजानः, तेऽपि गताः। अजहु इति। भो नर, अद्य विचारं कुरु। दृश्यतामित्यर्थः। हनुमतेति। हनुमान्, कश्यपो ऋषिः (कश्यपर्षिः), राजऋषिः (राजर्षिः) बालिरिति (बालीति) एते सर्वे, इन्ह सभेति। यम=द्वैतधारा, निवारिताः, किं तु ब्रह्मरूपा अभवन्[२]। गोपी इति। गोपीचन्दनाम(मा) राजा योगेनात्मानं ज्ञान(त)वान् राज्य-कर्त्तरि[३], यथा रावणः ज्ञानवानभूत्, परं तु पापाचरणं कृतवान्। अधर्मं भुञ्जानः। तं रावणं काल-रूपः राघवः जघान। भो, एके यशोभावे गताः, केचित् कुयशसि गताः कथामात्रावशेषिताः। एवं ज्ञात (जानीहि)। ऐसे इति। भोः, एवं सर्वे गच्छन्ति दृश्यताम्। कबीराः=साधवः ब्रुवन्ति, राम-नाम=सोऽहमिति भजेत्यर्थः ॥९॥

हे मुमुक्षो, दुर्लभ शरीर का यह उपयोग यह व्यर्थ है। शर का लक्ष्य में वेध करो। अज्ञान के करण सब (शरीर) नष्ट होते ही हैं। बलि, कंस, दुर्योधन, पृथ्वी का अधिपति पृथु, षट्शास्त्रवादी, सभी चक्रवर्ती और माण्डलीक राजा हनुमान्, कश्यप राजर्षि और वाली राजर्षि जनक—सब (के शरीर) चले गए। योग से राज्य करने वाले गोपीचन्द, ज्ञानी किन्तु पापाचारी रावण भी चला गया—कोई यश और कोई अपयश लेकर। अतः कबीर (साधुजन) कहते हैं कि "मैं राम ही हूँ"—यह भजन करो ॥९॥

(१०)

सभे[४] मत-माते कोई न जाग। संग हि चोर घर मुसन[५] लाग॥
जोगी माते धरी ध्यान[६]। पंडित माते पढ़ि पुराण॥
तपसी माते तप के भेव। सन्यासी माते केहंमेव[७]॥
मोलाना माते पढ़ि मोसाफ। काजी माते दनि सार्फ[८]॥
संसारी माते माया के धार। राजा माते कै[९] हंकार॥

---

१. गमनमिति।
२. शुद्ध—ब्रह्मरूपा अभवन्।
३. 'कर्मणि' चाहिए।
४. सब ही (१-२)।
५. मूसन (१-२)।
६. योगी माते योग ध्यान (१-२)।
७. करि अहमेव (१); करि हंमेव (२)।
८. दे इंसाफ (१)।
९. करि (१-२)।

माते शुकदेव उधो वे अक्रूर[1] । हनुमत माते लिये लगूंर ॥
शिव माते हरि-चरण सेव । कलि माते नामा जैदेव ॥
सत्य सत्य कहे सुमृत[2] वेद । जस रावण मारो घर के भेद ॥
चंचल मन के अधम काम । कहँहि कबीर भजु राम नाम ॥

सभे इति । भोः, सर्वे स्वस्वमदेनोन्मत्ताः । अज्ञाः । ब्रह्मानन्दसुखे कश्चिन्न जागर्ति । संगेति । त(ते)षां स्वानुभवं, संगं=वासनामयः चौरः अन्तकरणाद्धरति । किं तानाह, जोगी इति । योगी ध्यानमदे, पण्डिताः पुराणादिपठनपाठने, तपस्वी तपोभिमाने, सन्यासी न्यासाभिमाने, मुल्ला = मुसाफे, काजी निसाफे, संसारिणः मायाव्यवहारे, राजा राज्यमदे प्रमत्ताः । शुकः, उद्धवः, अक्रूरः, एते स्वानुभवानन्दे अप्रमत्ताः स्युः । हनुमान् ब्रह्मपुच्छे ब्रह्मसुखे निमग्नः । यद्वा हनूमान् वीराभिमानी लाङ्गूलं वर्द्धयति । पुच्छस्य आसमन्तात् दुर्गं रचयति । शिवेति । शिवः हरिरेवेदं सर्वम्, अहं हरिरिति ब्रह्मसेवनोन्मत्तः । कलि इति । कलौ नामदेवजयदेवौ भक्तौ, स्मृतयः वेदाः 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति' वदन्ति[3] । जसेति । यथा रावणो बिभीषणं(ण) भेदेन रामेण हतः, तथान्तःकरणे भक्त्यङ्कुरेण मलिनाहङ्कारो नश्यति । चञ्चलेति । मनः चञ्चलमधमम् । कामः संकल्पविकल्पात्मकः । एतन्मनसः[4] वशीभूतो मा भव । कहँहि कबीरः=ज्ञानी इत्थं वदति रामनाम स्मरस्व (स्मर) । सोऽहमिति भावयेति भावः ॥१०॥

अरे, सभी अपने मद से उन्मत्त हैं । वे अज्ञ हैं । ब्रह्मानन्द में कोई जागृत नहीं है (बिरले अपवाद छोड़कर) । वासनामय चोर उनका अनुभव हरण कर लेता है । योगी ध्यान के मद में, पण्डित पुराण आदि के पठन-पाठन में, तपस्वी तपोभिमान में, संन्यासी न्यासाभिमान में, मुल्ला धर्मस्थान में, काजी इंसाफ करने में, संसारी माया-व्यवहार में और राजा (लोग) राज्य मद में प्रमत्त हैं । शुक्र, उद्धव, अक्रूर— ये स्वानुभव के आनन्द में अप्रमत्त हैं । हनुमान् ब्रह्मसुख में, वा अपनी पूँछ का किला बनाने में लगे हैं । शिव सब को हरि मान कर ब्रह्म-सेवन में मत्त हैं ।

कलिकाल में हुए भक्त जयदेव और नामदेव, तथा स्मृतियां कहती हैं कि ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है । जिस प्रकार विभीषण के भेद से राम से रावण का वध किया (कराया), उसी प्रकार भक्ति के अंकुर से अन्तःकरण का मलिन अहंकार नष्ट हो जाता है । मन चंचल और अधम है और काम संकल्प-विकल्पात्मक है । अतः (यह सब जान कर) मन के वश में मत होओ । कबीर (ज्ञानी) कहते हैं कि राम नाम का स्मरण करके 'मैं वही हूँ'—यह जानो ॥१०॥

---

१. उद्धव अक्रूर (१-२) ।

२. सुमृति (१)=स्मृति ।

३. 'द' का अनुस्वार पोथी में 'व' के ऊपर दिया है । तुलनीय—ददात्येव महाबुद्धे निर्वाणं परमेश्वरः । अहर्निशं परमया चिरं भक्त्या प्रसादितः ।। योगवासिष्ठ, १, निर्वाणप्रकरण, अपरार्ध, ६, ४८, २० ।

४. ईदृशस्य मनसः ।

(११)[१]

रसना पढ़ि लेहु[२] श्री बसंत । नहिं तो परबहु[३] जम के फंद ॥
मेरु डंड पर डंक कीन्ह । अष्ट कमल पर जार दीन्ह[४] ॥
ब्रह्म अग्नि[५] कियो प्रकाश । अर्ध ऊर्ध्व तहाँ बहै बतास ॥
नव नारी परिमला गाव[६] । सखी पाँच तहाँ देखन धाव ॥
अनहद बाजा रहल पूरि । तहँ पुरुष बहत्तर खेलहिं धूरि ॥
माया देखि कस रहे[७] भूलि । जस वनस्पति रहलि[८] फूलि ॥
कहहिं[९] कबिर ए[१०] हरि के दास । फगुवा माँगे वैकुंठ वास ॥

रसनेति। भोः सर्वशास्त्रज्ञाः वेतरे, रसनया, श्री=ब्रह्मविद्या, तद्युक्तं ब्रह्मविचारं जपस्व[११] । नहीति । भो , चेद्यदि न रमसि, ततः यमे=द्वैतपाशे पतिष्यसि । मेरु इति । योग-युक्ति वर्णयति । आदौ मेरुं शुद्धं कृत्वा दण्डो यथा ढं(डं)कं = प्राणघोषं शृणुयात् । अत्र भगवद्-गीतोपनिषदि 'समं कायशिरोग्रीव धारयन्नचलं स्थिरः । सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोक-यन्'[१२] ॥ अष्टेति । पुनः योगाभ्यासेन स्वाधिष्ठानाद्यष्टपत्रादिकमलानि प्रकाशयन्ति; अर्द्ध (धो) मुखानि ऊर्ध्वमुखानि कुर्वन्ति । ब्रह्मेति । ब्रह्मैवाहमित्यग्निप्रकाशो भवति । अर्द्धेति । प्राणवायु-रर्द्धोऽर्द्धो भवति । न वेति । नवच्छिद्रेषु, र=रकारध्वनिर्घोषो[१३] भवति । सखीति । पञ्चज्ञानेन्द्रि-याणि सख्यः परमानन्दं दर्शयितुं धावन्तीत्यर्थ, । अनहदेति । भोः अनहदध्वनिः नाभौ भवति । स्वर-पुरेण सह तस्मिन् चित्तं स्थिरीकुरु । तहाँ इति । पुरुषः प्राणः चैतन्यरूपः द्विसप्ततिसहस्रनाडीषु, खेलति=क्रीडां करोति । मायेति । स्त्रिया(स्त्र्या)दिमाय.चमत्कारसौ(सौं)दर्ये उपरि व्यवहारं दृष्ट्वा कथं मोहितोऽसि, यथा वनस्पतिः पुष्पफलैः शोभितः रमणीयो दृश्यते, तद्वत् । भोः, सर्वे वेषधारिणः पण्डिताश्च अश्वारोहणशस्त्रधारणमठादिव्यापारकृषिवाणिज्यद्रव्यसंग्रहसेव्यसेवक-

---

१. (१-२) में इस पद्य की संख्या २ हैं।
२. पोथी में प्रमादवश यहाँ 'होले' लिखा है ।
३. बहुरि जाय परबेहु (१-२) । यम (१-२) ।
४. दीन्ह; परजारि लीन्ह (१-२) ।
५. अग्नि (१), अगिन (२) ।
६. परिमल सा, गाँव (१-२) ।
७. रह्यो है (१-२) ।
८. रह्यो है (१-२) ।
९. यह (१-२) ।
१०. ये ।
११. अशुद्ध । 'जपध्वम्' चाहिए ।
१२. भ० गी०, ६,१३ ।
१३. 'रस्कार' का अर्थ मेरी समझ से परे है । कदाचित् 'र'='रकार' चाहिए ।

मानेषु किं मोहिताः, ये सुखकारिणो न भवन्ति। कहेति। कबीरः ज्ञानी ब्रवीति-ये हरेर्दासाः भक्त्यभिमानिनः, फगुवा=विष्णुं प्रति वैकुण्ठवासं याचन्ति(न्ते)-वैकुण्ठवासं देहि साक्षात् स्वयं वैकुण्ठरूप इति न जानाति ये परोक्ष-सगुणोपासकाः, न तु निर्गुण इति भावः ।।११।।

अरे शास्त्रज्ञो, (अपनी) जीभ से ब्रह्मविद्या और उसके विचार जपो। नहीं तो यम के पाश में पड़ोगे। मेरु (दण्ड) को शुद्ध करके प्राणघोष सुनो। फिर योगाभ्यास से अपने अधिष्ठान आदि के अष्टदल कमल प्रकाशित होंगे। वे अधोमुख हैं; उन्हें ऊर्ध्वमुख करो। तब 'मैं ब्रह्म ही हूँ' यह प्रकाश प्राप्त होगा। तब प्राणवायु अर्द्धार्द्ध होगी। नवों छिद्रों में 'रकार' की ध्वनि तब होती है और पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ साथ-साथ परमानन्द के दर्शन कराने के लिए दौड़ती हैं। 'अनहद' ध्वनि नाभि में होती है। उसमें चित्त स्थिर करो। वहाँ (स्थित) चैतन्यरूप प्राण बहत्तर हजार नाड़ियों में खेलता रहता है।

माया-चमत्कार और बाह्य सौन्दर्य में क्यों मोहित होते हो ? जैसे पुष्प और फल से शोभित वनस्पति रमणीय दिखाई देती है। अरे ! वेषधारियो, पण्डितो, घुड़सवारी, शस्त्रधारण, मठ का व्यापार-व्यवसाय, कृषि, वाणिज्य, द्रव्य-संग्रह, सेवा आदि में क्यों मोहित होते हो ? यह सब सुखकर नहीं है।

कबीर (ज्ञानी) कहते हैं कि हरि के दास, जो भक्ति में अभिमान करते हैं (उसे सर्वोच्च मानते हैं), वैकुण्ठ-वास की प्रार्थना करते हैं, पर वे नहीं जानते कि वे स्वयं वैकुण्ठ-स्वरूप हैं। ये सभी सगुण के उपासक हैं; निर्गुण के नहीं ।।११।।

(१२)[१]

कर पल्लव के बल खेले नारि। पंडित होय से (सो) ले बिचारि ।।
कपरा न पहिरे रहे उघारि । निरजीव सो[२] धनि अति पियारि ।।
उलटी पलटी बाजे[३] तार । काहू मारे काहु उबार ।।
कहहिं कबिर दासन के दास । काहू सुख दे काहु उदास[४] ।।

करेति। अथ ज्ञान्यज्ञानिनोः स्वरूपं दर्शयति। करज्ञानमेव पल्लवाः। अनुभवबलेन प्रबुद्धोऽस्मिन् लोके खेलति योगबलेनां। तयोर्बलेन, क्रीडां=विलासं करोति, न=विरोधं कस्यचित्। यद्वा यथा वेश्या करपल्लवेन जनानां भावं दर्शयित्वा नृत्यति हावभावकटाक्षेण कामिनो मोहयतीति प्रसिद्धं, यद्वा करनेत्रश्रवणादय एव पल्लवाः, तेषां बलेन नारीव अनारी अविद्यामार्गे क्रीडति।

---

१. (१-२) में इस पद्यांश की संख्या ८ है।
२. निर्जिव से (सो) (१-२)।
३. बाजू (१-२)।
४. काहु निरास (१-२)।

माया सर्वत्र खेलति, सर्वेषु क्रीडां करोति। कीदृशः? प्रबुद्धः=पण्डितः समदर्शी चिदहं विचारं ग्राह्यं,[१] यद्वा पण्डिताः विवेकिनः ईदृशीं मायामविद्यां विचारं कुरुते[२]। पुनः कीदृशः? कपरेति। मायाविद्याभ्यां रहितः अज्ञानी तु कपरां=आत्मविद्यां न धारयति। अतः उघारः=ज्ञानशून्यः इत्यर्थः। निर्जीवेति। निरहङ्कारः जीवत्वरहितः, स एव धन्योऽस्ति। हरेरिति[३]। प्रियः ज्ञानी भवति, यद्वा जीवोऽहमिति नित्याभ्यासः, स एव निर्जीवः धनसुतकलत्रधामादय येषामि(म)ति-प्रियाः न तु आत्मविचारः। उलटि इति। ज्ञानी तु स्वर्गमात्मैवाहमिति सत्यम् उलटि पलटि देहमेव नरकं=मृषा मन्यते। अज्ञानी ज्ञानं विना उलटि पलटि जन्ममरणे गच्छति, इतस्ततो भ्रमति, अतार= न तरति ज्ञानं विना। काहू इति। जीवोऽहमित्यज्ञाने मृताः केचित्[४] ज्ञान-विचारे उर्वरिताः। कहेति। कबीरः ज्ञानी हरिदासानां मध्ये दासः श्रेष्ठो ब्रवीत्येव इत्थम्[५]। काहू इति। इयं माया दानपुण्यभोगेन सुखदा स्वर्गदा यथा पाण्डवानाम्। केचिन्मायया दानपुण्यभोगं न कुर्वन्ति, तेषां दुःखदा=नरककारिणी यथा दुर्योधनादीनाम्। अथवा, उद्धवादयः ब्रह्मानन्दे सुखिनः, इतरे ज्ञानहीनाः उदासीनाः इत्यर्थः ।।१२।।

।। इति बसन्तटीका सपूर्णः (सम्पूर्णा) ।।

इस युग्मक में ज्ञानी और अज्ञानी का स्वरूप बतलाया है। ज्ञानी (प्रबुद्ध व्यक्ति) अपने अनुभव और योग-बल से इस संसार में क्रीड़ा करता है (निर्लिप्त होकर रहता है); अथवा, वेश्या अपने हाथ, नेत्र आदि से अपना (हृद्गत) भाव प्रकट करके हाव-भाव और कटाक्ष से पूर्ण अपने नृत्य से (दर्शकों को) मोहित करती है; अथवा, अनाड़ी व्यक्ति अपने हाथ और नेत्र रूपी पल्लवों से (को हिला कर) अविद्या के मार्ग में खेलता रहता है। माया सब कहीं व्याप्त है; इस प्रकार उसका खेल चलता रहता है। किन्तु ज्ञानवान् व्यक्ति यह सब विचार नहीं करता है (और इस झंझट में नहीं पड़ता)।

अज्ञानी आत्मविद्या (कपड़ा) को धारण नहीं करता और ज्ञान-शून्य (उघाड़ा) ही बना रहता है। निरहंकारी व्यक्ति धन्य है, किन्तु अनाड़ी निर्जीव ही है; वह स्त्री-पुत्र, धन-धाम आदि से प्रेम करता है, आत्म-विचार से नहीं। ज्ञानी देह को झूठा और नरक-समान (तुच्छ) मानता है।

---

१. यहाँ अर्थ अस्पष्ट है।

२. शुद्ध—ईदृशी मायाविद्या चेति विचारं कुर्वन्ति।

३. पोथी में ये दोनों अक्षर स्पष्ट हैं। संभवतः 'हरेरतिप्रियः' यहाँ अभीष्ट है।

४. यहाँ 'केचिच्च' चाहिए।

५. अथवा, एवम्=इत्थम्। इस समस्त पद्यांश में लिपिकार ने अनेक अशुद्धियाँ की हैं टीकाकार ने भी अपना संस्कृत का पाण्डित्य दिखाया ही है। अन्तिम पद के बाद लिखा है:- 'इति वंसना व्याख्या संपूर्ण (र्णा) ।।

ज्ञान-विचार से विद्वान् उर्वरित होते हैं। कबीर कहते हैं कि यह सब माया का ही खेल है। दान और पुण्य-पूर्वक भोग करनेवाले को माया सुख देती है और इसके विपरीत वह दुःखकारिणी हो जाती है तथा नरक में ढकेल देती है। पाण्डव पहले प्रकार के उदाहरण हैं और दुर्योधन आदि दूसरे प्रकार के। उद्धव आदि ब्रह्मानन्द में सुखी थे; (उनके अतिरिक्त) अन्यजन या तो ज्ञानशून्य हैं या उदासीन ॥१२॥

—०—

चाचरि

अथ चाचरिः[1] (१)

(१)[2]

खेलति माया मोहनी जिन्हि[3] जेर कियो संसार।
[4]रच्यो रंग ते चूनरी कोइ सुंदरि पहिरो आय ॥
सोभा अदबुद रूप की महिमा वरनि न जाय।
चंद्र-बदनि मृग-लोचनी माया[3] बुँदिका दीन्हों उघारि ॥१॥

अथ सद्गुरुः मुमुक्षून् प्रति मायास्वरूपं विज्ञापयति। भो मुमुक्षो, ज्ञानचक्षुषा पश्यताम्। आब्रह्मादिस्तम्बपर्य्यन्तं सर्वं खल्विदं ब्रह्मावभाति। अविद्यया नानावद्भातीदं मृगमरीचिकावत्। माया मोहिनीति। जडरूपा मृषा ईदृशी अज्ञानिनो बुद्धौ चित्संगेन खेलति=क्रीडति। तथा ब्रह्मविष्णुरुद्रादीनां बुद्धौ स्वसामर्थ्यबलचित्संगेन[5] क्रीडति तद्वत्सर्वजीवानां बुद्धौ सत्यलोकाधिपतिः विरञ्चिरहं, वैकुण्ठाधिपतिः अहं विष्णुः, कैलासाधिपतिरहं रुद्रः एवमिन्द्रादयः सर्वे स्वलोकाभिमानं सुखं वदन्ति। सर्वलोकेषु सुखं नाशमानं; देवदैत्यानां मनोमोहिनी माया। अतः ज्ञानं ऋते परस्परं युध्यन्ति। अतः सर्वेषां जेर=दीनं करोति। अतः संसार=संसृतेर्जन्ममरणे भवतरि-(इ)त्यर्थः। रच्यो इति। मृषारचितं मायाप्रपञ्चरङ्गं, चूनरी=रमणीयां दृष्ट्वाऽज्ञाः प्रमुदन्ति।

---

१. चाचरि=चर्चरी (संस्कृत), एक प्रकार का गायन जिसमें दो व्यक्ति या दो दल बारी-बारी एक के बाद एक गाते हैं।
२. हमारी हस्तलिखित पोथी में चाचरि के दो अंश हैं किन्तु किसी भी पद्य या उसकी व्याख्या के अन्त में उसकी संख्या अंकित नहीं है। यहाँ सौकर्य की दृष्टि से दो दो दोहों का एक युग्मक मानकर उन्हें संख्यांकित किया गया है।
३. छन्द के मान से अनावश्यक।
४. (१) में इसके पहले भी एक पद्यांश है—'कटि केहरी गजगामिनी संशय कियो शृंगार'। इसी प्रकार कुछ अन्य अंश भी विपर्यस्त हैं, जो यहाँ प्रदर्शित नहीं किए हैं।
५. प०—बलेन चित्सङ्गेन ।

कोई=कश्चित् ज्ञानवान्, सुन्दरी=निश्चयात्मिकां बुद्धिं परिधानेन व्यवहारं करोति। सत्यं न मन्यते। स्त्र्यादीनां स्वस्मिन्, स्वम्=आत्मानं ज्ञात्वा सततमवतिष्ठति । सोभेति। माया-रचिताः अद्भुतनानाकारनामरूपाःसूर्यचन्द्रतारकाग्निवाय्वापोभूम्यादिभौतिकादयः[१] चतुरशीति-लक्षाः जडजीवा यत्र तत्र शोभमाना भवन्ति । जीवेश्वरयोर्मायाविद्ययोर्महिमानं वर्णितुं (वर्णयितुं) वेदा अपि न समर्थाः भवन्ति। चन्द्रेति।काचिच्चन्द्रवदनी, काचिन्मृगलोचनी देवस्त्रियः, मनुष्यस्त्रियः, मायाकपटरूपाः, सर्वाः अस्थिचर्ममांसरुधिरमलमूत्रमयाः। आपादमस्तकपर्य्यन्त-नरकघोरानर्थरूपायाः स्त्रियः बुंदिका=ललाटरक्तवर्णतिलकः, नेत्रयोः कज्जलं, नानावस्त्रं च, नानाकेयूरादिकान् [च*] दृष्ट्वा ज्ञानिनो मनः मोहयतीत्यर्थः[२] ॥१॥

ज्ञान-नेत्र से देखने पर ज्ञात होता है कि मोहिनी माया सब कहीं फैली है। ब्रह्म से स्तम्ब पर्यन्त (सब कुछ) इस अविद्या के (ही) कारण अन्य ही रूप में दिखाई देता है। इसी अविद्या के कारण ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और सभी देवों और जीवों की बुद्धि में भ्रम होता है।

ब्रह्म, विष्णु और रुद्र स्वयं को (क्रमशः) सत्यलोक, वैकुण्ठ और कैलास के अधिपति समझने का अभिमान करते हैं; इसी प्रकार इन्द्र आदि देव अपने अपने लोक का। किन्तु किसी भी लोक में सुख चिरस्थायी नहीं है; इसी हेतु आपस में (इन सब में) झगड़ा होता रहता है।

माया के इस मृषा-प्रपञ्च की रमणोयता अज्ञजनों को आनन्दित करती रहती है, किन्तु ज्ञानवान् व्यक्ति अपनी निश्चयात्मक बुद्धि से इसे असत्य जानकर विचलित नहीं होता। अनेक प्रकार के नाम और रूपवाले सूर्य, चन्द्र, तारे, पंच-महाभूत और चौरासी लाख जड़ जीव माया-निर्मित हो हैं। जीव की अविद्या और ईश्वर की माया का वर्णन वेद भी नहीं कर सकते। देव और मनुष्य की चन्द्रवदनी और मृगलोचनी स्त्री– ये सभी कपटरूप हैं; उनका शरीर हाड़-मांस, लोहू, मल-मूत्र आदि के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता। किन्तु अपने वेश, तिलक, कज्जल आदि से वे सब को मोहित करती रहती हैं ॥१॥

(२)

जती सती सब मोहिया गज गति ऐसी वाकी[३] चाल।
नारद के मुख माँडि के लीन्हों वसन छिनाय[४] ॥

---

१. इस वाक्य में अनेक अशुद्धियाँ हैं, जिसे शुद्ध करके यहाँ लिखा है।

२. शुद्ध=मुह्यति।

३. छन्दोमान से अनावश्यक।

४. छोड़ाय (१-२)।

गर्व गहेलो गर्व से उलटि चली मुसुकाय ।
शिव सन ब्रह्मा दवरि[1] के दूनो पकरो जाय ॥२॥

स्त्रीमायासामर्थ्यमाह । मायया जती=जितेन्द्रियोऽपि कदाचिन्मुह्यति। सती=सद्वक्तापि मुह्यति । कीदृशी माया ? स्त्रीरूपा, गज ामिनी। नारदेति। अम्बरीषसुताहेत्वर्थं नारदः कपिमुखोऽभवत् । पुनः नारदस्य ज्ञानं = वसनं मायया हृतम् । पुनः कीदृशी ? गर्व=मानिनी। गर्वात्सर्वं वशीकृत्य, स्मितहास्यं कृत्वा, धन्याहमिति मत्वा स्वस्यागच्छतीत्यर्थः[2] । शिवेति शिवोऽपि मोहिनीरूपे मोहितः । सनकादिको जयविजयशापे, ब्रह्मा दुहितरि । एतेऽपि सामर्थ्यरूपाः स्युः, परं तु मायया वञ्चिताः ॥२॥

माया जितेन्द्रिय और सत्यवादी को भी मोहित कर लेती है। इस गजगामिनी ने अम्बरीष की कन्या (की प्राप्ति) के लिए नारद का मुंह बन्दर सरीखा कर दिया था। उनके ज्ञान का इसने हरण कर लिया था। माया अपने गर्व से सब को वश में करके, मुस्कुराती हुई स्वयं को धन्य मानती है। शिव भी मोहिनी के रूप से, सनकादि जय-विजय के शाप से और ब्रह्मदेव अपनी लड़की में (उसका रूप देखकर) मोहित हो गए। ये सभी सामर्थ्यवान् थे, किन्तु माया से वञ्चित किए गये॥२॥

(३)

फगुवा लियो छिनाइ[3] के बहुरि दियो छिटिकाय ।
अनहद धुनि बाजा बजं श्रवण सुनत भा चाव॥
खेलनि हारा खेलि हैं जैसी बाकी दाव ।
अज्ञान ढाल आगे दियो टारे टरत न पाव ॥३॥

फगुवा=तेषामपि ज्ञान-विचारं हरति । वशीकृत्य पुनः अनुभवस्वरूपान्मोचिताः । ब्रह्मादीनामीदृशी वार्त्ता, इतरेषां का कथा इति पुराणान्तरे प्रसिद्धम् । अनहदेति । न हदो= मर्यादा, पारो मायाकारस्य इत्यनहदः । तदेव वर्णयति । चतुर्वेदाः, नवव्याकरणानि उपवेदाश्च चत्वारः, षट् शास्त्राणि, अष्टादश पुराणानि, उपपुराणानि, चतुर्दश विद्याः, भाषा-संस्कृतदेश-भाषा-सगुण निर्गुणपक्षापक्षवादप्रतिवादाः मायाकाराः सर्वाः ध्वनिरूपाः स्युः । बाजे=वेदान्ता-द्यनेकशास्त्रमतानि वाद्यानि डिण्डिमेत्यादीनि । श्रवणेति । यद्यद्वाक्यं=ध्वनिः श्रूयते तदिच्छा= मनोर्थो (मनोरथो) भवति प्राणिनाम् । खेलेति । ज्ञानी नैराश्यभावेन इदं सर्वमसद् ज्ञात्वा, यथा, दाव=इन्द्रियव्यापारं व्यवहारं—कथनचलनक्षयनाशनक्षुधातृषावसनपरिधानेत्यादीनि करोति निरहङ्कारेण । बाकी=मायाव्यवहारं मृषा ज्ञात्वा खेलति=सर्वत्र स्व(स्वे)च्छया क्रीडति । खेलनिहारो=विज्ञानदृक् इत्थं वदति नाहं करोमीति किञ्चित्[4] सततं मन्यते इत्यर्थः।

१. दौरि (१-२)।
२. यहाँ अर्थ अस्पष्ट है। प्रत्यागच्छति 'अथवा स्वयमागच्छति' पढ़ना सुसंगत है।
३. लीन्ह छुड़ाइ (१); छुड़ाय (२)।
४. प० करोमि किञ्चिदिति।

अज्ञानेति । अज्ञानमेव चर्माग्रभागो य(ये)षां नैव विचारः। यद्यत् कर्मण्यभिमानं मन्यते—अहं कर्त्तेत्यभिमानपदं, न टरत=दूरं न भवति । ज्ञानी तमुपदिशति, तथाप्यज्ञानं न त्यजति ।।३।।

माया व्यक्तियों के ज्ञान-विचार को दूरकर अपने वश में करने के बाद (कुछ न कुछ) अनुभव देकर उन्हें छोड़ देती है। ब्रह्मादि देवों के जब ये हाल हैं, तब अन्य जन के बारे में क्या कहा जाय ? माया के आकार की सीमा (भी) नहीं है। वेद, व्याकरण, शास्त्र, पुराण आदि यही कहते हैं। ज्ञानी इसे असत् मानकर निरहंकार (निर्लिप्त) और उदासीन भाव से अपने दैनिक व्यवहार करता है; विज्ञान-चक्षु मानता है कि यह सब वह नहीं कर रहा है। प्रत्युत, अज्ञानी को (के मन में) यह विचार नहीं आता। वह जो कुछ करता है उसमें 'मैं यह कर रहा हूँ' यह उसका अभिमान होता है। समझाने पर भी वह अपना यह अभिमान नही छोड़ता ।।३।।

(४)

खेंलनिहारा खेलि है बहुरि न ऐसी दाव ।
सुन नर मुनि अरु[१] देवता गोरखदत्त व्यास[२] ।।
सनक सनंदन हारिया अवर सो केतिक बात[३] ।
छिलकत थोथे प्रेम सों धरि[४] पिचकारी गात ।।४।।

खेलेति। खेलनिहारा= जीवन्मुक्तो ज्ञानी निरभिमानेन सर्वक्रियासु खेलति= क्रीडति । बहुरि=ज्ञानिनः पुनर्देहो न जायते इत्यर्थः । सुरेति। सुरादिसनन्दनान्ताः इत्यादयः सर्वे मुनयः स्थिरीबभूवुः । अत्र श्रुतिः— 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहेति[५]' । ...... रतः सर्वे तूष्णीं स्वात्मनि बभूवः (वुः)। अवरे सा=(सो=) इतरशास्त्रज्ञानां का कथेति । छिलकेति । पिचकारी=शरीरं धृत्वा, थोथे=धनदारासुतग्र (गृ)ह पशुस्वजनेषु सर्वेषु थोथेषु मृषारूपेषु अत्यन्तं प्रेमं(म) करोत्यज्ञः। सीचति (?) स्वस्य मत्वा। सत्सु साधुषु स्नेहो न । अत्र भागवते—'यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम ईज्यधीः। यत्तीर्थ-बुद्धिश्च जलेन कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः।'[६] इति ।।४।।

जीवन्मुक्त ज्ञानी (देह, धन-धाम, स्त्री पुत्र आदि में) अभिमान नहीं करता। उसके देह की फिर उत्पत्ति नहीं होती। देवों से सनन्दन तक (इसी कारण) सभी

---

१. औ (१-२)।
२. औ व्यास (१-२)।
३. और कि केतिक आस (१)।
४. मारे (१-२)।
५. तैत्तिरीयोपनिषद्, २, ४-५ ।
संभवतः लिपिकार ने इसके बाद कुछ अंश छोड़ दिया है, क्योंकि यह वाक्य अधूरा ही है। जैसे कि कोष्टकों के प्रयोग से अन्य अशुद्धियाँ भी स्पष्ट ही हैं।
६. भागवत,

स्थिर हो गए। गोरख, व्यास, सनक आदि भो। अन्य शास्त्रज्ञों की क्या कथा ? अज्ञ व्यक्ति धन, दारा, सुत, गृह, पशु स्वजन—इन्हें आत्मीय मानकर इन में आस्था रखता है और उनका पोषण भी करता है। यह सब मिथ्या (माया) ही है।।४।।

(५)

करि लीन्हों बसि आपनी फिरि फिरि चितवति जात।
ज्ञान गाढ़[1] ले रोपिया त्रिगुण दियो है साथ॥
शिव सन ब्रह्मा लेन कहो है अवर[2] को केतिक बात।
एक वो (ओ)र[3] सुर मुनि नर ठाड़े एक अकेली आप॥५॥

अतः अविद्या तानात्मवशे कृत्वा, लियो=नानाभिमानं गृह्णाति। फिरि फिरि=पुनः पुनः स(स्व)स्य महत्त्वं मन्यते—अहं ब्राह्मणः वेदाभ्यासी, त्वं शूद्रः; इयं स्त्री, अयं पुरुष इति मोहितः। ज्ञानेति। मतवादिनः शास्त्राभिमानगर्त्ते पतिताः त्रिगुणमया रोपिताः (?) किमहं सुखी दुःखीत्यादिवाक्यैरविद्यायां चित्तां(त्तं) दीयते। शिवोपि[4] स्वसामर्थ्येन मायया चकितः=जगल्लयात्मकोऽहम्, विष्णुः जगत्पालकोऽहम्, सनकादिकः अखण्डाकारज्ञानवानहम्, ब्रह्मा सर्वसृष्टिकर्त्ताहम्, इति त्रिक्षेपशक्तिसहिताः[5], अवर=इतरेषां जीवानामविद्यायुक्तानां का कथा स्यात्। एकेति। सुराः=इन्द्रादयो देवाः, सर्वे नराः, राजर्षयो जनकादयः, सर्वे मुनयः वाल्मीकिवसिष्ठयाज्ञवल्क्यादयः बहवः एकमात्मानं, अविद्यामायापरं वर्णयन्ति वचसा, अद्वैतात्मनि ठाड़े=तिष्ठन्ति। स एव चिदात्मा मायाविद्या स्वयमेव भवति जानदृष्टया। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'त्यभ्यासिनः,[6] डोर=मायाभासो गतः। ज्ञानहीनाः एकां मायां पश्यन्ति। एक अकेली=एक माया सत्या स्वयं स्यादिति शक्तिका अस्मिन् निश्चये तिष्ठन्ति ॥५॥

(इस प्रकार) सभी को वश में करके, वह (चारों ओर) देखती जाती है। (इसी कारण सारा अभिमान भी है)। कोई कहता है—मैं ब्राह्मण, वेदाभ्यासी हूँ; तू शूद्र है; यह स्त्री है; यह पुरुष है, आदि। इस प्रकार मोह फैला है। स्वयं को सुखो या दुखी मानने का कारण भी अविद्या ही है। शिव, विष्णु और ब्रह्मा स्वयं को जगत् के लय, पालन और उत्पत्ति का कारण मान कर अभिमान करते हैं। सनकादि स्वयं को अखण्ड ज्ञानवाले मानते हैं; इन्द्र आदि देव, जनक, वसिष्ठ,

---

१. डाग (१); ढाल (२)।
२. पोथी में सब स्थलों पर 'और' के स्थान पर 'अवर' ही लिखा है।
३. 'ओर' के स्थान पर 'अवर' लिखना लिपिकार का दोष है।
४. दूसरे अक्षर का व्यञ्जन 'प्' लिखकर फिर सुधारा है।
५. 'विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत्' (वाक्यसुधा, ५,१३)।
६. क्रमशः, छां० उ०, ३,१४,१, और बृह-उ०, १,४,१०।

वाल्मीकि आदि मुनि और राजर्षि—सभी अविद्या के बारे में कहते हैं, फिर भी उसी में डूबे हैं।

यह सब (सारा जगत्) ब्रह्म ही है यह ठीक समझ लेने के बाद माया-वाद का यह सारा आभास समाप्त हो जाता है। यही चिदात्मा है। (यद्यपि) शाक्तिक (शक्तिपूजक) माया को ही सर्व प्रधान मान कर उसी की पूजा करते हैं ॥५॥

(६)

दृष्टि परे उन्हि[1] काहु न छाँडो के लीयो एक धाप॥[2]
जेते थे तेते लियो[3] घूँघट माहिं समोय।
कज्जल बाकी रेख है अदग गया नहिं कोय॥
इन्द्र कृष्ण द्वारे खड़े लोचन ललचि नचाय।
कहहिं कबिर ते ऊबरे जाहि न मोह समाय॥६॥

दृष्टि परे=मायाकारे (?) येषां दृष्टिः स्यात् ते सर्वे म(मा)यया गृहीताः। उन्हि, तत्कालभयान्न विमोचयति। धाप-अज्ञजनाः अज्ञानमार्गे धावन्ति। नानायोनु(नि)षु यान्तीत्यर्थः। जेते इति। चतुर्दशलोकेषु यावन्तः प्राणिनः ते ते सर्वे, अविद्यामूढ=तथा विक्षिप्ताः अविद्यया। येषां ज्ञानमाच्छादितम्। घूँघट—मुख्यात्मविद्या'छादनमविद्या; या चैतन्यं जडवत्करोति।[4] पुनः कीदृश्यविद्या ? प्राणिनामन्तरे कज्जलवदन्धकाररूपा सैव रेखा स्यात्ततः अविद्यासेवनात्कश्चिन्न दग्धो भवति। ज्ञानाग्निं विना निश्चयं न गम्यते (गच्छति)। इन्द्रेति। इन्द्रतुल्याः ये शास्त्रवादिनः तेऽप्यविद्यायुक्ताः। कृष्ण=अज्ञानयुक्ताः मायाविद्ययोर्द्वारे वादप्रतिवादे तिष्ठन्ति, सुतकलत्रादिषु, लोचन=अत्यन्तप्रीतिः। ललचि=लोभरुचिः नचाय=सुतकलत्रसि(शि)ष्यहेतवे नृत्यति दशदिक्षु धावति। कहहीति। कबीरः=श्रुतिस्मृतीतिहासादयो मुनयश्च साधवः [च*] वदन्त्येवं वेदादिवाक्ये—इहामुत्र भोगे ये न मुह्यन्ति ते उर्वरिताः। जाहि—यः मायाविद्याभ्यां परं(रो) वर्त्तते स एव स्वात्मारामो भवति **'ब्रह्मविद्वरिष्ठः'**।

ब्रह्मवित्कथं मुच्यते ? यदात्मनि एकाग्रचित्तो भवति तदा ब्रह्मवित्-संज्ञा भवति। यदा सर्वं खल्विदं ब्रह्म, ब्रह्माहमिति, 'ब्रह्मविद्वर-संज्ञा' स्यात्। यदात्मनि चित्तं निरुध्य निर्वातदीपवदचलो भवति, नेङ्गते चित्तम्, आत्मध्यानेऽचलो भवति[5], तदा 'ब्रह्मविद्वरीयान्' संज्ञा स्यात्। यदा यथा

---

१. उन (१-२)।

२. यह पंक्ति पिछली 'पंक्ति का उत्तरांश है, जिसके अन्त्य के अक्षर 'आप' हैं। लिपिकार ने अन्य स्थलों पर भी ऐसा प्रमाद किया है; उसी का अनुसरण यहाँ भी हुआ है क्योंकि इस परिवर्तन से लेखन का आकार बढ़ जाना सम्भव था।

३. लिये (१-२)।

४. 'घूंघट' के बाद यह सारा वाक्य अशुद्धियों से पूर्ण है। यहाँ सब शुद्ध किया गया है।

५. तुलनीय—भ० गी०, ६, १९।

दीपो निस्तैले भूत्वा निर्ज्वालो भूत्वा शून्यो (शून्यतां) गतः, तद्वद्यथा योगी निवृत्तो ब्रह्मैव भूत्वा निर्ध्यानो निश्चिन्तो भवति तदा ब्रह्मविद्वरिष्ठसंज्ञो भवति ॥६॥

दृष्टि माया की ओर जाते ही उस व्यक्ति को वह अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। वह अज्ञान-मार्ग पर दौड़कर अनेक योनियों में भ्रमण करता है और अविद्या के कारण विक्षिप्त होकर जड़वत् बन जाता है। आँखों में अन्धकार छा जाने से और ज्ञानाग्नि के अभाव में वह अपना मार्ग निश्चित नहीं कर पाता। कोई कोई तो इसी में सन्तप्त रहता है। इन्द्र, कृष्ण आदि भी इसके प्रभाव से मुक्त नहीं हैं। मनुष्य भी अपने सुत-कलत्र के हित की दृष्टि से सब कहीं दौड़ते रहते हैं। श्रुति, स्मृति, साधु और मुनि कहते ही हैं कि इहलोक और परलोक के भोग में जो मोहित नहीं होते वे स्वात्माराम ही इस (माया) से उबरते हैं।

ब्रह्म को जानने के बाद मुक्ति किस प्रकार होती है? व्यक्ति एकाग्रचित्त होने पर 'ब्रह्मविद्' बनता है। सारा जगत् ब्रह्म ही है और मैं भी ब्रह्म ही हूँ—यह समझ आने पर वही व्यक्ति 'ब्रह्मविद्वर' हो जाता है। फिर, आत्मा में चित्त-निरोध करके 'निर्वातदीप' के समान जब वह आत्म-ध्यान में अचल हो जाता है, तब 'ब्रह्मविद्वरीयान्' कहलाता है। अन्त में, धीरे धीरे तेल समाप्त हो जाने के बाद जैसे दीप की ज्वाला कम होते होते बुझ जाती है, उसी प्रकार योगी ब्रह्म-भाव का प्राप्त कर तथा ध्यानरहित और चिन्ता-रहित हो कर 'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' हो जाता है ॥६॥

—o—

चाचरि (२)[१]

(१)

जारो जग को नेहरा मन[२] बोराहो। जा महँ शोग(क) संताप समुझु मन···[३] ॥
विना नेव को देव घरा मन बोराहो। बिनु कहगिल की ईंट समुझु मन··· ॥१॥

एतत् संज्ञा[४] कथं प्राप्यते तदाह--भूमिकासप्तकेन शुभेच्छां गृहीत्वा मुमुक्षुः वैराग्यवान् नाम-

---

१. चाचरि १ में माया की करतूत प्रदर्शित करने के पश्चात् द्वितीय अंश में उससे मुक्ति पाने का उपदेश दिया है। इस अंश में भी चाचरि-१ की ही भाँति पद्य-संख्या अंकित नहीं है। यहाँ चार चार पाद साथ लेकर संख्या-क्रम मैंने अंकित किया है।

२. इसे इस प्रकार भी पढ़ा जा सकता है—'नेह राम न'।

३. इसके बाद (१) में यह अधिक है:—तन धन से क्या गर्व सी मन···भस्म कीन्ह जा के साज समुझ मन···। अतः पद्य-संख्या में अन्तर होना स्वाभाविक है।

४, प०—'एषा संज्ञा' या एतत्संज्ञा।

रूपं जगदिदं सर्वं मृषा ज्ञात्वा तत्पश्चाद्=अनन्तरं ब्रह्मैवाहमिति **ब्रह्मविद्याविचारसोंतं** तनुमनसोरैक्यं कृत्वा **तनुमनोरूपभूमिकया** चित्तमेकाग्रं भवति[१]। पश्चात्**सत्त्वापत्या** शुद्धसत्त्वब्रह्मैकाकारे दृढा बुद्धिः। पश्चादिहामुत्रयोः पदार्था नामभावना भवति,[२] मच्चित्तो भवति। तत्पश्चादा**संसक्ति**रुत्पद्यते स्वतः। तल्लक्षणं पिण्डब्रह्माण्डे द्वावेके ज्योत्याकारो भवति[३] स्वतः। अतः परं सप्तमी (म्या) भूमिकया **तुर्येण** समष्टिव्यष्टिजीवेश्वरावुभौ न भासेते स्वतस्तस्य; अस्यामवस्थायां ज्ञानी स्थितः सन् लोके **जीवन्मुक्त्यावतिष्ठति**। स्वज्ञानानुभवेन स्वस्य संरक्षणं करोति। स्वयं स एवैकस्तपस्वी भवति। विसंवादाभाववादावादप्रतिवादेभ्यो रहितो भवति। अविद्यादुःखनाशो भवति। परमानन्दसुखाविर्भावो भवति। ततः पश्चात् त्रिपुटीकथा त्रिपुटीवादिनां न रोचते तस्य[४]। अन्येषां मुमुक्षूणां शरणागतानामेवमुपदिशति ज्ञानी, जारो इति।

हे साधो, अज्ञानेन मनः सङ्कल्पेन या त्रिपुटी स्यात्, ज्ञानेनैव, अतः आत्मा स्वयमेको भूत्वा जगत्-त्रिपुटीभ्यः—कर्त्ताकर्मक्रियाप्रमाताप्रमाणप्रमेयध्याताध्यानध्येयज्ञाताज्ञानज्ञेयेभ्यः रहितो भव। नेहरा=एषु प्रीतिं मा कुरु। आत्मैवाहमिति ज्ञानाग्निना, जारो=वासनां भस्मसात् कुरु, अग्नौ यथा समिधः। कथं भूतं जगत्? द्वैतम्। यस्मिन्नभ्यासे शोको भवति। अध्यात्माधिभूताधिदैवेतित्रिधातापैः तापितो भवति, अतः यत्र न शोको न मोहो भाति तत्स्वरूपं, समुझ=विचारवान् भव। मनेति=मननवान् भव। आत्मन्यात्मना आत्मानं पश्येति, समुझ=विबुध्यतामित्यर्थः। विनेति। नेव=आधारं विना देवस्य चित्रं नास्ति तथा चैतन्यं विना त्रिपुटी न सम्भवति। एवमज्ञमनो न जानाति। हे साधो, एवं जानीहि। मयि कल्पिता मय्याधारे त्रिपुटी च मयि विलीयते; चिद्रूपोऽहमेकः। विना कह गिलेति। यथा गिल=आर्द्रमृत्तिकां विना इष्टिकानां च ग्रहं[५] कथं भवति? एवमात्मानं बिना जग[त्*]कुतः? त्वमेव जगत्; जगत् त्वमेव। हे सज्जन, जगद्भावनां मनसो ज्ञानं त्यज। चिद्रूपोऽहमिति, समुझु=विविच्य साक्षात्कारो भवति॥१॥

'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' संज्ञा की उपलब्धि का मार्ग प्रदर्शित किया जाता है। भूमिका-सप्तक से शुभ इच्छा करके वैराग्यवान् होकर मुमुक्षु समस्त जगत् को मिथ्या जानकर 'मैं ब्रह्म हो हूँ' इस विचार में शरीर और मन एक करने से 'तनु-मनोरूप' भूमिका के द्वारा चित्तैकाग्र्य को उपलब्धि करता है। तब ऐहिक और पारमार्थिक पदार्थों का भान नहीं रहता। इससे 'संसक्ति' स्वयं उत्पन्न होती है। उसके अनन्तर, सप्तम भूमिका से समष्टि-व्यष्टि तथा जीव और ईश्वर का उसे भास नहीं होता। इस अवस्था में वह जीवन्मुक्त होकर निज के ज्ञानानुभव से अपना संरक्षण करता

---

१. प०—'करोति'।

२. प०—'पदार्थानामभावना भवति'।

३. एकज्योतिराकारौ भवतः।

४. विस्तार के लिए परिशिष्ट देखिए।

५. गिल=गिलावा। ग्रहं=प० ग्रहणम् (परस्परम्)।

है। तब वह एकाकी तपस्वी ही होता है और प्रतिवाद से रहित तथा अविद्या-जन्य दुःख का नाश होने से उसके लिए परमानन्द का आविर्भाव होता है। तदनन्तर त्रिपुटी-वादियों की त्रिपुटी-कथा में (भी) उसकी रुचि नहीं रहती। तब अन्य मुमुक्षु को भी वह उपदेश देता है कि हे मुमुक्षो, अज्ञान के कारण, कर्त्ता, कर्म, प्रमाता, प्रमेय आदि की जो त्रिपुटी उत्पन्न हुई है, उसे 'मैं आत्मा ही हूँ' इस भावना से जला दो। जगत् द्वैतरूप है यह अभ्यास शोक का कारण है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीनों प्रकार के तापों से मुक्त होकर, आत्मा में, आत्मा से आत्मा को ही देखो (दर्शन करो)।

आधार के बिना देव का चित्र नहीं हो सकता; उसी प्रकार, चैतन्य के बिना त्रिपुटी का चित्र होना असम्भव ही है। यह (भली भाँति) समझो; अज्ञ यह नहीं जान सकता। यह त्रिपुटी स्वयं के आधार पर मैंने ही रची है और (अब) मैं चिद्रूप हो गया हूँ, यह समझ कर स्वयं में उसका लय करो।

मिट्टी के बिना जैसे ईंट नहीं बनती, उसी प्रकार आत्मा के बिना जगत् का निर्माण नहीं होता। तू ही जगत् और जगत् तू ही है। हे साधु, मन से जगत् की भावना दूर करो। मैं चिद्रूप (ही) हूँ यह समझने पर ही साक्षात्कार होता है॥१॥

(२)

कालभूत की हाशनी मन...[१]। चित्र रचो जगदीस समुझु... ॥
तन धन से का गर्वसि[२]...। भस्म कि रिमिजा को साज[३]... ॥२॥

कालेति। भूतकाले ये बभूवुः, भविष्यत्काले ये भविष्यन्ति, अद्य वर्त्तमानकालीनाः, ते सर्वे ज्ञानहीनाः। हास=ब्रह्मविद्योपहासं कुरुते (कुर्वंते)। हे विद्वन्, तेषां मनः, बोरा= आत्मविचारहीनं (नम्), अतोऽज्ञाः। यद्वा, कालः=बिन्दुः। कागद=चित्रवदिदं सर्वं जगत् इति जानीहि। चित्रेति। हे महात्मन्, जगदीशेनेदं सर्वं जगदाकारं चित्रवद् बुद्ध्या रचितं वा बहिरंतरयोस्त्रिपुटी ईश्वरे चिदानंदे। अतएव जगतां त्वमेक री(ई)शोऽसि। एवं स्वस्य विवेचनं कुरु। मन=सततं मननं कुरु। बोरा=निर्विकल्पो भव। तन धनेति। तन=देहवानहं, धनेन सुखवानहमेताभ्यां मृषाभ्यां भवान् गर्ववान् मा भव। चिदाकाशोऽहमिति मननवान् भव[४]। बोरा=तनधनकलत्रपुत्रादिकेभ्यो निस्प्रहो[५] भव। भसमेति। अहो भव(वा)न् निजज्ञानचक्षुषा

१. सर्वत्र मन बौराहो के स्थान पर यहाँ शून्यों का प्रयोग किया गया है। पाठान्तर—कालबूत की हस्तिनी (१-२)।
२. क्या गर्वसी (१); गर्भसी (२)।
३. भस्म कीन्ह जाके साज (१-२)।
४. यहाँ 'भाव' लिखा है।
५. प०—'निःस्पृहो'।

पश्यतामपि सुतकलत्रस्वदेहानां संज्ञा क्रमिविट्‌भस्मसंज्ञेति । प्रत्यक्षं पश्यताम् । भो मन=मूर्ख, एवं जानीहि ॥२॥

भूत और वर्तमान काल में जितने लोग हो गए हैं और हो रहे हैं, तथा भविष्यत्काल में जितने होंगे, उनमें से ब्रह्मविद्या का उपहास करने वाले सभी ज्ञानहीन ही हैं। (दूसरा अर्थ)—काल (एक) बिन्दु है और यह सारा जगत् चित्रवत् है, जो जगदीश ने स्वयं होकर रचा है। अत: जगत् का तू ही एक ईश है। इस प्रकार स्वयं का विवेचन करो और निर्विकल्प बन जाओ। तन और धन में मिथ्या गर्व मत करो और मैं 'चिदाकाश' यही मनन करते हुए पुत्र-कलत्रादि में भी नि:स्पृह बनो। अपने ज्ञान नेत्र (खोलकर) देखो कि सुत, कलत्र और स्वयं का शरीर क्रमि, विष्ठा और भस्म के समान है। हे मूर्ख मन, यह समझो ॥२॥

(३)

काम अंध गज बसि परे... । अंकुस सहिहहु सीस[1]... ।
मर्कट मुठी[2] स्वाद की... । लीन्हो भुजा प्रसारि[3]... ॥३॥

कामेति । हे विज्ञानदृक्, यथा वनगजो मनुजव्याधप्रपंचेन रचितकरिण्यां कामांधो भूत्वा गर्त्ते पतति, तद्वशीभूतो भवति, तद्वत्सकाम्यज्ञमनः धनादिषु मोहबन्धने पतति, नानादु:खं सहति(ते) स्वविचारं विहाय इत्यर्थः। अंकुसेति। यथा गजस्तस्य वसी(शी)भूत: अंकुशेन पि(पी)ह्यमानो भवति तथेदं सर्वं प्राणिमात्रं विषयासक्त: सन् स्त्रियादीनां परेषां भृत्यो भूत्वा पराधीनो नानासंतापं सहति(ते)। हे आत्मरत, अत: एषां राज्ञा चतुर्वर्णादीनामनात्मविचार-हीन: (?) मर्कटेति। यथा वानरवशकर्त्ता कश्चिन्नरो गर्त्तं खनित्वा तस्मिन् गर्त्ते घटं दृढं कृत्वा किंचिदन्नं घटे दूरो (दूरत:?) क्षिप्त्वा न तं पश्यति, तं दृष्ट्वा मर्कटो निजहस्तं तस्मिन् प्रव-(वे)शयित्वा मुष्टिकयान्नं गृहीत्वा बहिर्न भवति यावत् तावत्तं बन्धको धावन्तं गृहीत्वा गृहे गृहे[4] नर्तयति। स पश्यतोऽपि मुष्टी(ष्टिं) न विमोचयति मूढ: स्वादवशेन। कुत: ? पशुवन्मनो-वृत्तिर्येषाम्। लीन्हो इति। भो मन:, स्वपरमानन्दं प्रसारितभू(भु)जाभ्यां मिलिहु ॥३॥

अरे विज्ञानदृक्, व्याध के द्वारा प्रपंच-रचित हथिनी पर कामान्ध होकर जिस प्रकार जंगल का हाथी गर्व में पतित हो जाता है, उसी प्रकार, सकाम मन, धन आदि के मोह से बन्धन में गिर जाता है। वही वन्य गज परवश होकर अंकुश की पीड़ा सहन करता है; वैसे ही विषयासक्त व्यक्ति स्त्री आदि के अधीन होकर सन्तप्त होता है। हे आत्मरत, यही हाल उस बन्दर का होता है जिसे वानर-नर्तक

१. सहियो शीस (१); शीश (२)।
२. मूठा (१)।
३. पसारि (१-२)।
४. मूल में 'ग्रहे-ग्रहे' लिखा है।

कुछ खाद्य (चने आदि) से भरा घड़ा (किसी) गड्ढे में मजबूत बाँधकर उसे पकड़ लेता है। चने लेकर वह बन्दर अपनी मुट्ठी बाहर नहीं निकाल सकता; तब उसे पकड़ कर वह घर घर नचाता है। यह पशुवृत्ति है; अतः अपनी भुजाएँ पसार कर (स्वयं) में निवास करने वाले परमानन्द से मिलो ॥३॥

(४)

छूटन की संशय परी...। घर घर नाचेहु[1] द्वार समुझु... ॥
ऊँच नीच जाने[2] नहीं...। घर घर खावो डाग[3] समुझु ॥४॥

यदि न मिलसि, छूटेति। मोक्षे संशयो भवति। भोः मनो मूढ। घरेति। कपिः यथा गृहे गृहे, द्वारे द्वारे नर्तयति (नृत्यति), तद्वन्मनसो वृत्तिः। ऊँचेति। उच्चो=ब्रह्मैवाहम्; अहं वर्णाश्रमीति नीचज्ञानं विना, मन बोरा=मूर्खमिति। घरेति। जीवोऽज्ञानाविद्यावासनाद्वारा, घर घर=देवदैत्यमनुष्यतिर्य्यग्योनिषु जायते; नानादुःखैः क्लिश्यते स्वविचारं विना ॥४॥

(ऊपर बतलाए प्रकार से) परमात्मा से न मिलने पर मोक्ष नहीं हो सकता। मन की वृत्ति घर घर नाचने वाले बन्दर के समान होती है। मैं वर्णाश्रमी हूँ इस नीच ज्ञान का कारण मूर्खता ही है। अज्ञान, अविद्या और वासना के कारण जीव, देव, दैत्य मनुष्य और पशु-पक्षी की योनियों में, अपने स्वयं के विचार के बिना, फिर फिर जन्म लेकर दुःख और क्लेश भोगता है ॥४॥

(५)

ज्यों सुगना ललनी[4] गहो...। ऐसो भ्रम[5] विचार समुझु... ॥
पढ़े गुने का[6] कीजिए...। अंत बिलैया खाय[7] समुझु... ॥५॥

ज्यों इति। यथा शुको ललन्यां (नलिन्यां) बंधतः (बध्यते), तथा मनो विषयेषु बंधतः (बध्यते)। अविद्यां गृहीत्वा, बोरा=अज्ञं मनः कालवशेन नानाजन्मसु गतं (गच्छति)। ऐसो इति। भो मनः, बोरे, ईदृशमविद्याभ्रमं त्यज। विचारं, समुझि=बोध्यतामितिभावः। पढ़े इति। अन्तःकर्णे(करणे) साक्षात्कारो न भवति विज्ञानानन्दे[8]; अविद्या परं न भवति। चतुर्वेद-

---

१. नाचेउ (१-२)।
२. समुझेउ (१-२)।
३. खायेउ डाँग (१-२)।
४. सुवना मलिनी (१-२)। शुद्ध शब्द=नलिनी।
५. भरम (१), भर्म (२)।
६. क्या (१-२)।
७. यह शब्द पोथी में प्रमाद-वश छोड़ दिया है।
८. यहाँ 'किन्तु' जोड़ना आवश्यक है,

नवव्याकरणषट्शास्त्र वेदा(दां)गानि पठित्वा, गुणित्वा नानाव्याख्यां करोति, यस्यांतरं शुद्धो-(द्धं) न भवति, अविद्यायुक्तः(क्तं) स्यात्, तर्हि किं पशुतुल्योऽस्ति [सः*]। अंतेति। मार्ज्जारी=अविद्या, मनः=संकल्पात्मकं, जीवस्य विचारं खादति। निजविचारं विना नाना-योनिषु जायते ॥५॥

जैसे तोता (या भँवरा) कमलिनी में बँध जाता है, उसी भाँति मन विषयों में आसक्त हो जाता है और अविद्या के कारण यह बावला मन अनेक जन्मों में बँध जाता है। (जरा) सोचो और समझो। अन्तःकरण में विज्ञानानन्द के बिना साक्षात्कार नहीं हो सकता। (लोग) वेद, व्याकरण, शास्त्र और वेदांग पढ़ते हैं और उनकी व्याख्या भी करते हैं, किन्तु अन्तःकरण शुद्ध न हुआ और अविद्या नष्ट न हुई, तो वे पशु के समान ही हैं। मन संकल्पात्मक है और अविद्या उसके सारे विचार खा जाती है। अपने स्वयं के विचार के बिना (ऐसे व्यक्ति) अनेक योनियों में जन्म लेते रहते हैं ॥५॥

(६)

सूने[1] घर का पाहुना मन...। ज्यों आवे त्यों जाय सुमुझु... ॥
न्हाने[2] के तीरथ घना...। पूजन को[3] बहु देव... ॥६॥

शून्येति। तेषां वक्तृत्वं कथाशून्यं=प्रेम विवेकविचारवैराग्यसन्तोषरहितं स्यात्। यादृशी वागायाति तत्कथयति। कुतः? अज्ञानवशात्। तत् (ततः) श्रोतॄणां ज्ञानानुभवो नोत्पद्यते। ज्यों आवे इति। यथा जायन्ते तथा म्रियन्तेऽनिश्चितार्थः इत्यर्थः। न्हाने इति। सच्चिदानन्दत्वं(म्) आत्मनदीतीर्थं विहाय बाह्यतीर्थं दृढं करोति; फलप्रस्तावेन तीर्थमाहात्म्यं वर्ण्यते। स्वविचारं विना जीवोऽज्ञो भवति। पूजनेति। सर्वप्राणभृत्सु बहिरन्तर्व्यापको देवो नारायणः सत्यः; तत्पूजनम्[4]। अबुद्धाः बहिः जडशिलामृण्मयदेवानां माहात्म्यं तद्द्वारेण च पूजां कर्त्तुं प्राणिनां मनो भ्रामयन्त्याचार्याः इत्यर्थः। अत्र प्रमाणं भागवते—नह्यम्मयानि तीर्थानि न देवाः मृच्छिलामयाः। ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः[5] ॥ इति ॥६॥

ऐसे पण्डितों (उपर्युक्तों) का कथन (उपदेश) विवेक, विचार और वैराग्य से शून्य (ही) होता है। जैसा मन में आया, कह दिया। यह सब अज्ञान है और इससे श्रोताओं को ज्ञानानुभव नहीं होता। सच्चिदानन्द रूपी आत्मतीर्थ को छोड़ कर ये लोग बाहर के तीर्थों की बातें करते हैं और उनका माहात्म्य भी बतलाते हैं; किन्तु जीव अपने स्वयं के विचार (और अनुभव) के बिना अज्ञ ही रहता है।

---

१. यहाँ पोथी में शून्ये लिखा है।
२. नहाने (१-२)।
३. पुजबे को (१-२)।
४. पोथी में इस वाक्य में अनेक अशुद्धियाँ हैं। उन्हें शुद्ध करके यह लिखा है।
५. भागवत, १०, ८४, ११।

(सभी) प्राणियों में अन्तर्बहिः व्यापक देव-नारायण-ही 'सत्य' है; उनकी पूजा छोड़ कर, अज्ञानी व्यक्ति जड़ शिला और मिट्टी के बने बाहरी देवों की पूजा के लिए प्राणियों के मन को भ्रमित करते हैं। भागवत में भी कहा है कि पानी से भरे तीर्थ और मिट्टी तथा पत्थर के बने देव नहीं किन्तु साधु जन अपने दर्शन देकर ही पवित्र कर देते हैं ॥६॥

(७)

बिनु पानी नल[1] बुड़िहो...। तुम देखहु[2] राम जहाज... ॥
कहहिं कबीर जग भरमिया[3]... । तुम छाँडहु हरि के[4] सेव...॥७॥

विनेति । मृगमरीचिकातो य(या)वदिदं जगत् द्वैतभ्रममात्रम् । हे नर, तस्मिन् कथं निमज्जितः? मनसाऽज्ञः भवसि । तुमेति । वेदान्तादि षट्शास्त्रार्थवादप्रतिवादं विमोच्य[5], रामः—सच्चिदानन्दोहं परिपूर्णः सर्वतः इति ज्ञात्वा, जहाज=नौकायां समुद्रे भव । ज्ञाननौकायां स्थितो भव स्वस्मिन् । अहो साधो, मन बौरा=द्वैतभावनां त्यज । परमानन्दाद्वैते सुखे शान्तो भवेत्यर्थः । कहहीति । कबीर=श्रुतिः, स्मृतिः, मुनिः, संतश्च चतुर्युगेषु इत्थं ब्रुवन्ति—अज्ञजनस्य मनः जगत्त्रिपुट्यां सङ्कल्पविकल्पे भ्राम्यमाणं भवति इत्यर्थः । तुमेति । 'अच्युतोऽहमनन्तोऽहं गोविन्दोहमहं हरिः । आनन्दोऽहमशेषोहमजोहममृतोप्यहम्'[6] इति हरिसेवनं, समुझु=विचारं कथं त्यजसि । हे मन बौरा=सङ्कल्पात्मक, हरिरहमिति [निश्चयं*] मात्यजेत्यर्थः ॥ इति चाचरिव्याख्या सम्पूर्णा ॥

इस सारे जगत् में जो द्वैत-भ्रम फैला है वह मृग मरीचिका ही है। तुम अज्ञ बन कर उस भ्रम में डूबते हो? वेदान्त आदि षड्-शास्त्रों के वाद-प्रतिवाद को छोड़कर, मैं ही सच्चिदानन्द राम हूँ और सभी भाँति परिपूर्ण हूँ—यह जान कर (उसी का स्मरण करो) उसी नौका में सवार होओ। अपनी स्वयं की ज्ञान-नौका में स्थिर हो जाओ। अरे साधो, द्वैत-भावना छोड़ दो और परमानन्द रूपी अद्वैत सुख में शान्ति-लाभ करो।

कबीर (श्रुति, स्मृति, मुनि और सन्त) कहते हैं कि अज्ञ जन का मन जगत् की त्रिपुटी में संकल्प और विकल्प में विभ्रान्त होता रहता है। कहते कहते युग बीत गए। हे मन मैं ही 'अच्युत, अनन्त, गोविन्द, हरि, अशेष आनन्द, अज और अमृत' हूँ—यह मानकर हरि का स्मरण करो। यह विचार (कभी) मत छोड़ो। चाचरि व्याख्या सम्पूर्ण ॥

---

१. नर (१-२)। पोथी में यहाँ भी सर्वत्र जैसा 'नल' ही लिखा है।
२. टेकेउ (१-२)।
३. भ्रमिया (१), भर्मिया (२)।
४. की (१-२)।
५. प०—विमुच्य।
६. ब्रह्मबिन्दूपनिषद्, ८१।

अथ हिंडोला—

(१)

भर्म हिंडोला[१] झूले सब जग आय ॥
पाप पुण्य के खंभा दोऊ मेरु माया माह[२] ।
लोभ मरुबा विषे भँवरा काम कीन्हों[३] ठानि ॥
शुभाशुभ बनाय डांडी गहौ[४] दूनौ पानि ।
कर्म पटोली[५] बैठिके को को न झूले आय ॥
झूलत गण गंधर्व मुनि झूलत सुरपति इंद्र ।
झूलत नारद सारदा झूलत व्यास फणींद्र ॥
झूलत विरचि महेश मुनि[६] झूलत सूरज चंद्र ।
आप निर्गुन सगुन होय के झूलि गोविंद[७] ॥
छव चारि चौदह सात एक विंशतिनि लोक बनाय[८] ।
खानि वाणी[९] खोजि देखहु स्थिर कोई न रहाय ॥
खंड ब्रह्मांड खोजि षट् दर्शन छूट न कतहूँ नाहिं ।
साधु संत विचार[१०] देखहु जीव निस्तरि कहा[११] जाहि ॥
शशि सूर रैनि शारदा[१२] तत्त्व पल्लव नाहिं ।
कालाकाल परेले[१३] नहिं तहाँ संत बिरले जाहिं ॥
तहाँ के बिछुरे बहु कल्प बीते भूमि परे भुलाय ।
साधु संगति खोजि देखो बहुरि उलटि समाय ॥

---

१. भरम (१-२)। पोथी में 'हिं' के स्थान पर 'हीं' लिखा है।
२. माँहि (१-२)।
३. लोभ भँवरा विषय मरुर्वा···कीला (१-२)।
४. शुभ अशुभ···गहे (१-२)।
५. पटरिया (१-२)।
६. शुक मुनि (१-२)।
७. झुलिया (१-२)।
८. छौ, इक इस तीनिउ लोक बनाय (१-२)।
९. बानी (१-२)।
१०. खोजि (१-२)।
११. कित (१-२)।
१२. शारदी (१-२)।
१३. काल अकाल परलय (१-२)।

एहि झूलवे के[1] भय नहिं जो सन्त होहिं सुजान ।
कहहिं कबीर सत सुकृत मिले तो बहुरि न झूले आन ॥

चतुष्पादप्रणविचारं विना[2] प्राणिनां भय एवांदोल[3]; तस्मिन् चञ्चलो भवति। कः? चतुष्पादः। अकारोकारमकारोर्ध्वमात्रा इति। अकारो विश्वः, उकारस्तैजसः, मकारः प्राज्ञः, तुर्योऽर्धमात्रा, स्थूलसूक्ष्मकारणमहाकारणेति वपुश्चतुष्टयम्। स्थूले विश्वः प्राज्ञः, सूक्ष्मे तैजसः प्राज्ञः, कारणे प्राज्ञः घनप्राज्ञः, महाकारणे तुर्ये एतत् सर्वमेको(की) भवति तत्त्वमस्युपदेशेन, ब्रह्माहमस्मीत्यनेनाभ्यासेन। विश्वादिस्थूलशरीराद्येतत् सर्वभ्रमो लीयते। इदं ज्ञानं विना सर्वे प्राणिनोऽविद्याभ्रमे आन्दोलिताः। आ-समंतादित्यर्थः। पातेति-आंदोलं वर्णयति। पापपुण्यरूपौ द्वौ स्तम्भौ। मेरु=अविद्या, माया, मध्ये भवति। लोभेति। लोभ एव मरुवा=गर्ताः दरेन; मोह=दंभस्तंभविषये भ्रमर; यद्वा मूर्द्धनि तुर्य्येति निरक्षरं स्वरं शब्दं[4] स्वतो भवति। स्वात्मविचारं विना, द्वैताद्वैतनास्तिकादिनानामतवादास्तल्लक्ष्यं विना[5] भ्रमन्ति, भ्रममात्रमेव। कामान्तर्वासना मलिना जायतेऽज्ञस्येति।

शुभेति। शुभाशुभौ द्वौ, [तयोः*] आंदोलस्य विषयशाखाग्रे पाणिद्वयेन ग्रहणं भवति। रागद्वेषौ स्वर्गनरकौ इत्यर्थः। कर्मेति। कर्मपटोली आसन कर्मकाष्ठामास्थाय तमेव सत्यं मत्वा कः न झूले? भ्रमतीत्यज्ञः। ब्रह्मविद्वरिष्ठः व्यवहारं सत्यं न मन्यते इत्यर्थः। झूलतेति। गन्धर्वगणाः, मुनयः सर्वे, सुरासुरपतिः इन्द्रः, नारदो ऋषिः शारदादेवी, व्यासो मुनिः, फणीन्द्रः शेषः, विरिंचिः, महेशः, मुनिः मननशीलः, सूर्यचन्द्रौ एते सर्वे विज्ञानानन्दे निजात्मनि क्रीडन्ति। आपेति। स्वयं परमात्मा निर्गुणः यशोदागृहेऽवतीर्त्वा(र्य) गोविन्दो निष्कामतया निजानन्दे केलिं करोति। छवेति। छव=षट्शास्त्र-चतुर्वेद-चतुर्दशविद्या-अष्टादशपुराणानि-सात=सप्तशती। यद्वा, सप्तज्ञानभूमिका वर्ण्यते। चतुर्दशलोकाश्च एकविंशो ब्रह्माण्डसमष्टि-व्यष्टिनामाकृतिः, त्रिलोकाः—त्रिशरीर, यद्वा भूर्भुवः स्वः, खानि=चतुराकराणि-एतत्सर्वं वाणी-वेदमध्ये खोजि=विचार्य दृश्यताम्। एतत्सर्वं दृश्यं नाशमानम्। कश्चिदपि स्थिरो न इति ज्ञानी जानाति।

खण्डेति। खण्डपिण्डब्रह्माण्डे यद्यदिष्टोपासकाः अन्यत्र दूरो(रे) निजरूपं मार्गति षट्दर्शनाः, कापालिको, जैनी, जंगमः, संन्यासी, ब्राह्मण, सोफेति, येषां यावद्वृत्तिः प्रसारिता, तावन्न मुच्यते संसारः इति शेषः।

---

१. 'की' (१-२)।
२. अर्थ अस्पष्ट।
३. आन्दोलः=लटकना, कम्पित होना; आन्दोलनं=झूलना। यहाँ पहला अर्थ अधिक उपयुक्त है।
४. ये दोनों शब्द पुंल्लिग हैं; यहाँ क्लीब-लिंग का प्रयोग अशुद्ध है। 'क्ष' के स्थान पर 'कृष' लिखा है।
५. द्वैताद्वैत=निम्बार्क सम्प्रदाय।

साधु इति। तस्माद्भो मुमुक्षो, शांतिरूपाः साधवः सेव्यताम्। तत्सेवनेन विचारं=निजानंदं पश्यताम्। जीव=चैतन्यं निस्तीर्य कथं यास्यति ? न कुत्र। परमात्मन्येकरूपो भवेत्यर्थः।

शशि इति। यद्ब्रह्मानन्दसुखे शशिसूर्यौ[1] नैव, दिनरात्रिर्नैव, तत्त्वपल्लवा अपि न, कालाकालौ न, उद्भवप्रलयो नैव, तस्मिन्नपदे कश्चिद्विरलो साधुर्यास्यति। अत्र प्रमाणं भगवद्गीतोपनिषदि 'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥'[2] इति।

तहाँ के इति। इमे सर्वे तदात्मनः जाताः जीवा, बिछुरि=वियुक्ताः। बहुकल्पानि व्यतीयुः। भूमिः= स्वविचारं विनोपरि व्यवहारे मोहिताः। साधु इति। अतः आत्मारामाणां साधूनां सङ्गं कुरु। तत्सङ्गात् तादृशाः भवन्ति। साधुसंगात् साधुर्भवति, यथा भृङ्गीकीटः। जाहि[3] इति। सुजानो=ज्ञानस्वरूपो भूत्वा यः व्यवहारमार्गे क्रीडति, मृषा ज्ञात्वा, ततः जन्ममरणाद्भयं न भवति। कहेति। कबीर=विज्ञानी इत्थं ब्रूवति—भोः यदि सन्तमात्मानं मिलति, जानाति, सुकृतं=शुभाचरणं करोति, ततः पुनः संसृतौ नागच्छतीति भावः ॥१॥

स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण इन चारों शरीरों के प्रतीक अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा-इन सब का 'तत्त्वमसि' इस उपदेश और 'ब्रह्माहमस्मि' इस अभ्यास से ऐक्य हो जाने पर सारा भ्रम विलुप्त हो जाता है। तब तक (उसके पहले, इसके अभाव में) सभी (हर व्यक्ति) अविद्या के भ्रम में झूलते रहते हैं। (यही एक झूला है)।

पाप और पुण्य ये दो इस झूले के स्तम्भ हैं और अविद्या-माया इनके बीच का आश्रय है। लोभ इस झूले का गर्त है और मोह स्तम्भ (के ऊपर) का भ्रमर है। द्वैत, अद्वैत, नास्तिक आदि मतवादों में लक्ष्य स्थिर न होने के कारण लोग विभ्रान्त होते रहते हैं; यह भ्रम ही है। इससे अज्ञ-जन की काम रूपी मलिन वासना उत्पन्न होती है।

शुभ और अशुभ ये झूले की करग्राह्य दो शाखाएँ (डण्डे) हैं। ये ही राग-द्वेष या स्वर्गनरक हैं। कर्म झूले पर बैठने की पटिया है। यह सब सत्य मानकर व्यक्ति (संसार में) झूलता रहता है। गन्धर्व-गण, मुनि, सुरपति इन्द्र, नारद ऋषि, शारदा देवी, व्यास मुनि, शेष, ब्रह्मा, महेश, मुनि-गण, सूर्य-चन्द्र ये सब विज्ञानानन्द में आत्मरत हैं। निर्गुण परमात्मा यशोदा के घर उत्पन्न होकर निष्काम क्रीड़ा करते हैं। छहों शास्त्र, चारों वेद, चौदहों विद्याएँ अठारह पुराण सप्तशती (अथवा सप्त-

---

१. पोथी में 'स्तूर्यो' लिखा है।

२. भ० गी०, १५,६।

३. लिपिकार ने 'जा' के स्थान पर प्रमादवश 'ए' लिखा है।

भूमिका, चौदह लोक, इक्कीस ब्रह्माण्ड, शरीर-त्रय, चतुर्विध सृष्टि)—ये सभी झूलते ही हैं। ये सभी नाशवान् हैं; कोई स्थिर नहीं।

इस संसार में विविध-धर्मावलम्बी व्यक्ति जब तक अपने अपने इष्ट देव को दूर स्थल का निवासी मानते हैं, तब तक उनकी मुक्ति नहीं हो सकती।

अतएव हे मुमुक्षुओं, शान्तिरूप साधुओं की सेवा करो। परमात्मा से एकरूप होने का यही एक मार्ग है। उस ब्रह्मानन्द में न तो चन्द्र है, न सूर्य, न दिन और रात्रि, न पंच-तत्त्व, न काल, अकाल, और जन्म-मरण-कुछ भी नहीं है। वहाँ बिरले ही पहुंचते हैं। वहीं से जन्म लेकर (संसार में आकर) सभी जीव बिछुड़ गए हैं। प्रलम्ब समय व्यतीत हो गया और स्वयं के विचार के बिना सभी मोहित हो गए।

अत:, हे मुमुक्षुओं आत्माराम साधुओं का संग करो। उनके संग में भृङ्गी-कीट बन जाओ (भँवरा जो पकड़े हुए कीड़े को अपने रंग का बना लेता है)। इससे जन्म-मरण के फन्दे से मुक्ति मिलेगी।

कबीर (विज्ञानी) कहते हैं कि सन्त के मिलने से शुभाचरण की प्रवृत्ति होती है और उससे आवागमन से छुटकारा होता है ॥१॥

(२)

बहु विधि चित्र बनाय के हरि रचो क्रीड़ा रास ।
जाहि न इच्छा झूलवे की ऐसी बुद्धि केहि पास ॥
झूलत झूलत बहु कल्प बीते मन न छोड़े[१] आस ।
रचो हिंडोला अहोनिशि चारि जुग चतुर्मास[२] ॥
कबहुंक ऊँच से नीच[३] कबहुँ स्वर्ग भूमि ले जाय ।
अति भर्मित भर्म हिंडोला[४] नेक नहीं ठहराय ॥
डरपत हो एहि झूलवे को राखु जादवराय ।
कहिं कबीर गोपाल विनती शरण हरि तव पास[५] ॥

बहु विधि इति। हरिर्भगवान् आब्रह्माद्यखिलदेवतिर्यङ्नरादिकीटमशकपतंगपर्य्यन्तान्बहु-प्रकारेण चित्राणि[६] रचयति क्रीडार्थं, यथा श्रीकृष्णो गोपीभि: सह रासमण्डले क्रीडां चकार,

१. मन नहिं छाँड़े (१-२)।
२. रच्यो रहस; चौमास (१-२)। शुद्ध-अहर्निशि।
३. कबहुंक ऊँचे कबहुँक नीचे (१-२)।
४. अति भरमित भरम हिंडोला (हिंडोरवा) (१-२)।
५. तुम आय (१-२)।
६. प०—'चित्ररूपेण रचयति'; या, 'पर्यन्तानां'।

ताभ्योऽलिप्तो भवति। जाहि=यस्येच्छा व्यवहारे क्रीडितुं न भवति, ईदृशी कस्य बुद्धिर्भवति ? न कस्य [अपि*]। व्यवहारं मृषा मत्वा यो (यः) क्रीडति, स कश्चिद्विरल इत्यर्थः। झूलेदेव-तिर्यङ्नरादिदेहेषु पुनः पुनः क्रीडन् सन् जीवः (जीवस्य) बहूनि कल्पानि व्यतीतानि तथापि, मानसं=वासनां[1] न मुञ्चति।

रचो इति। भ्रमरचिते आन्दोले कर्ममये आरुह्य इमे सर्वे[2] चतुर्युगानां चातुर्मासो; अहर्निसि(शि) सुत्र(सुत)कलत्रादिषु ममतां बद्ध्वा गच्छन्ति। कुत्र तदाह कबहुँ इति। कदा-चिदुत्तमयोनौ देवादिषु, क्वचिन्मनुष्ययोनौ, श्वानशूकरादिषु [च*] जायते। क्वचित् स्वर्गे क्वचिद् भूमौ क्वचित्पाताले गच्छति, इति अतिशय-भ्रमेण भ्रमान्दोले मुहुर्मुहुर्जन्ममरणं भवति जीवानाम्। कुत्रापि स्थितिर्न स्यात् यत्ज्ञानं विनेति भावः।

डरपतेति भक्तवाक्यम्। हे यदुश्रेष्ठ भगवन्, भ्रमान्दोल=जन्ममरणाद्भयभीतोऽस्मि। मां त्राहि शरणागतवत्सल। कहेति। कबीरः=विष्णुभक्त इत्थं प्रार्थयति—हे गोपाल, हे हरे, तव पार्श्वं मां नयेति। विज्ञापना मम वा—अहं हरिः, गोपालोऽहमिति भावयामि अन्तिके[3] इत्यर्थः।।२।।

भगवान् ने देव, मनुष्य और पशु-पक्षी से कीट-मशक पर्यन्त विविध चित्रों का क्रीड़ा के लिए निर्माण किया है और वे स्वयं भी गोपियों के साथ रास-मण्डल की क्रीड़ा में रत थे। किन्तु निर्लिप्त ही रहे। किसकी इच्छा होती है कि इस व्यवहार में न खेला जाय ? किन्तु इस व्यापार को मृषा जान कर जो क्रीड़ा करता है, ऐसा व्यक्ति बिरला ही है। देव, मनुष्य पशु-पक्षी आदि की योनियों में झूलते झूलते कल्प व्यतीत हो गए, किन्तु जीव की वासना नहीं छूटी।

भ्रम से रचित कर्म-मार्ग के झूले में झूलते झूलते लम्बा समय व्यतीत हो गया और युग बीत गए।

कभी उत्तम देव-योनि में, कभी मनुष्य-योनि में और कभी श्वान-शूकर की योनि में भी जन्म हुआ। कभी स्वर्ग, कभी मृत्युलोक और कभी पाताल में भी निवास किया; किन्तु भ्रम के झूले में जन्म लेकर जीव झूलता ही रहता है। (बात यह है कि) आत्म-ज्ञान के बिना कहीं भी स्थिति नहीं हो सकती।

(इस परिस्थिति से त्रस्त होकर भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है कि) हे यदुश्रेष्ठ, हे भगवान्, इस जन्म-मरण के भ्रमान्दोल से मैं भयाक्रान्त हो गया हूं। हे शरणागत-वत्सल, मेरी रक्षा कीजिए। विष्णुभक्त कबीर प्रार्थना करते हैं:—हे गोपाल, हे हरे, मुझे अपने पास ले जा। मेरी यही विज्ञापना है कि मैं स्वयं हरि हूं, गोपाल हूँ। यह (प्रार्थना) स्वीकार कीजिए ।।२।।

---

१. यहाँ मन का पर्याय वासना बतलाया है।

२. यहाँ विभक्ति की त्रुटि है।

३. =तवान्तिके, ममान्तिके वा।

(३)

लोभ मोह के खंभ दो मन से रचो हिंडोल ।
झूलहिं जीवाज(ज)हान जहाँ ले कतहु न देखा थिति ठौर[1] ।।
चतुर झूलहिं चतुराइया झूलहिं राजा शेष[2] ।
चाँद सूरज[3] दोउ झूलहीं उनहुँ न आज्ञा भेष ।।
लक्ष चौरासी जीव झूलहिं रवि-सुत धरिया ध्यान ।
कोटि कल्प जुग बीतल[4] अजहुँ न माने हारि ।।
धरति अकाश दोउ झूलहीं झूलहिं पवना[5] नीर ।
देह धरे हरि झूलहीं देखहिं हंस कबीर ।।

लोभेति । भोः, मनसा, हिंडोल = आन्दोलभ्रममात्रं रचितम् । तस्य लोभमोहौ द्वौ स्तम्भौ भवतः[6] । झूलेति । तस्मिन्नेव भ्रमान्दोले मोहमये मृषाव्यवहारे सकलजन्तवः आब्रह्माद्यखिल-भूतगणाः सर्वे स्वस्वमार्गे, झूलहिं = आन्दोले भ्रमन्ति । सत्यं मत्वा चलचित्ताः भवन्ति । दोला-चलचित्तवृत्तिर्भवति तेषाम् । स्थिति = स्थानं कुत्रापि न दृश्यते, परमात्मनो ज्ञानं विनेति भावः ।

चतुरेति । सर्वशास्त्रव्याख्याने चतुराः स्वस्वशास्त्राभिमाने अन्योन्यं युध्यन्ते । राजा राजकार्य्ये प्रजासंरक्षणदण्डकरादानें, शेष = अन्ये जनाः सर्वे स्वस्वव्यवहारमार्गे भ्रमन्ति । चाँदेति । चन्द्रसूर्याविभौ दिनरात्रिविभागकरणे भ्रमितौ स्तः । किं परमात्मनः आज्ञा पालयतः ? अत्र श्रुतिः-भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः । भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम[7] इति । लक्षेति । चतुरशीतिलक्षजीवाः-स्वस्वकर्ममार्गे जन्ममरणे भ्रमन्ति । झूलति इति । रविसतः = रविर्ब्रह्म, तद्भासो जीवत्वं मन्यन्ते । ब्रह्मैवाहमिति विहाय अत्र परोक्षं ध्यायन्तीत्यज्ञमतं वा, ब्रह्मध्यानाद् ब्रह्मरूपाः भवन्ति वा । रविसुतो धर्मराजः, यद्भयात् प्रजाः म्रियन्ति (ते) इत्यर्थः ।

कोटि इति । भोः, इमे सर्वे कोटिकल्पानि = कोटचवधियुगानि जन्ममरणसंसृतौ व्यतीयुः, तथापि कर्मरहिताः न भवन्ति । अद्यापि भवाटव्यां खेलन्तीत्यर्थः । धरतीति । धरित्री यद्भयान्न मज्जति, आकाशः यद्भयात्सावकाशं ददाति, पवनो यद्भयाद्वहति, नीर = बुद्धिः, यद्भयान्न प्रसर्पति, इत्यर्थः । देहेति । हरिरामकृष्णाद्यवतारं धृत्वा भूभारं क्षपयति, धर्ममर्यादां

---

१. तुलनीय —लोभः पापस्य कारणम्; और मोह एव महामृत्युः । जहाँ लगि । जैसा अन्यत्र, उसी प्रकार यहां भी लिपिकार ने 'ठवर' लिखा है ।
२. पोथी में प्रमाद-वश 'शेव' लिखा है ।
३. सूर्य (१-२) ।
४. बीतिया (१-२) । हारि अतुकान्त ।
५. पौना (१) ।
६. तुलनीय —ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते,······गीता, २,६२, आदि ।
७. तैत्तिरीयोपनिषद्, २,८ ।

स्थापयति कार्यार्थम् । झूलेति = भ्रमति । देखहिं इति । कबीरः = ब्रह्म हंसः साक्षी द्रष्टा भूत्वा दृश्यते, अलक्ष्यः सन्नित्यर्थः ॥३॥ इति हिंडोलाव्याख्या संपूर्ण(र्णा) ।

सत्संग-विमुख व्यक्ति ने भी लोभ और मोह के दो स्तम्भों पर अपने मन से झूला खड़ा किया है। इसमें संसार में जीव झूलते हैं; किन्तु अपने अपने शास्त्र के अभिमान के कारण परमात्मा के ज्ञान के बिना वे निश्चित स्थिति पाने में असमर्थ ही हैं।

राजा, प्रजा आदि सभी व्यक्ति अपने अपने (सांसारिक) कामों में झूलते रहते हैं। चन्द्र और सूर्य दिन और रात्रि को पृथक् पृथक् करने में झूलते हैं। धर्मराज का भय भी बना ही है। किन्तु फिर भी चौरासी लाख योनियों के जीव अपना अपना कर्म करके जन्म-मरण का झूला झूलते रहते हैं। वे सभी भगवान् का ध्यान परोक्ष मानकर करते हैं।

करोड़ों युग बीत गए, किन्तु फिर भी ये लोग कर्म से छुटकारा नहीं पाते। अतः संसार में उनका पुनरावर्तन होता है। जिसके आतंक से पृथ्वी नहीं डूबती, आकाश अवकाश देता है, वायु प्रवाहित होती है और बुद्धि प्रवृत्तमान होती है, वही (परमात्मा) राम और कृष्ण आदि के अवतार धारण कर धर्म-मर्यादा की स्थापना करता है।

कबीर साक्षी (हंस) बनकर यह सब (खेल) देखते हैं ॥३॥

—०—

वल्ली

अथ वल्ली—

(१)

हंसा सरवर शरीर माँहि[१] रमैया राम
जगत चोर घर मूसेहु[२] " " ।
ज जागल से(सो) भागल " " ॥
सोवत गैल विगोय " " ।
आजु बसेड़ा (रा) नियरे " " ॥
काल्हि[३] बसेड़ बड़ि दूरि " " ।
परेहु[४] बिराने देशवा " " ।

---

१. में (१-२)।
२. जागत; मूसेहि (१-२)।
३. काल (१-२)।
४. जइहो (जैहौ) (१-२)।

नयन मरहुगे[1] दूरि " " ।
त्रास मथन दधि मथन कियेहु " " ॥
भवन मथेहु भरि पूरि " " ।
फिरि के हंसा पाहन भेस[2] " " ॥
बोधिनि पद निर्वाण " " ।
तुम हंसा मन मानिक " " ॥
हठल न मानहु मोर " " ।
जसरे किये तस पायेहु " " ॥
हमर[3] दोस जनि देहु " " ।
अगम काढ़ि(टि) गम्मि कियेहु " " ॥
सहज कियेहु व्यौपार[4] " " ।
राम नाम धन बनिज कियेहु " " ॥
लादेहु वस्तु अमोल " " ।
पाँच लदनुवा लादि चलल " " ॥
नव बहियाँ दश गोनि " " ।
पाँच लदनुवा खागि परल " " ॥
खाँखरि डारिनि फिरि(फोर) " " ।
शिर धुनि हंसा उड़ि चले " " ॥
सरवर मीत जुहार " " ।
आगि जो लागी सरवर मँह " " ॥
सरवर जरि भो दूर[5] " " ।
कहहिं कबीर सुनु संतो हो " " ॥
परखि लेहु खरा खोट " " ॥

हंसेति। भो मुमुक्षो, शरीरान्तरे अन्तःकरणसरोवरे,[6] हंसः=परमात्मा राजते। अतः राम एवेदं सर्वम्। रामोऽसि त्वम्। जानीहि। यद्वा, हंस=श्वास; सोऽहं हंसेति। जगतेति। भोः, जगत्-ज्ञाताद्यहमिति चौरः ग्र(गृ)ह=अन्तःकरणादात्मविचारं मुष्णाति। स्वरशब्दं

---

१. नैन मरोगे (१-२)।

२. भयो (१-२)। क्रिया के अन्त में पोथी में विशेषकर जो 'लकार' का पयो उपलब्ध है, वह दूसरी दोनों पुस्तकों में नहीं है। वह यहाँ सर्वत्र नहीं बतलाया।

३. हमरे (१-२)।

४. विश्वास (१-२)।

५. धूरि (१-२)।

६. जैसा अन्य सब स्थलों पर, यहाँ भी लिपिकार ने 'करण' के स्थान पर 'कर्ण' लिखा है।

विना, इत्यर्थः। जे जागेति। ये स्वरूपविचारे रताः ते एव जागरिताः। ये देहाभिमाने रतास्ते सुप्ताः इत्यर्थः। आजु इति। अद्य, भोः, मानुषदेहे दुर्लभे स्वविचारो भवति, अत एव निकटं स्यात्। काल्हि इति। अन्यदेहेषु विचारो न भवतीत्यर्थः। परेति। बिराने=वर्णाश्रम्यहम्-इति परदेशं; ब्रह्मैवाहमिति स्वदेशे रमस्वेति सत्यम्। नयनेति। भोः, नयन=परमात्मानं दूरं किं ध्यायसे ? मृतेऽपि न मिलति। अतः स्वान्तरे रामः इति पश्यतामिति भावः।

त्रासेति। भोः, त्वं त्रासमथनोऽसि (मथितोऽसि)। आत्मानुभवं विना कालभयात् त्रससि त्रिशरीरेभ्यः; परमहमिति मथनं विविच्यताम्। हृदयविलोडनाद्रामं प्र(प्रा)प्स्यसि, दधिमथनात् घृतं यथा। भवनेति। भवनं=स्वान्तःकरणं मथतां तर्हि परमानन्दं लभसे, रोम-रोमपरिपूर्णमित्यर्थः। फिरि के इति। भोः, हंस=प्रकाशरूपोऽसि त्वम्। यदि[1] देहभावादात्मविचारे आगत्य, पाहन=अचलो भव, निर्विषयपदारूढो भवेत्यर्थः।

वेधि इति। रामोऽहमित्यभ्यासेन निर्वाणपदं वेध्यताम्। मथ्यताम् तुम इति। भोः त्वं हंसोऽसि। मननशीलो भव। माणिक्यवत् प्रकाशकोऽसि। हठल इति। अविज्ञातसखा वाक्यं ब्रवीति, इति मे वाक्यं कथं न मन्यसे इति। यादृशी तव कर्त्तव्यता, तादृक् फलमाप्नुहि। हमर इति। भो रमैया, विषयेषु मा रमस्व। मम दोषं मा देहि। कर्मानुसारेण फलं भवतीत्यर्थः।

अगम इति। अगम=अज्ञानं, देहोऽहमिति छित्वा 'सोऽहं' [इति*] ज्ञानं कुरु इति भावः। सहज इति। सहजानन्दे व्यापारं कुरु। सहजानन्दोऽहम्, इत्यध्यासमित्यर्थः[2]। रामेति। रामनामैव धनं-वाणिज्यमपि त्वया कृतम्। लादेहु=अमौलिकवस्तु त्वया गृहीतम्। चित्स्वरूपवानसि, तथाप्यात्मसुखं न प्राप्यते।

पाँच इति। पञ्चीकृतपञ्चभूतरचितः (तं) स्थूलशरीरं, तेन यत्कृतं पुण्यपापं,[3] लादि=गृहीत्वा गच्छन्ति। नवेति। नवसूक्ष्मतत्त्वानि=पञ्च विषयाः चतुरन्तःकरणाः,[4] दशेन्द्रियाणि एभिः सह गच्छन्नित्यर्थः। पाँचेति पुनः। पञ्च लदनुवा=पञ्च प्राणवृत्तयोऽपि स्थगिताः, जीर्णतां प्राप्ता इत्यर्थः। खाँखरि इति। खाँखरि=प्रारब्धं देहं विहाय, फिरि=पुनः अन्यशरीरे गच्छति।

शिरेति। भोगविषयकर्मसु यः शिरो धुनुते, देहपातपर्यन्तं यर्हि (यो हि) काल आगतः तदा देहान्निर्गत्य हंसः प्राणोड्डानं कृत्वा गच्छति, ततः सरवरेति। जीवः प्रयाणसमये वदति, किं भो मित्र शरीर, त्वयि प्रविश्य बहुभोगं भुनज्मि, त्वां त्यक्त्वा परवशात् गच्छामि इत्यर्थः। आगि इति। मृतं शवं कुटुम्बिनः अग्नौ दाहयन्ति। शरीरमित्यर्थः। शरे(सरे)ति। सरोवरं=शरीरमग्निदाहेन भस्म=धूलिः अभवत्।

---

१. इस शब्द की यहाँ आवश्यकता नहीं है।
२. कदाचित् 'ध्या' के स्थान पर 'भ्या' अभीष्ट है।
३. =पापकर्म।
४. —करणानि। पंच विषय=शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध; चतुरन्तः करण=मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार; दशेन्द्रिय=पञ्च प्राणेन्द्रिय और पञ्च कर्मेन्द्रिय।

कह इति । कबीरः=महान्तः साधवो ब्रुवन्ति-भोः सन्त=मुमुक्षो, शृणु । खरा=शुद्ध आत्मा, खोट=अशुद्धो देहः । सदसतोर्विभागं कुरु, ज्ञायतामित्यर्थः ॥१॥

हे मुमुक्षो, परमात्मा शरीर के भीतर अन्तःकरण में (ही) विराजमान है। अतः यह सब (दृश्यमान जगत्) राम है और तुम भी राम हो—यह भली भाँति समझो। अथवा, यहाँ हंस (का) तात्पर्य श्वास (श्वासः सोऽहम्) से भी है। ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता आदि मैं (ही) हूँ—यह विचार चोर का (अनुचित) है, जो आत्म-विचार का हरण कर लेता है। स्वरूप-विचार करने वाला जागता रहता है और जो देहाभिमान में निरत है वे सोते रहते हैं। आत्म-विचार मनुष्य-योनि में ही सम्भव है, जो दुर्लभ है। अन्य योनियों में यह विचार नहीं हो सकता। 'मैं ब्रह्म ही हूँ'—यह विचार 'स्वदेश' के समान है और मैं वर्णी और आश्रमी हूँ यह विचार पराये देश के समान है। परमात्मा स्वयं में ही है; उसे दूर क्यों समझते हो ? अपने ही भीतर राम के दर्शन करो।

तुम (सांसारिक व्यवहार में) मत्त हो, किन्तु आत्मानुभव के बिना भयभीत हो ? तीनों शरीरों का मथन करके और अपने हृदय का विलोड़न करके देखो, तब परमानन्द (स्वयं) प्राप्त होगा। हे हंस, तुम प्रकाश-रूप हो। ऐहिक विचार छोड़ कर आत्म-विचार करो। 'मैं राम ही हूँ' इस अभ्यास से निर्वाण प्राप्त होगा। तुम मननशील हो; माणिक्य की तरह प्रकाशमान होकर मेरा कहना क्यों नहीं मानते ? करोगे वैसा भरोगे। विषयों में (के फेर में) मत पड़ो। मैं 'देह हूँ' इस (यह बतलाने वाले) अज्ञान का उच्छेद करके सहजानन्द का अभ्यास करो। राम-नाम ही (सच्चा) धन है। चित्स्वरूप बन कर इसी का विचार करो।

पंचीकृत पंचभूतों से निर्मित स्थूल शरीर से किया हुआ पाप लाद कर सब (संसार से) चले जाते हैं। शरीर (यहीं) छूट जाता है। पंच-प्राण-वृत्तियाँ भी जीर्ण हो जाती हैं।

भोग और विषय-कर्मों में अन्त तक सिर धुनने वाले के लिए वह समय भी आता ही है जब हंस शरीर से निकल कर प्राणों का उड्डान करता हुआ चला जाता है। तब जीव अपने प्रयाण के समय कहता है :—हे मित्र शरीर, तुझ में प्रवेश करके मैंने प्रभूत भोग भोगे; अब मैं प्रस्थान करता हूँ। तब शरीर को जलाकर भस्म कर देते हैं।

कबीर (साधुजन) कहते हैं कि (इन दोनों में) शुद्ध तो आत्मा ही है; शरीर अशुद्ध। सत् और असत् का भेद जानो ॥१॥

(२)

भल सुम्रति[1] जहड़ाये हो	रमैया	राम	।
धोख के लहु[2] विश्वास	"	"	॥
सो तो हे वनसीकसी[3] (?)	"	"	।
शिर के लहु विश्वास[4]	"	"	॥
ई तो हे वेद भागवत[5]	"	"	।
गुरु दीहल माहि थापि	"	"	॥
गोबर कोट उचाये[6] हो	"	"	।
परिहरि जे बहु खेत	"	"	॥
बुद्धि बल[7] तहाँ न पहुँचे	"	"	।
खोज कहाँ के होय	"	"	॥
से सुनि मन महँ धीरज भयल[8]	"	"	।
मन बढ़ि रहल लजाय	"	"	॥
फेरि पाछे जनि हेरहु	"	"	।
कालवूत सब आह	"	"	॥
कहहिं कबीर सुनु संतो हो	"	"	।
जनि[9] ढीगहु फैलाय	"	"	॥

भलेति। नरतनुं श्रेष्ठां लब्ध्वा स्मृतिज्ञानं सोऽहमिति विसार्य्यताम् इत्यर्थः। धोखेति। भोः, सुतकलत्रादिषु ममत्वं बिश्वासं मन्यसे तत् सर्वं मृषा; नैव सत्यम्। सो तो इति। यथा मत्स्य-भेदिनः लोहकण्टकमयी, वनसी(वंशी)ति भाषाप्रसिद्धास्ति, तस्यां स्वादलोभेन विध्यन्ति मीनं, तद्वत् स्त्रियादिभोगसुखे बध्यते इत्यर्थः। सीरेति। भोः त्वं स्वशिरस उपरि बृहद्भारं मम स्त्री, मम पुत्रः, इत्यादि विश्वासं वहसि। किमिति। राम, स्वात्मनिश्चयम्? वेदे 'तत्त्व-मस्यादि' वाक्यैः प्रोक्तम्; भागवते एकादशस्कन्धे उद्धवं प्रति श्रीकृष्णेन, तद्वस्तु जानीहीत्यर्थः : गुरु इति। गुरुभिर्दत्तात्रेयादिभिर्महात्मभिः स्वमते श्रेष्ठं स्थापितं, तस्मिन्नेव ये रमन्ति(ते),

---

१. सुमृति (१-२) स्मृति।
२. धोखे कियेहु विश्वास (१-२)।
३. है वन्सीकसी (कैसी) (१-२)।
४. सोरे कियेहु विश्वास (१-२)।
५. शास्त्र (१-२)।
६. उठायहु (उ) (१-२)।
७. —मन बुद्धि (१-२)।
८. धरहु (१-२)।
९. मन (१-२)।

ते रामरूपा भवन्ति।

गोबरेति। गो=श्रुतीनां, वर=श्रेष्ठं ज्ञानदुर्गं ब्रह्मविद्यामयमुच्चपदं, 'सोऽहमस्मीति' निश्चयं कुरुत। यद्वा, गोबरेति=गोमय, महिषीमयपूरिषमवासनामयं[1] दुर्गं स्वशिरस उपरि भारं वहते—'पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भव इति परिहरे'ति। भोः बहुक्षेत्राणि देव-तिर्य्यग् नरादीन् उद्धारयन् अथैव(वं ?) सुचेतो भव[2]। तेषां परिहारं कुरु; निष्कामो भवेत्यर्थः। 'शुद्धोऽहं शुद्धकर्माहं शुद्धात्मा शुद्धसम्भवः।' एवमन्तरं विविच्यतामभ्यासं कुरु।

बुद्धिरिति। भोः तत्परमात्मनि बुद्धिरपि न चलति। कुतः ? बुद्धेः परः=परतस्तु सः। योगयज्ञादिकैः बल-पराक्रमोऽपि यत्र न चलति। कुतः ? बलिनां बलीत्यर्थः। खोजि इति। यत्र मनो बुद्धिर्न गम्यते[3], तम् अन्यत्र मार्गितुं (मार्गयितुम्) इच्छसि। अतः स्वान्तरे दृश्यताम्। से सुनि इति। भो मनः, श्रृणु। स्वस्मिन् स्वयं तु धैर्यवान् भव। आत्मवान्भवेत्यर्थः।

मन इति। गुरुमुखात् स्वयं विचारं श्रुत्वा मुमुक्षोर्मनसो वृत्तिर्वर्द्धमानं(ना) पुनः धैर्यमागतः(ता) सन् (सती) क्षीणतां गतः—गता=गच्छति[4]। पश्चात् [स*] लज्जितो भवेत् फेरि इति। पुनः आदौ अशुभं कृतम्; अन्ते पश्चात्तापं करोति। तत्तापह्निया किं, नैव कालेति। आब्रह्माद्यखिलभूतगणाः सर्वे कालग्रसिता इत्यर्थः। कहेति। कबीरः=वैराग्यवान् इत्थं ब्रवीति, भोः सन्त= मुमुक्षो, श्रृणु। अहो पश्यत। जनि=ब्रह्मैवाहमस्मीत्यभ्यासे सावधानो भव। ढीग=आलस्यं न कर्त्तव्यमित्यर्थः॥२॥

श्रेष्ठ नर-तनु को पाकर 'सोऽहं' (मैं वही हूँ) यह भूल गए। सुत, कलत्र आदि में ममत्व (विश्वास) करना मृषा है। भोग-सुख तो (स्वयं) उसी प्रकार आकर्षित करते हैं जैसे काँटा मछली को। स्त्री-पुत्रादि में ममता छोड़ कर और स्वात्मनिश्चय करके 'तत्त्वमस्यादि' का तात्पर्य समझो और उसका भी मनन करो जो भागवत में उद्धव को श्रीकृष्ण ने कहा है। गुरु दत्तात्रेय आदि महात्माओं की उक्तियों में रममाण होओ।

वेदों के ज्ञान-दुर्ग (में प्रवेश करके और) उच्च पद के अनुसार मैं वही (परमात्मा से अभिन्न) हूँ यह निश्चय करो। अनेक योनियों में जन्म लेने के पश्चात् अब तो चेतो।

उस परमात्मा में बुद्धि का भी सञ्चार नहीं होता; वहाँ तक बुद्धि की पहुँच नहीं है। योग, यज्ञ, बल-पराक्रम आदि भी वहाँ तक नहीं पहुँच सकते। उसे तुम अन्य स्थलों पर खोजते हो ? धैर्यवान् बनकर उसकी खोज (अभिज्ञान) अपने हृदय में ही करो॥२॥

---

१. शुद्ध=महिषीपुरीषसमवासना—।

२. इस वाक्य का अर्थ स्पष्ट नहीं होता।

३. शुद्ध—'मनोबुद्धी न गच्छतः'।

४. इस वाक्य में अनेक अशुद्धियाँ हैं जिन्हें कोष्ठक में शुद्ध कर दिया गया है।

विरहुली

अथ विरहुली–

आदि अंत म(न)हिं होते बिरहुली । नहिं जर पल्लव पेढ़(ड़)[1]बिरहुली ॥
निस(सि) वासर नहिं होते बिरहुली । पवण(न) पाणि[2] नहिं मूल बिरहुली ॥
ब्रह्मादिक सनकादिक बिरहुली । कथिगेल जोग अपार बिरहुली[3]
मास असाढ़े सीतल बिरहुली । बोइनि सातों बीज बिरहुली ॥
निति को(गो)ड़े निति सींचे बिरहुली । निति नव[4] पल्लव पेड़ बिरहुली ॥

छिछिनी[5] बिरहुली छिछिनी[5] बिरहुली ।
छिछिनी[5] रहल तीनि लोक बिरहुली ॥

फूल एक भल फूलल बिरहुली । फूलि रहल संसार बिरहुली ॥
सो फूल बंदहिं भक्त[6]जना बिरहुली । बंदि के राउर जाहि बिरहुली ॥
सो फूल लोंड़हि सन्त जना बिरहुली । डसिगेल वयेतर[7] साँप बिरहुली ॥
विषहर मन्त्र न माने बिरहुली । गारुड़ बोले अपार बिरहुली ॥
विष की क्यारी तुम[8] बोयेहु बिरहुली । लोटत का पछतातहु बिरहुली ॥
जन्म जन्म जम अन्तर बिरहुली । फल एक कनैल[9] डार बिरहुली ॥
कहहिं कबीर सच पाख[10] बिरहुली । जो फल चाखहु मोर बिरहुली ॥

श्रीसद्‌गुरुं वन्दे । अथ बिरहुलीव्याख्यामाह । आदि इति । विरहरूपा बुद्धिः, सा बिरहुली । सा केवले परमात्मनि आद्यन्तमध्येऽपि नास्ति । तर्हि विरहधीः कुतः ? का(क्वा)पि नेत्यर्थः । न हि इति । जर = मूलप्रकृतिः, पेड़ = महत्तत्त्वपल्लवः, विषयाः - एते आत्मनि नास्ती-तीत्यर्थः[11] । निस इति । तत्र परमात्मनि रात्र्यहनी नैव । कुतः ? देशकालवस्तुरहितः । पवनेति ।

---

१. डार (१-२) ।
२. पानि (१-२) ।
३. सनकादि, कथि गये, योग (१-२) ।
४. नौ (१) ।
५. छिछिली(लि) (१-२) ।
६. सन्त (१) ।
७. डँसिगौ बैतल (१-२) ।
८. यह शब्द नहीं है (१) ।
९. यम, कनयर (१-२) ।
१०. पाव (१-२) । पोथी में यह शब्द 'पारव' लिखा है । दूसरे और तीसरे अक्षर स्पष्टतः अलग अलग हैं ।
११. अशुद्ध । प०—न सन्तीत्यर्थः ।

यस्मिन् सुखे न पवनः, नापः, नाग्निः, न भासते[1]।

ब्रह्मेति । ब्रह्मादिभिः, सनन्दनाद्यैः, कथिगेल=ब्रह्मैवाहमिति योगः, तस्य मार्गः, अपार - अगाधः; सत्यं ज्ञानमनन्तोऽहमहमात्मा[2] इति साक्षात्कारो वर्णितः। मासेति। मासः= मनः। स्वस्य स्वं मीमांसते। असाढे=सूक्ष्मशरीरे, शीतली=सकामबुद्धौ विषयरूपधारा वर्षति, वृष्टिकाले मेघो यथा। बोइनि इति। तया सकामवासनया सप्तबीजानि वापितानि। तत् किं तदाह । चर्ममांसरुधिरम(मे)दोमज्जावसेतिसप्तधातुरचितं शरीरं भवति । यद्वा, सप्ताग्नेस्सर्गानि भवति[3]।

बिरहुली=दुःखस्वरूपम्। निति इति। अज्ञस्य धीः=बुद्धिः विरहिणी। नित=प्रतिदिनं विषयान् (विषय)क्रोडे आसक्ता भवति। विषयासक्तो भवति। नित्यं मुहुर्मुहुः विषयधाराभिः सिञ्चति। अतः स्वरूपाद्विक्षिप्ता मतिर्भवति येषामित्यर्थः। निति इति। पेड़= आत्मा, तत्सकाशान्नवपल्लवानि=पञ्चविषयानि (विषयाः)। अज्ञस्य बुद्धिर्नवीनं विषयमिच्छतीत्यर्थः। छिछिनीति। आत्मस्वरूपाद्विरहिणी बुद्धिः पुरं जनी (?) छिछिनी=चंचला; 'क्षणे रुष्टा क्षणे क्रुष्टा रुष्टा क्रुष्टा क्षणे क्षणे'। भो बुद्धे, विषयसुखे किं रतो(ता)सि ? सर्वं विषयं छिन्नं=नाशमानं स्यात्। छिछिनी इति। भोः, त्रिदेहाः नाशमानाः स्युः, बहिर्लोकाः त्रयः नाशमानाः स्युः।

फूलेति। भो मुमुक्षो, वासना एका सम्यक् प्रफुल्लिता; विषयपुष्पैर्विकसिता इत्यर्थः। फूलि इति। अयं सर्वसंसारः संसृतिमार्गे, स्वस्वमार्गे सुतकलत्रादिषु प्रफुल्लतीत्यर्थः। सो फूलेति। भक्तजनाः परमहंसाः ज्ञानिनः यत्परमात्मनो(नः) पदं सोऽहमिति वदन्ति श्रेष्ठम्। येषां बुद्धिरित्यर्थः। बन्दि के इति। भो मुमुक्षो, तत्पदं[4] वन्दनां कुरु-सोऽहमस्मीति। राउर=तव स्वरूपं स्यात्, यस्मात् संसारतपनरूपा या बुद्धिः सा नाशिता इत्यर्थः।

सो फूलेति। सन्तजनाः आत्मारामाः अन्तःकर्ण(करण)-कुसुमलोडनाविचाराभ्यासेन ब्रह्मस्वरूपं जानन्ति, तिलमध्ये यथा तैलं, काष्ठमध्ये हुताशनः, देहमध्ये तथा ज्ञानं यो जानाति स पण्डितः इति। डसि इति। इतरजनानां विषयिनां(णां) पञ्चविषयफणो महान् सर्प्पो दंशति स्वात्मविचारमित्यर्थः (शेषः)। विषेति। विषयविषं हरतीति विषहरः=मद्गुरुरुपनिषच्च येषां मन्त्रतत्त्वमुपदिशति(तः), न मन्यतेऽज्ञः।

गारुड़ेति। गारुड़=श्रुतिस्मृति(ती), बहवः, गुरवः, आदि(इत्यादि)गुरवः सर्वेषां बोधयन्ति, तथापि न मन्यन्ते। अतः न मुक्ताः। शिष्यवित्तापहारकाः गुरवः बहवः सन्ति। सन्ताप-

---

१. =एते न भासन्ते। सम्भवतः यहाँ लिपिकार ने 'स' के ऊपर का अनुस्वार छोड़ दिया हो, क्योंकि सारी पोथी में परसवर्ण का प्रयोग कहीं नहीं है, जो सम्पादन में भी नहीं किया गया है लिपिकार द्वारा अनुस्वार की ओर दुर्लक्ष्य करने के अनेक स्थल पाए जाते हैं।

२. तैत्तिरीयोपनिषद् २,११।

३. प०—सप्ताग्निषु (भिः ?) सर्गाः भवन्ति।

४. =तत्पदस्य, अथवा तस्य पदस्य।

हारकः गुरुर्दुर्लभः । स कश्चित् विरल इत्यर्थः ।

भोः कर्मिणः,[1] त्वया विषवत् क्रियाकर्म रचितं=वापितम् । लोड़तेति । विषकर्मणः फलं दुःखम् । अशुभस्याशुभफलं नानादुःखम् । त्रिधातापं भुनक्षि, सहसे । अतः पश्चात्तापेन किं भवति ? न किंचित् । जन्मेति । अतः वासनावशात्पुनः पुनः जन्ममरणे भवतः इत्यर्थः । फलेति । करवीरवृक्षवद्देहः । तस्य पाणिपादादि(दयः) शाखाः । ताभिः शाख(खा)भिः दानादानगमनागमनं शुभाशुभं करोति तद्विषयफलं दुःखसुखे स्तः—अहं दुःखी, अहं सुखी । अतः बन्धनान्न मुच्यते, यथा करवीरवृक्षमूलं यः कश्चित् खादति, शीघ्रं म्रियते सः । कहेति । श्रीसद्गुरुः स्वामी इत्थं ब्रवीति भो बुद्धे, 'सत्यं ज्ञानमनन्तोऽहम्'[2] इत्यभ्यासेन दृढेन स्वपरमानन्दं प्राप्स्यसि इत्यर्थः । जो फलेति । सोऽहं विज्ञानानन्दानुभवमोक्षफलम् इति । मम स्वरूपं परमानन्दरूपं । रसं पिब हे सद्बुद्धे, ज्ञानानन्दो मोक्षफलाधिकारी भवति, न त्वितरे इत्यभिप्रायः सत्यः ।

हरिः ॐ तत्सदिती(ति) श्रीमत्सद्गुरुपूज्यकबीरचर्णा(रणा)ब्जभृङ्गायमानबोधानन्देन विरचितायां विज्ञानबीजप्रदीपिकायां बिरहुलीव्याख्यां स(सं)पूर्णा समातिप(प्ति)मगमत् । श्रीसद्गुरुचर्णा(चरणा,र्पणमस्तु । स(सं)वत् १९३४ जे(ज्ये)ष्ठशुक्ल १२ द्वादश्यां शुक्रौ विष्णवेन दाक्षिणात्यचित्पावनब्राह्मणेन इमं(दं) पुस्तकं लिखितं(तम्) । श्रीगुरवे परमात्मने नमो नमः । श्री राम [।।*]

विरह रूप बुद्धि विरहुली कही जाती है । वह केवल परमात्मा में नहीं है—आदि, मध्य या अन्त में भी नहीं । परमात्मा में न तो मूल प्रकृति(जड़)है, न महत्तत्त्व के पल्लव हैं और न विषय ही हैं । उसमें रात और दिन भी नहीं होते । वह देश, काल और वस्तु से रहित है । उसमें पवन, जल और अग्नि भी नहीं है ।

सनन्दन आदि ने कहा है कि 'मैं ब्रह्म ही हूँ' यह जानने का मार्ग अगाध है (आसान नहीं), किन्तु उन्होंने ब्रह्म-साक्षात्कार का वर्णन भी किया है । स्वयं मन ने इस बात का गहन विचार किया है । सूक्ष्म शरीर में सकाम बुद्धि होने पर विषय-की धारा बरसती है, जैसे वर्षाकाल में मेघ बरसते हैं । उस सकाम वासना में सात बीज बोये जाते हैं । वे हैं—चर्म, मांस, रुधिर, मेद, मज्जा, अस्थि और वसा । इन सप्तधातुओं से शरीर की रचना होती है । अथवा सप्ताग्नि (?) से सृष्टि (की) उत्पत्ति होती है । [यह सब वासना से पुनर्जन्म का विवरण है] ।

अज्ञ जन की बुद्धि विरहिणी (के समान) है । ऐसा व्यक्ति प्रतिदिन विषयों में मग्न रहता है । विषय-धारा स्वयं उसे आकर्षित करती है और इस कारण उसकी बुद्धि विक्षिप्त हो जाती है । पाँचों इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों) के पाँच विषय हैं और अज्ञ जन की बुद्धि नए नए विषय की अभिलाषा करती है । आत्म स्वरूप से

---

१. यहाँ 'कार्मिक' का प्रयोग सम्भव है ।

२. ऊपर संख्या १३ देखिए ।

विरहिणी बुद्धि चंचल होती (ही) है। किन्तु तू विषयों में मग्न क्यों होता है? वे सभी नाशवान हैं।

हे मुमुक्षो, वासना प्रफुल्लित होते ही विषय रूपी पुष्पों से विकसित होती है। (इस) संसार में भी व्यक्ति सुत, कलत्र आदि से प्रफुल्लित (प्रसन्न) होता है। प्रत्युत, भक्तजन परमहंस, ज्ञानी के 'सोऽहं' पद को श्रेष्ठ बतलाते हैं। हे मुमुक्षो, उस पद की वन्दना करो; तब तेरा भी वही स्वरूप होगा जिससे संसार का ताप नष्ट हो जायगा।

आत्माराम सन्त-जन अन्तःकरण के आलोड़न और सद्विचार तथा अभ्यास के द्वारा (स्वयं के भीतर विद्यमान) ब्रह्म-स्वरूप को जान लेते हैं। तिल में तेल और लकड़ी में आग रहती ही है। देह में रहने वाले ज्ञान के अस्तित्व का भान जिसे हो जाता है वही पण्डित है। विषयी जन को पाँच विषय रूपी फण वाला बड़ा साँप डसता है। विषय-विष को दूर करने वाला (विषहर) सद्‌गुरु और उपनिषद् (ही) है, जो मन्त्रोपदेश देता है। किन्तु मूर्ख उसे नहीं मानता। इसी कारण वह मुक्त नहीं होता। शिष्य का सन्ताप हरण करने वाला गुरु दुर्लभ ही है।

हे कर्ममार्गी, तूने विष की भाँति कर्म का बीज बोया है; इसका फल दुःख ही है। अशुभ का अशुभ और दुःखदायी होता है। अतः त्रिताप सहन करना पड़ता है। अब पश्चात्ताप करने पर भी वासना के कारण पुनर्जन्म निश्चित है। देह कनैर के वृक्ष के समान है और हाथ-पाँव उसकी शाखाएँ हैं। उनसे शुभाशुभ दानादान या गमनागमन जैसा करोगे, वैसा ही फल मिलेगा। कनैर की जड़ खाने वाले की मृत्यु होती ही है।

श्रीसद्‌गुरु स्वामी ने कहा है—हे बुद्धि, 'सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म इस अभ्यास को दृढ़ करो; इससे परमानन्द की प्राप्ति होगी। इसका फल विज्ञानानन्द का अनुभव, अर्थात् मोक्ष है। यह जानो कि तुम्हारा स्वरूप परमानन्द है। हे सद्‌बुद्धे, ज्ञानानन्द को प्राप्त करने वाले हो मोक्ष के अधिकारी होते हैं; अन्य नहीं।

(इसके अन्त में व्याख्याकार और लिपिकार के नाम, तिथि-सहित; परमात्मा को नमस्कार, आदि)।

—०—

॥ श्री ॥

अन्यासु लघुकृतिषु समाविष्टानां सूक्तीनां संस्कृतरूपान्तरम्

१. वसन्तः

ब्रह्मध्यानपरोऽभीक्ष्णं निर्विकल्पो निरामयः ।
वसन्तामोदसन्तुष्टो भवत्येवेति वर्ण्यते ॥१॥

(१)

जगद्ब्रह्मैवेति तथ्यं यो जानाति विचक्षणः ।
स हि द्वादशमासीनं वसन्त इस मोदते ॥१॥

अङ्गारवर्षे चण्डे वा वाति वा प्रलयानिले ।
ज्ञेयोऽसौ विरलैरेव भुङ्क्ते वासन्तिकं सुखम् ॥२॥

उत्पद्यतेऽखण्डवृत्तिः क्षीयतेऽस्य च विभ्रमः ।
प्रतिरोमाखण्डधारमानन्दश्चास्य वर्षति ॥३॥

चतुरशीतिलक्षाणि जीवानां बीजमेव तत् ।
न यद् द्रावयितुं शक्यं नापि शुष्येच्च वायुना ॥४॥

तस्मिन्नेवानन्दसुखे मग्नौ शिवपितामहौ ।
भ्रमद्भ्रमरवच्चेतो नियम्य सनकादयः ॥५॥

ब्रह्मानन्दविहीनस्तु वासनाग्रस्तमानसः ।
अभिमानविमूढान्तो भ्रमेद् भुवनदत्तधीः ॥६॥

अमृतफलं निःश्रेयः सद्गुरुकृपयैव लभ्यते नूनम् ।
यद्रसपाने मत्तः, साधो, जगतो विमुच्यते जीवः ॥७॥

(२)

पूर्णानन्दमयं ब्रह्म नित्यं चाव्ययमेव च ।
भिन्नोऽस्ति तज्जडाद्देहाच्चित्ताच्च मनसस्तथा ॥८॥

प्राणेभ्योऽप्यस्ति भिन्नं तत्सर्वदैकरसं शिवम् ।
कल्याणरूपं चिन्मात्रं, लोकोऽयं जनितस्ततः ॥९॥

स्पन्दयन्प्राणिजातं तत् स्वात्मानुभवदर्शनम् ।
अनादिकारणं सृष्टेस्तस्या लयकरं तथा ॥१०॥

तत्संयमितचित्तानामेकत्वमनुपश्यताम् ।
न जन्ममरणं दुःखं न च व्याधिः शरीरजा ॥११॥

अवगम्याद्वैतं सम्यग् तद्वच्चिदात्मकं रूपम् ।
जीवः स्वस्थो भवतीत्येतच्छास्त्रैः पुरा समाख्यातम् ॥१२॥

(३)

मद्वाणीं य उपेक्षेत श्रुतिस्मृत्यनुसारिणीम् ।
शास्त्रज्ञो वेषधारी वा विषयासक्त एव सः ॥१३॥

उपदेशं पथ्यमिदमज्ञानाद् योऽवमन्यते ।
भवलुब्धं तमुद्धर्त्तुं न कोऽपि हि भवेत्क्षमः ॥१४॥

स्वच्छाकाशसमो रामो वस्तुतो हृदि संस्थितः ।
लोकप्रपञ्चमग्नस्तद्दर्शनं कर्तुमक्षमः ॥१५॥

जगत्स्पन्दनहेतुः स भिन्नोऽस्ति वपुषो जडात् ।
मृषार्थकं तयोरैक्यं प्रकाशतमसोर्यथा ॥१६॥

विद्यावन्तोऽज्ञा वा ये मन्यन्ते शरीरमात्मानम् ।
विषयाविलमनसस्ते भ्रमन्ति गवया इवाटवीप्रान्ते ॥१७॥

(४)

अज्ञातकालाल्लोकेऽस्मिन्नविद्या विलसत्यलम् ।
व्यतीतेष्वपि कल्पेषु तरुणीवाचरत्यसौ ॥१८॥

जितेन्द्रियानपि च सा करोति विषयोन्मुखान् ।
उद्दीप्य तेषां भोगेच्छां तथा देहाभिमानिताम् ॥१९॥

जगतीजालमालासु प्रलोभ्य विविधास्वपि ।
अहम्भावोपदेशेन पातयत्यन्धचेतसः ॥२०॥

नानाविधोल्लासवतीमविद्यां दोषमूर्च्छिताम् ।
स्वविवेकप्रयत्नैस्त्वं त्यक्त्वा भव निरामयः ॥२१॥

नानाविकल्पपूर्णामुत्सार्यैनां त्रिलोककटुवल्लीम् ।
स्वात्मारामो भूत्वा परमां भूमिं लभस्व निजयत्नैः ॥२२॥

(५)

आद्यस्वरूपं मायाया अव्याकृतमिति स्मृतम् ।
न च केनापि सम्बद्धा सा शुद्धेत्यभिधीयते ॥२३॥

सा शुद्धसत्त्वसम्बद्धा शक्तिपर्यायवाचिनी ।
जगत्यर्णवरूपे च योगनिद्रेति गीयते ॥२४॥

विविधैर्नामधेयैस्तु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
सर्वदेवानुमत्या सा हरयेऽभूत्समर्पिता ॥२५॥

समष्टिव्यष्टिरूपेण व्याख्याता सा महर्षिभिः ।
अविद्या च तथा माया सदसद्विवृतेः परा ॥२६॥

तुर्यावस्थां प्रविष्टस्य हरेः सा ब्रह्मरूपिणी ।
त्रिजगन्मोहिनी माया श्रेष्ठरूपा भवेत्पुनः ॥२७॥

एवं सैव हि माया विविधं कृत्वा प्रपञ्चविस्तारम् ।
उत्पादनपोषणलयहेतुर्जगतो निरूप्यते शास्त्रैः ॥२८॥

(६)

अस्याः पिशाच्या विलयं विधातुं यः समुत्सुकः ।
ब्रह्मैवाहमिति ध्यानं कार्यं तेन हि सन्ततम् ॥२९॥

त्रैगुण्यविषयाऽविद्या वासनैव तु बन्धनम् ।
तस्याः त्रिषष्टिसूत्राभैर्दिवसैः क्षीयते वयः ॥३०॥

देहाभिमानी जीवश्च जरायां क्लिश्यते भृशम् ।
सङ्कल्पैश्च विकल्पैश्च मनस्तस्य च मुह्यति ॥३१॥

द्विसप्ततिसहस्राणां नाडीनां बन्धनैर्वृतः ।
तथापि तन्तुवायीव सुखासीनः स दृश्यते ॥३२॥

पञ्चभूतमयो देहः कर्मोद्युक्तः सदैव हि ।
कर्मबुद्धीन्द्रियाण्यस्य विषयेभ्यश्च धावति ॥३३॥

एवंविधे शरीरे विहाय दर्पं कुवासनामूलम् ।
सम्यङ्नियुक्तचेता हरिचरणेषु प्रवर्तते ज्ञानी ॥३४॥

(७)

आनन्दमय ईशोऽसौ हृद्येव ननु संस्थितः ।
न तु स्वर्गे न वैकुण्ठे यथा कश्चिद्धि मन्यते ॥३५॥

आविश्यासौ स्थूलदेहे भोगाँस्तेनैव भुञ्जते ।
तेनैव सकलं कर्म करोति च शुभाशुभम् ॥३६॥

दैवादुच्चकुले जन्म यदि तेन च लभ्यते ।
स्वर्गसौख्याभिलाषश्च तं कुर्याद्यज्ञभावितम् ॥३७॥

एवं सकामकर्माणि कुर्वंस्स हि निरन्तरम् ।
वासनावलितो भूत्वा जगत्यावर्त्तते पुनः ॥३८॥

आप्त्वा मानुषवपुषं हरिरूपं स्वं यदा स जानीयात् ।
ब्रह्माद्वय-प्रमोदौषधिना तदा गतज्वरो भवति ॥३९॥

(८)

देहे प्रविष्टं जीवांशं परितः सुप्तवासना
आवृणोति, ततः सोऽपि यतते निजमुक्तये ॥४०॥

अस्मिन्प्रवर्त्तिते द्वन्द्वे परस्परजिगीषया ।
वासना जयमाप्नोति भूरिविभ्रमकारिणी ॥४१॥

मोहयन्ती जगज्जीवानक्षाणां सेनयाऽऽवृता ।
देहाभिमानगर्त्ते च ततो जीवं क्षिपत्यसौ ॥४२॥

हताशोऽसौ ततो भूत्वा मतवादे च मोहितः ।
हृदिस्थं परमात्मानं दूरस्थं मन्यते ध्रुवम् ॥४३॥

अभेदमेवं विस्मृत्य जीवात्मपरमात्मनोः ।
सुसमाहितचित्तानामुपहास्यो भवत्यसौ ॥४४॥

एवं विचार्य सम्यग्स्वात्मारामाः भवन्ति धीमन्तः ।
अन्तर्ध्याननिमग्नाः परमां सिद्धिं ततो लभन्ते ते ॥४५॥

(९)

दुर्लभो मानुषो देहो तडिदुन्मेषवच्चलः ।
रामनामजपेनातः कुरु लक्ष्यस्य वेधनम् ॥४६॥

नृपतिः शास्त्रकारो वा मनीष्यथ मुनिस्तथा ।
नश्यन्ति देहाः सर्वेषां नियमः प्रकृतेरयम् ॥४७॥

यथा दानी बलिस्तद्वत्कंसदुर्योधनौ पृथुः ।
हनुमान्कश्यपो बाली जनकश्चाथ तत्त्वविद् ॥४८॥

गोपीचन्द्रप्रभृतयो ये चासन् पृथिवीतले ।
केचित्कुकर्मणान्ये च सत्कार्येणात्र विश्रुताः ॥४९॥

एषु कस्यापि देहस्य न किञ्चिदवशिष्यते ।
तस्मात्त्वं योगयुक्तात्मा कुर्वात्मारामचिन्तनम् ॥५०॥

कथावशेषाः सर्वेप्येतेऽधुना तु सन्ति विज्ञाताः ।
एवं नश्वरमेतद्वपुषं ज्ञात्वा भजस्व साधो हृदि स्थितं रामम् ॥५१॥

(१०)

स्वे स्वे कार्ये जगत्यत्र व्यस्ताः सर्वेऽपि मानवाः ।
तैरर्जितं त्वनुभवं नित्यं हरति वासना ॥५२॥

योगिनः पण्डिताश्चापि राजानो मुनयस्तथा ।
मीमांसका न्यायविदः सर्वे कार्यपरायणाः ॥५३॥

अन्ये नरास्त्वविद्याया व्यापारेणाकुलीकृताः ।
रागद्वेषमदाध्माता दृश्यन्तेऽत्र महीतले ॥५४॥

धन्यस्तु हनुमान् शूरः शुक्राक्रूरोद्धवास्तथा ।
यैर्भक्तिप्रेरितस्वान्तैरीश्वरः समुपास्यते ॥५५॥

हरिरेवेदमखिलमस्त्यहं च तथा हरिः ।
इति भावयतः स्वान्तेऽनुरक्तिः स्फुटति स्वयम् ॥५६॥

यथादौ च शिवः साक्षान्नामदेवस्तथा कलौ ।
जयदेवस्तथाऽभूवन् रामप्रहितमानसाः ॥५७॥

चित्तैकाग्र्यविभीषणयोगं कृत्वा शरीरसञ्जातम् ।
रावणरूपं दर्पं मारय रामप्रपत्तिमार्गेण ॥५८॥

(११)

तस्माच्छृणुत मे वाक्यं भो भोः शास्त्रविशारदाः ।
पश्यथात्मानमन्तःस्थं योगग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥५९॥

'समं कायशिरोग्रीवम्' इति गीतोक्तबोधनम् ।
अनुसृत्य ध्यानशीलो योगी सिद्धिमवाप्नुयात् ॥६०॥

अभ्यासेनाष्टपद्मानि साधिष्ठानानि साधकः ।
नीत्वोर्ध्वमुखतां ब्रह्मैवाहमित्यभिचिन्तयेत् ॥६१॥

तदा छिद्रेषु नवसु रकारध्वनिरुद्भवेत् ।
आत्मानन्दपरामर्शादक्षवर्गोऽपि शाम्यति ॥६२॥

तदा नाभिसमुद्भूते घोषे चित्तं नियोजयेत् ।
द्विसप्ततिसहस्राणां नाडीनां प्रभवो हि सः ॥६३॥

मायारचिते लोके मा भव मुग्धो विचारशील, त्वम् ।
सगुणोपासकभक्तः परतो वैकुण्ठवाससन्तुष्टः ॥६४॥

ज्ञानी स्वानुभवेनैवं रागद्वेषविवर्जितः ।
अहम्भावोपशमनान्निर्मले हृदि खेलति ॥६५॥

मायाऽविद्याविमुक्तोऽसौ देहेऽपि विगतस्पृहः ।
समदर्शी वीतशोको निगृहीतमनास्तथा ॥६६॥

सदा विवेकसम्पन्नश्चिदात्मानं च भावयन् ।
आत्मध्यानेन लभते परमात्मनि निर्वृतिम् ॥६७॥

अज्ञानी तु जगज्जाले भ्रमत्येव मुहुर्मुहुः ।
अविद्याग्रसितश्चासौ मज्जत्येव भवार्णवे ॥६८॥

ये तीर्थव्रतदानकर्मनिरताः स्वात्मावबोधं विना
तेषामाशयशुद्धिरेव न पुनर्निर्वाणलाभो भवेत् ।
योग्यायोग्यविचारपूर्वकमिदं लाभप्रदं जायते
दृष्टान्तोऽत्र हि पाण्डवक्षितिभुजां तीर्थाटनं निर्मलम् ॥

॥ इति वसन्तः ॥

२. चर्चरी-१

(१)

सन्दिश्येन्द्रियशास्तारं विषयप्रवणं मनः।
त्रिजगन्मोहिनीमायावृत्तमत्र निरूप्यते ॥

(१)

माययाधिष्ठितं सर्वं भुवनं सचराचरम्।
अस्याः प्रपञ्चसौन्दर्येऽज्ञजनः परिमुह्यति ॥१॥

असत्येवेति वेत्तात्र धीरस्तु न विचाल्यते।
न कोऽपि प्रभवेद्वक्तुमस्या रूपमथाद्भुतम् ॥२॥

ललनास्तत्प्रातिनिध्यं कुर्वन्ति मृगलोचनाः।
विविधाभिनयैर्मन्दान् मोहयन्त्यः स्वकांक्षितान् ॥३॥

(२)

जितेन्द्रियः शास्त्रवेत्ता जातु ब्रह्मरतोऽपि च।
अस्याः कुञ्जरगामिन्यः प्रसरान्न बहिःसृतः ॥४॥

मर्कटास्यं चकारैषा नारदं ब्रह्मवित्तमम्।
सान्यांश्च वशमानीय स्मितेन परिवृष्यति ॥५॥

शङ्करो मोहिनीरूपे तथा च सनकादयः।
आत्मभूश्च स्वदुहितुः सौन्दर्ये वञ्चितास्तया ॥६॥

(३)

आकृष्य व्यपदेशैः स्वैश्चेतांसि ज्ञानिनामपि।
अधिक्षिपति तान्येव माया स्वबलगर्विता ॥७॥

आकारोऽस्यास्ति निःसीमो यथा शास्त्रेषु वर्ण्यते।
तेष्वेवापि तु शास्त्रेषु वितर्काः सन्त्यनेकशः ॥८॥

आत्मतुष्टस्तत्त्वदर्शी मायया न विचाल्यते।
मूढस्त्वस्या वागुरायां विशत्येव च सत्वरम् ॥९॥

(४)

जीवन्मुक्तस्तु मायायाश्छद्मभिर्न हि मुह्यति।
अस्या विविधरूपस्याभिज्ञोऽसौ वर्तते यतः ॥१०॥

सुरा नराश्च मुनयो गोरक्षः सनकादिकाः।
योगयुक्ताः साधवोऽस्याः क्रीडां जानन्ति तत्त्वतः ॥११॥

अवगम्यैतदखिलं रतो यस्तु कुटुम्बिषु।
पोषयन् पुत्रदारादीन् विकलः स हि मूढधीः ॥१२॥

(५)

जनानाक्रम्य मायैवं कटाक्षैस्तान् निरीक्षते।
शास्त्रवादरतैस्त्वस्यास्त्रिगुणत्वमुदाहृतम् ॥१३॥

देवेष्वपि प्रभावोऽस्याः किमुत प्राकृते जने।
विशिष्टाद्वैतवादे तु मायाभासो बहिष्कृतः ॥१४॥

न तत्र माया नाविद्या, यतः सा वितथैव हि।
भ्रमात्तथापि मायाया अस्तित्वं ख्यापयन्ति ये ॥१५॥

त एवास्याः प्रपञ्चेषु पतन्त्यज्ञानिनो जनाः।
तैरेव भावरूपासौ स्वमते परिगीयते ॥१६॥

(६)

ज्ञानावरणमज्ञानं येषां चेतसि वर्तते।
त एव सुतदारादीन् पुष्णन्ति स्नेहभाविताः ॥१७॥

येऽथाज्ञाने न मज्जन्ति ये च लोभविवर्जिताः।
आत्मन्येकाग्रचित्तास्ते मुच्यन्ते भवबन्धनात् ॥१८॥

पुनश्च—

एकाग्रचित्तश्च यदात्मनिष्ठो,
जीवस्तदा ब्रह्मविदुच्यतेऽसौ।
निरुध्य चेतोऽचलदीपतुल्यो,
भवेदसौ ब्रह्मविदां वरीयान् ॥१९॥

निस्तैलदीपेन समो मुमुक्षु—
र्ध्यानादिचिन्तारहितो यदास्ते।
समाधिलीनः स तदाऽविकल्पो
नूनं भवेद् ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥२०॥

चर्चरी-२

(१)

हित्वाज्ञतामतः प्राज्ञः शोकसन्तापकारिणीम्।
वासनां भस्मसात्कृत्वा स्वरूपं वेत्तुमर्हति ॥२१॥

विना कुड्यं यथा चित्रं निर्मातुं न हि शक्यते।
इष्टिकाणां च निर्माणे मृत्तिकावश्यकी यथा ॥२२॥

अवगच्छ तथात्मानं जगतो मूलकारणम्।
दृष्ट्वात्मन्यात्मनात्मानं त्यक्त्वा च निजचापलम् ॥२३॥

निजं विविच्य चिद्रूपं तदेकप्रणतो भव।
द्वैताभावे तदाऽद्वैतं चिद्रूपमवशिष्यते ॥२४॥

(२)

चित्रवच्च जगत्सर्वमीश्वरेणैव निर्मितम्।
न विश्वसन्ति तथ्येऽस्मिन् नूनमज्ञानगर्विताः ॥२५॥

ज्ञात्वैतत्स्वविवेकेन, स्वदेहे वैभवे तथा।
वृथा-गर्वं त्वमुत्सृज्य प्रज्ञामान्द्यं विनाशय ॥२६॥

तथैवाज्ञानसम्भूतं कलत्रसुतबन्धुषु।
मोहबन्धं परित्यज्य चिन्मयं भव भो मनः ॥२७॥

(३)

व्याधप्रपञ्चरचिते खाते कामेन मोहितः।
कृत्रिमाकरिणीगात्रे भ्रमात्पतति कुञ्जरः ॥२८॥

ततः परवशो भूत्वा सहतेऽङ्कुशयातनाम्।
यथा वा खाद्यलोभार्तं कपिं वानरपालकः ॥२९॥

वशमानीय सर्वत्र नर्तयत्याधिपीडितम्।
एवं कामश्च लोभश्च भवतोऽन्ते दुरन्तकौ ॥३०॥

एतत् ज्ञात्वा, मन्दबुद्धे, भो मनः स्वविचारतः।
प्रसारितभुजाभ्यां त्वं प्रत्युद्गच्छ तमीश्वरम् ॥३१॥

(४)

द्वारे द्वारे नृत्यकारी यथा परवशः कपिः।
स्वस्य मोक्षस्य विषये नैव जानाति किञ्चन ॥३२॥

तद्वदेव हि पश्यामि मूढस्य मनसः स्थितिम्।
वर्णाश्रमाभिमानेन केचिद् दृप्ताः कुबुद्धयः ॥३३॥

अन्ये तु वासनाविद्धास्तथान्ये विषयाविलाः।
उत्पत्स्यन्ते सर्व इमे पशुपक्ष्यादियोनिषु ॥३४॥

अज्ञानेतरनाम्न्यत्र वासनैव हि कारणम्।
विवेकेन विचार्यैतदात्मनि स्थातुमर्हसि ॥३५॥

(५)

स्वच्छन्दं सञ्चरन् भृङ्गो यथाब्जे विनिबध्यते।
देहे तथैव जीवोऽपि बध्यतेऽज्ञानभावतः ॥३६॥

स एवाविद्ययानेकजन्मतावशतां गतः।
पुनः पुनश्च सहते योनियन्त्रप्रपीडनम् ॥३७॥

अधीतवेदवेदाङ्गैर्व्याख्याने चतुरैरपि ।
अन्तःशुद्धिं विना जातु संसिद्धिर्नैव लभ्यते ॥३८॥

एवं भ्रान्तान् बुद्धिहीनानात्मज्ञानविवर्जितान्।
वैवस्वतो ग्रसत्याशु मार्जारो मूषकं यथा ॥३९॥

(६)

स्वयमात्मज्ञानहीनाः सभाव्याख्यानकोविदाः।
प्रभवन्ति न सन्धातुं श्रोतॄणां ज्ञानसम्पदः ॥४०॥

तथैवात्मज्ञाननदीतीर्थं संसृतिमोचनम्।
अवगाह्यैव संसारसन्तापात् शान्तिराप्यते ॥४१॥

तद्वदेव च हृद्देशे व्याप्तः स परमेश्वरः।
पूजनीयः सदा भक्त्या सत्यदेवः स एव हि ॥४२॥

अविवेकेन किं तीर्थैः किञ्च पाषाणपूजनैः।
विवेकेन वयं तस्माच्चिदात्मानमुपास्महे ॥४३॥

(७)

भो भो मनस्त्वमधुनैव विधूय जाड्यं,
जानीहि लोकजलधिं भ्रमनक्रपूर्णम्।
तीर्त्वैनमाशु यदि वाञ्छसि निर्वृतिं त्वं,
रामस्य भक्तिरचला सुभगास्ति नौका ॥४४॥

मरीचिकेव भ्रमजालमेतद्,
बध्नाति जीवान् विषयप्रमुग्धान्।
संत्यज्य तस्माच्च विकल्पजालं,
मनः प्रसादो हि सुखस्य मूलम् ॥४५॥

॥ इति चर्चरी ॥

३. हिन्दोलनम्

प्राणिनां कान्दिशीकानां भ्रमतां लोकदोलने।
भक्तिमार्गोऽगदो नित्यस्थायीत्यत्र निगद्यते॥

(१)

रोदसीपृथुलाभोगे मायातिमिरसङ्कुले।
विष्वग्भ्रमः प्ररूढोऽस्ति दोलेत्यपरनामकः॥१॥

लोभगर्त्तकृताधारे मोहशृङ्गविशोभिते।
प्रसारिते पापपुण्यस्तम्भद्वितयमन्तरा॥२॥

तृष्णारज्जुनिबद्धेऽस्मिन् मायादोले सुविस्तृते।
कर्ममय्यां पट्टिकायामासीनानज्ञचेतसः॥३॥

शुभाशुभौ वेणुदण्डावादधानान् स्वमुष्टिना।
भ्रामयत्यखिलान् लोके चेतनान् परमेश्वरः॥४॥

काचिता अत्र गन्धर्वकिन्नराः सुरपन्नगाः।
नारदः शारदा चापि व्यासः शेषश्च सर्पराट्॥५॥

सुरज्येष्ठो महेशश्च रविचन्द्रमसौ तथा।
निर्गुणं ब्रह्म सगुणः कृष्णोऽपि प्रेङ्खति स्वयम्॥६॥

वेदशास्त्रपुराणेषु यदुक्तं मुनिसत्तमैः।
तत्तत्त्वान्वेषणोद्युक्ताः प्रेङ्खयन्त्येव सूरयः॥७॥

अस्यां त्रिलोक्यां नैकोऽपि स्थिरतामवलम्बते।
चित्स्वरूपानवज्ञानं तेषां च भ्रमकारणम्॥८॥

निर्वर्ण्य पीडामथ भारभूतां प्रेङ्खाभ्रमाद्वाञ्छसि चेत् स्वमुक्तिम्।
सत्सङ्गशास्त्राध्ययनाद्युपायैर्निरूपितं मार्गमनुव्रज त्वम्॥९॥

(२)

अस्मिन् मायामये दोले रागद्वेषैषणाकुलाः।
नरतिर्यक्चतुष्पादपतङ्गमशकादयः॥१०॥

सर्व एव भ्रमन्त्यज्ञा ज्ञानिनश्च यथेच्छया।
केचिद्भोगरसापूर्णा अन्ये दुःखघुणक्षताः॥११॥

पुत्रमित्रकलत्रेषु विसरन्ममतावृताः।
एतन्मृषेति विज्ञाय नैवास्थात्र तु धीमताम्॥१२॥

अस्माद्विषण्णचेता यदुपतिमुपसृत्य याचते दीनः।
हे गोपाल, द्राङ् मामुत्तारय भवप्रेङ्खणादस्मात् ॥१३॥

(३)

प्राणिभिश्चान्यदोलोऽत्र रचितोऽस्य भुवि स्वयम्।
लोभमोहस्तम्भयुग्ममन्तरा कर्मसङ्कुलः ॥१४॥

भ्रमन्तोऽविरतं तस्मिन् दोले संसारिणो जनाः।
नाप्नुवन्त्यपरं पारं न चापि स्थिरमाश्रयम् ॥१५॥

यथा षट्शास्त्रवेत्तारो विवदन्तः परस्परम्।
नृपाः प्रजाहितरताः कार्ये स्वे च मानवाः ॥१६॥

अपि सूर्याचन्द्रमसौ भूवारिव्योमवायवः।
एते सर्वेऽपि दृश्यन्ते तस्मिन्प्रेङ्खितचेतसः ॥१७॥

देहस्पन्देन भूभारहरणार्थं मुहुर्मुहुः।
धर्मसंस्थापनार्थं च क्रीडत्यत्र हरिः स्वयम् ॥१८॥

उदयति तरणिर्मरुच्च वाति,
ज्वलति कृशानुरथेन्द्रधर्मराजौ।
निजनियमरतौ यतश्च भीतौ,
स तु परिपश्यति साक्षिवच्च सर्वम् ॥१९॥

कल्पावधिर्व्यतीतोऽत्र भ्रमतां चैव दोलने।
यावत्कालमहाव्यालस्तान् गिरत्यात्मवञ्चकान् ॥२०॥

॥ इति हिन्दोलनम् ॥

४. वल्ली

जगन्मयो जगत्स्पन्दकारणं राम ईश्वरः।
हृद्येव विहितावासो ध्यातव्य इह बोध्यते ॥

१ (अ)

विवेकमिह जीवानां मुष्णात्यज्ञानतस्करः।
तस्माद् हृदि कृतावासं प्रभुं वेत्तुं न ते क्षमाः ॥१॥

शुद्धान्तःकरणे, साधो नित्यं रामो विराजते।
स एवैतज्जगत्स्वीयमहिम्ना व्याप्य तिष्ठति ॥२॥

तस्मादवेहि भुवनं स्वं च राममयं तथा ।
स एव रामः सर्वत्र स्पन्दतेऽत्र चराचरे ॥३॥

अविरलसंयमनिरता ये ये मुनयस्त एव जागरिताः ।
देहाभिमानलिप्ता ये च नरास्तानवेहि निद्राणान् ॥४॥

आत्मविचारः शक्यो नरतनुमात्रे न चान्यदेहेषु ।
वर्णाश्रमाभिमानं विधूय तस्माद्विचिन्तयात्मानम् ॥५॥

१ (ब)

जीर्णेऽस्मिन् दग्धसंसारे कुतोऽप्युपरिपातिनः ।
कृतान्तस्य भिया चित्तं मथितं तव चेत्, शृणु ॥६॥

चलत्पत्रसमे देहे प्रविहायात्मभावनाम् ।
विषयासङ्गमुन्मुच्य त्वमात्मप्रणतो भव ॥७॥

यथा हि दध्नो मथनात् घृतं शुद्धमवाप्यते ।
तथान्तःकरणोन्माथात् रामं त्वं द्रष्टुमर्हसि ॥८॥

विषयावेशितमनसः करणैः सह ते शरीरमपि जीर्णम् ।
जाने न हि कस्यां वा योनौ भविता पुनश्च ते जन्म ॥९॥

श्लथमोहोऽस्मिन् देहे त्वं रामं प्रति समर्पितः सुतराम् ।
सदसद्विवेकपूर्णस्यैतद् ध्यानं सुखाय ते भूयात् ॥१०॥

(२)

या या ज्ञानगिरः प्रोक्ताः श्रुतिस्मृतिसमुच्चये ।
तथा भागवते, ताभिर्गुरुणाऽसि प्रबोधितः ॥११॥

तास्ताः सर्वास्त्वमुज्झित्य दुर्मोहमिहिकावृतः ।
पुत्रमित्रकलत्रादिष्वनुरक्तोऽभवः कथम् ? ॥१२॥

साधो, भवार्णवे मत्स्यजीविभिर्लोभवेष्टितैः ।
बडिशेनेव विद्धस्त्वं मीनवत् परिकम्पसे ॥१३॥

एतद्गोमयभारं दूरं क्षिप्त्वा भव प्रबुद्धस्त्वम् ।
ध्यातव्यस्तव रामो दुस्तरभुवनोदधौ महापोतः ॥१४॥

बुद्ध्याप्यगम्यमेनं पूरितविश्वं प्रभुं चिदात्मानम् ।
जाग्रद्ज्ञानविवेकः परिपश्य त्वं हृदन्तरे रामम् ॥१५॥

॥ इति वल्ली ॥

५. विरहुली

विरहार्त्तस्य जीवस्य पुनः सन्धानकांक्षिणः।
आलम्बनमिहामुत्र भक्तिरित्यत्र वर्ण्यते॥

(१)

सत्यं तथा ज्ञानमयं पदं यद्वेदैश्च शास्त्रैश्च निरुक्तपूर्वम्।
गतिर्न तत्रास्ति पृथग्जनानां, सम्प्राप्यते तत्कठिनैः प्रयत्नैः॥१॥

न मूलमस्यास्ति न चावसानं, न चादिरन्तो न च मध्य एव।
अदर्शनीयाङ्कुरपल्लवोऽसौ वृक्षो जगद्व्यापितयाऽद्वितीयः॥२॥

कथितमेव पुरा परमेष्ठिना तदनु च प्रवरैः सनकादिभिः।
यदतिदुर्गममार्गनिषेवणात् पदमिदं परमं समवाप्यते॥३॥

(२)

सूक्ष्मे शरीरेऽथ सकामबुद्धेर्यस्मिन्निमेषे भवति प्रवेशः।
दुर्वासनायाश्च तदाङ्कुराणि स्फुटन्ति बीजस्य यथाभ्रकाले॥४॥

तैरङ्कुरैरेव च सप्तधातुमयं भवेच्चेतनवर्ष्मपिण्डम्।
ततः प्रलम्बे समये व्यतीते नैव स्मरेद्देहभृदात्मरूपम्॥५॥

सुतकलत्रधनादिषु वासनाततिरनन्तरमेव च वर्द्धते।
भवति जन्म ततो मरणं पुनर्भ्रमवशाद्विपदं सहते नरः॥६॥

(३)

नवैर्नवैरिन्द्रियभोग्यवर्गैस्ततः स आकृष्यत एव लोके।
अज्ञस्य बुद्धिर्विषयप्रणाल्या तं प्रक्षिपत्येव भवाब्धिपङ्के॥७॥

तृष्णालताया विषयप्रसूनेष्वापातरम्येषु तदा च लुब्धः।
विस्मृत्य रामं सुतमित्रदाराधनादिषु भ्राम्यति तस्य चित्तम्॥८॥

परम एव पदे संततं रता मतिविवेकयुताः परमार्थिनः।
प्रणम तच्चरणाब्जयुगे सखे, स हि नयत्यचलं परमास्पदम्॥९॥

(४)

तिलेषु तैलं, समिधौ यथाग्निर्ज्ञानं तथा गाहत एव देहम्।
समाधियोगाद् हृदयप्रसूने जितेन्द्रियाणामनुभूतिरेषा॥१०॥

करोति या स्वामनुभूतिमेनां द्रागेव सोऽपास्यति देहपाशम्।
दशत्यशिष्टं विषयप्रसक्तं महाविषः पञ्चफणस्तु भोगी॥११॥

न हि गुरुं न च शास्त्रवचोऽपि यः समनुतिष्ठति पापविसंष्ठुलः ।
दुरभिमानवशात् स तु मूढधीर्न हि कदापि भवात् परिमुच्यते ।।१२।।

(५)

यतस्त्वयोप्तं भुवि कर्मबीजं,
फलं तु कमव हि भाव्यमस्य ।
तस्मात्पुनर्जन्म पुनश्च कर्मा—
व्यावृत्तिमार्गे पतितो भवेथाः ।।१३।।

ततोऽनिवार्यस्त्रिविधोऽपि तापो,
दुर्वासनासक्तमना यतस्त्वम् ।
विषद्रुमः कर्म हि कर्णिकारो—
पमोऽथ हेतुर्भविताऽपमृत्योः ।।१४।।

तस्मादात्मरतः शुभेन मनसा कृत्वा प्रयत्नं दृढं,
सत्यं ज्ञानमनन्तमव्ययमजं बुद्ध्यस्व रूपं निजम् ।
तस्माद् ब्रह्ममयत्वमाप्नुहि फलं, साधो, सुधासम्मतं,
सम्प्राप्याभिमतं च किञ्चिदिह ते कार्यं धरित्रीतले ।।१५।।

।। इति विरहुली समाप्ता ।।

परिशिष्ट १

वृत्त-विचार

इस भाग में जितनी साखियों का समुद्धरण किया गया है उन सभी में केवल छः बिरले उदाहरणों को छोड़कर[1] दोहा छन्द का उपयोग किया गया है, यद्यपि छन्द-शास्त्र की दृष्टि से इन दोहों का रूप अनेक स्थलों पर विकृत और अव्यवस्थित हो गया है। तथापि उनमें दोहों की सामान्य विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं।

सन्त कबीर भक्ति-सम्प्रदाय के आदि-प्रवर्त्तक और हिन्दी-साहित्य के आदि-कवि माने जाते हैं, अतः उनके द्वारा प्रयुक्त किए इस छन्द के विषय में कतिपय विचार यहाँ प्रस्तुत किए जाते हैं।

कुछ विशेषज्ञ इस छन्द की उत्पत्ति संस्कृत के 'दोधक' वृत्त से मानते हैं, किन्तु 'दोधक' वर्णिक वृत्त है और 'दोहा' मात्रिक अर्धसम छन्द है। इन दोनों नामों के अक्षरों में भी पूर्ण साम्य का अभाव ही है। सम्भव है कि कुछ अक्षर कम करने पर और वर्णिक का मात्रिक करने पर दोधक का ही विकृत रूप दोहा बन गया हो, यद्यपि निश्चित रूप से इस सम्बन्ध में कुछ भी कहना असम्भव ही है। 'प्राकृत पैंगल' की टीका में इस छन्द को 'द्विपदी' बतलाया है।

इस छन्द का सर्वप्रथम प्रयोग अपभ्रंश भाषा की कविता में उपलब्ध होता है। हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरण में इसके अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। जैन और बौद्ध साहित्य में भी इस छन्द का प्रचुर उपयोग, विशेषकर श्रृङ्गार और रहस्य-वाद की कविता में किया जाता था, जिसका समय ईसा की पाँचवी-छठी सदी से प्रारम्भ हुआ। पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह के प्रबन्धों और प्रबन्धचिन्तामणि में भी इसके उदाहरण आए हैं।

यह मुक्तक छन्द है, और प्राकृत-साहित्य में जो स्थान 'गाथा' का है, उपयोग की दृष्टि से वही स्थान हिन्दी-साहित्य में 'दोहा' का है। संगीत में यह सङ्कीर्ण राग का एक भेद माना गया है। सम्भव है कि मध्यकाल के सन्त अपने मत के प्रचार के हेतु इसका उपयोग करते रहते थे।

कबीर ने अपनी दो साखियों में 'दोहरा' शब्द का उपयोग किया है (साखी-संख्या ५२ और ६४); किन्तु इन दोनों स्थलों पर इसका अर्थ 'स्वानन्द, परिपूर्ण या परमात्मा' है। वहां इस छन्द से कोई तात्पर्य नहीं है। गोरख-पन्थियों की कविता में इस छन्द का उपयोग हुआ है, और यह मत मान्य होना सम्भव है कि गोरख-पन्थियों से प्रभावित होकर कबीर ने भी इस छन्द को अपनाया और बाद के साहित्य में 'दोहा' शब्द साखी के ही अर्थ में प्रचलित हो गया।[2]

---

१. साखी-संख्या ७३, १२५, २२५, २३८-३९, २७५।

२. देखिए—हिन्दी-साहित्य-कोश, ज्ञानमण्डल, वाराणसी, पृ० ३४३।

परिशिष्ट २

सप्तपदा ज्ञानभूमि

सप्तपदा ज्ञानभूमि, जिसे 'योग-भूमिका' भी कहा जाता है, योग-शास्त्र की सुविख्यात प्रक्रिया है। इसी शास्त्र में प्रतिपादित यम-नियमासन आदि की अष्ट-भूमिका इससे निकृष्ट श्रेणी की है। कबीर-कृति के व्याख्याकार स्वामी बोधानन्द ने 'चर्चरी' की व्याख्या में सप्तपदा ज्ञानभूमि की चर्चा की है, जिसमें इसे मोक्ष का साधन मानकर बतलाया है कि यही अन्त में मोक्ष में परिणत हो जाती है। इस ज्ञानभूमि का विवरण हमारे अन्य शास्त्रों में भी पाया जाता है; इन सब में 'योगवासिष्ठ' में दिया हुआ विवरण विस्तृत है; अतः उसी के अनुसार इन भूमिकाओं के नाम और उनमें से प्रत्येक का संक्षिप्त लक्षण देना उचित प्रतीत होता है। वह इस प्रकार है—

भूमिका का नाम	संक्षिप्त विवरण
१. शुभेच्छा	···विवेक जागृति; संसार से उद्विग्न होकर भोग की अनपेक्षा; भोग में अनास्था; आत्म-साक्षात्कार की उत्कट इच्छा का प्रादुर्भाव।
२. विचारणा	···स्वार्थ-त्याग; शास्त्र और सज्जनों के सम्पर्क से सदाचार में प्रवृत्ति।
३. तनुमानसा (असंसर्ग)	···विषय-भोग में पूर्ण अनासक्ति (सविकल्पक समाधि); साधु-संग; शास्त्राभ्यास; सन्तोष; सत्कर्म।
४. सत्त्वापत्ति	···अज्ञान-क्षय; संसार में असंसर्ग; समभाव; इन्द्रिय-भोग में आत्यन्तिक विरक्ति; सर्वाधिष्ठान सत्यात्मा में स्थिति; द्वैत-भावना की निवृत्ति।
५. असंसक्ति	···अविद्या-नाश; उसके कार्यों में संसक्ति का अभाव; केवल अद्वैत में चित्त; अन्तर्मुखी प्रवृत्ति; वासना का पूर्णतः त्याग।
६. पदार्थों की अभावना	पदार्थों (वस्तुओं) की पूर्ण विस्मृति; पाँचवीं भूमिका का परिपाक; किसी अन्य व्यक्ति द्वारा संकेत होने पर ही आभ्यन्तर और बाह्य वस्तुओं की भावना का प्रादुर्भाव; पूर्णतया अन्तर्मुख भावना।
७. तुर्यगा (शिव या ब्रह्मस्वरूप)	···छठी भूमिका का पूर्ण परिपाक; पदार्थों के भेद-ज्ञान का सर्वथा अभाव; स्वभावैकनिष्ठत्व; जीवन्मुक्तावस्था; निर्विकल्प; विदेह-मुक्ति। मतान्तर के अनुसार विदेह-मुक्ति तुर्यावस्था के अनन्तर होती है। बोधानन्द ने अपनी व्याख्या में भूमिका ५ और ६ में क्रम-व्यत्यय बतलाया है (देखिए चर्चरी १-२ की व्याख्या)। इन्हीं भूमिकाओं के निरन्तर अभ्यास से साधक की मानसिक सत्त्वस्थ स्थिति सतत बढ़ती रहती है और वह क्रमशः 'ब्रह्मविद्',

'ब्रह्मविद्वरीयान्' और 'ब्रह्म विद्वरिष्ठ' की श्रेणी में पहुँच जाता है। चतुर्थ भूमिका में पहुंचने पर साधक 'ब्रह्मविद्' बनता है। इसी भूमिका के अन्त तथा पंचम भूमिका के प्रारम्भ में वह 'ब्रह्मविद्वरीयान्' हो जाता है, यद्यपि अन्य मत के अनुसार उसकी यह संज्ञा छठी भूमिका में प्रवेश के साथ बतलाई है। और, अन्त में सातवीं भूमिका में पहुंच जाने के बाद वह ब्रह्मविद्वरिष्ठ बन जाता है। इन संज्ञाओं का प्रयोग भी हमारे टीकाकार ने 'चर्चरी' की अपनी व्याख्या में किया है।[1]

□

१. विस्तृत विवरण के लिए देखिए—योगवासिष्ठ और उसकी व्याख्या (वासिष्ठ-महारामायण, तात्पर्यप्रकाश), भाग १, उत्पत्ति प्रकरण, सर्ग ३, अध्याय ११८, श्लोक १-१५; और वही, भाग २, प्रकरण ६, सर्ग १२२, श्लोक १-८, तथा सर्ग १२६। (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, सन् १९३७ ई० में प्रकाशित)।

परिशिष्ट ३

व्याख्या में आये हुए उद्धरणों की ग्रन्थ-सूची

(अकारानुक्रम से)

अमरकोश
अमृतोपनिषद्
कठोपनिषद्
कालाग्निरुद्रोपनिषद्
कैवल्योपनिषद्
चाणक्यनीति
छान्दोग्योपनिषद्
तेजोबिन्दूपनिषद्
तैत्तिरीयोपनिषद्
नारदपरिव्राजकोपनिषद्
निरालम्बोपनिषद्
बृहदारण्यकोपनिषद्
ब्रह्मबिन्दूपनिषद्
ब्रह्मविद्योपनिषद्
माण्डूक्योपनिषद्
भगवद्गीता
महाभारत
मुण्डकोपनिषद्
रामगीता (अध्यात्म रामायण, उत्तर काण्ड, पंचम अध्याय)
रामोत्तरतापिन्युपनिषद्
विष्णुपुराण
वेद (ऋक्, यजुः, साम)
शरीरतापिन्युपनिषद्
शाण्डिल्योपनिषद्
श्रीमद्भागवत

परिशिष्ट ४
अनुक्रमणिका (साखी)

—०—

श्लोक-सूची

आ

इ

उ

ए

औ

क

ख

प

ब

भ

म

य

र

ल

व